समालोचक

सौन्दर्य-शास्त्र

विशेषाङ्क

वर्ष १

अङ्क १

समालोचक

[हिन्दी का प्रतिनिधि आलोचनात्मक मासिक-पत्र]

सौन्दर्य-शास्त्र विशेषाङ्क

(AESTHETICS)

प्रधान सम्पादक

डा० रामविलास शर्मा

सम्पादक

श्री राजनाथ शर्मा ☆ श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
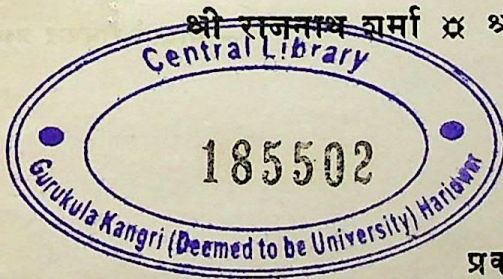
प्रकाशक

विनोद पुस्तक मन्दिर

हास्पिटल रोड, आगरा ।

सौन्दर्य

सौन्दर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है-- योरपीय कला-समीक्षा की यह बड़ी ऊँची उड़ान या बड़ी दूर की कौड़ी समझी गई है। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे वीरकर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं। कुछ रूप-रंग की वस्तुएं ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तस्सत्ता की यही तदाकार-परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है। इसके विपरीत कुछ रूप-रंग की वस्तुएं ऐसी होती हैं जिनकी प्रतीति या जिनकी भावना हमारे मन में कुछ देर टिकने ही नहीं पाती और एक मानसिक आपत्ति सी जान पड़ती है। जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार-परिणति जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायगी। इस विवेचन से स्पष्ट है कि भीतर बाहर का भेद व्यर्थ है। जो भीतर है वही बाहर है।

—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

'राम'

विषय-सूची

क्रम | पृष्ठ

—:✿✿:—

समालोचक

[हिन्दी का प्रतिनिधि आलोचनात्मक मासिक-पत्र]

प्रथम वर्ष | आगरा, फरवरी १९५८ | प्रथम अंक

सम्पादकीय

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद पिछलें दस वर्षों में हिन्दी आलोचना-साहित्य ने उल्लेखनीय प्रगति की है। दिल्ली से "आलोचना" नाम की पत्रिका का प्रकाशन साहित्य के इस अंग के विकास और उसकी लोकप्रियता का सूचक है। विश्व-विद्यालयों में अनुसन्धान-कार्य का अभूतपूर्व प्रसार हुआ है। साहित्य के अनेक युगों के बारे में नयी सामग्री प्रकाश में आयी है; अनेक साहित्य-कारों का नया मूल्याङ्कन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रगति की कुछ विशेषताएं सहज ही अपनी ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं।

हिन्दी के विद्वानों ने पहले की अपेक्षा भाषा-शास्त्र और भाषा-संबन्धी समस्याओं की ओर अधिक ध्यान दिया है। डॉ. उदयनारायण तिवारी की "भोजपुरी भाषा और साहित्य", डॉ. प्रेमनारायण टंडन की "सूर की भाषा", डॉ. शितिकंठ मिश्र की "खड़ी बोली का आन्दोलन", डॉ. कपिलदेवसिंह की "व्रजभाषा वनाम खड़ी बोली" आदि पुस्तकें भाषा-संबंधी समस्याओं के प्रति हिन्दी के विद्वानों की रुचि और इस क्षेत्र में उनके अध्ययन और अनुसन्धान का प्रमाण हैं। भारत जैसे बहुजातीय देश में भाषा-शास्त्र का एक व्यावहारिक पक्ष है। अनेक भाषा-संबन्धी समस्याएं उलझी हुई हैं और उत्तर-दक्षिण के भाषा-परिवारों के बारे में अनेक

भ्रम फैले हुए हैं। देश की एकता और विभिन्न भाषाओं के बोलने वालों में सौहार्द दृढ़ करने के लिये यह आवश्यक है कि उनका विस्तृत और वैज्ञानिक अध्ययन किया जाय और उनकी समानताओं के साथ उनकी विभिन्नताओं से भी साधारण पाठकों को परिचित कराया जाय।

समीक्षा-सिद्धान्तों पर इधर अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। डा. भोलाशंकर व्यास की "ध्वनि संप्रदाय और उसके सिद्धान्त", डा. गोविन्द त्रिगुणायत की "शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त" आदि पुस्तकें आलोचना के सैद्धान्तिक पक्ष को समृद्ध करने का प्रयास हैं। संस्कृत साहित्य के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के अध्ययन से भी समीक्षा-सिद्धान्तों को पुष्ट और विकसित करना संभव है। शास्त्रकारों के लिये हिन्दी साहित्य की उपलब्धियां नगण्य नहीं हैं और इनके आधार पर साहित्य-शास्त्र को और भी परिवर्द्धित किया जासकता है।

मध्यकालीन साहित्य का अध्ययन करते हुए संत कवियों तथा रीतिकालीन कवियों दोनों पर ही अनेक ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। किसी समय रीतिकालीन कवियों पर आलोचकों की दृष्टि अधिक केन्द्रित रहती थी; इस समय संतों और सूफी कवियों पर अधिक ग्रंथों की रचना हमारे वर्तमान सांस्कृतिक विकास के लिये उनके विशेष महत्व की स्वीकृति है। सन्त-साहित्य में विभिन्न जातियों की मिली-जुली संस्कृति के दर्शन होते हैं। संस्कृत से भिन्न बोलचाल की भाषाओं की भूमि पर भारतीय संतों ने लोकप्रिय संस्कृति रची थी। इस संस्कृति द्वारा विभिन्न प्रदेशों की जनता एक दूसरे के निकट आयी और उसके सहयोग से ही इस संस्कृति का निर्माण हुआ। हिन्दी के माध्यम से अन्य भारतीय भाषाओं के संत-साहित्य से जनता को परिचित कराने का दायित्वपूर्ण कार्य अभी शेष है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल पर अपेक्षाकृत कम कार्य हुआ है। डॉ. राजेन्द्र शर्मा द्वारा बालकृष्ण भट्ट के साहित्य का अध्ययन और डॉ. नत्थनसिंह द्वारा बालमुकुन्द गुप्त पर शोध-कार्य इस दिशा में उल्लेखनीय प्रयास हैं। कवियों में प्रसाद जी पर अनेक सुन्दर पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं; पंत जी पर पुस्तकें काफी लिखी गई हैं किन्तु उनमें उल्लेखनीय दो-एक ही हैं। निराला जी के साहित्य का अध्ययन अपेक्षाकृत कम हुआ है। हिन्दी नाटकों की ओर जितना ध्यान आलोचक दे रहे हैं, उतना शायद स्वयं नाटककार नहीं। डॉ. दशरथ ओझा की "हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास", श्री श्रीकृष्णदास की हमारी नाट्य परम्परा" आदि पुस्तकों में काफी खोजपूर्ण सामग्री एकत्र की गई है। अनेक लेखकों ने लोक-संस्कृति, लोकगीतों आदि का अध्ययन किया है और सांस्कृतिक नव-निर्माण के लिये लोक-संस्कृति के आवश्यक आधार की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है।

हिन्दी के आलोचकों, विद्वानों और भाषाशास्त्रियों के इस कार्य से जहां हमारे ज्ञान में वृद्धि होती है, वहां उससे समाज के सांस्कृतिक विकास में वहुत बड़ी सहायता मिलती है। "कला कला के लिए" की तरह यह आलोचना केवल आलोचना के लिये नहीं है। हिन्दी आलोचना की मुख्य दिशा अपनी संस्कृति को समृद्ध करके जनता को परम्परा से परिचित कराने, लोक कल्याण के लिये साहित्य की मानवतावादी भूमिका को स्पष्ट करने की ओर है। कुल मिलाकर पिछले दस वर्षों की समालोचना ने साहित्य के स्वस्थ तत्वों को प्रोत्साहन दिया है और देश तथा जन-संस्कृति के लिये घातक तत्वों का विरोध किया है। इस कार्य को देखकर कोई भी जागरूक पाठक आलोचना की उपयोगिता को अस्वीकार न करेगा। हिन्दी आलोचना का अध्ययन किये बिना जो उसके कल्पित निम्न स्तर पर नाक-भौं सिकोड़ते हैं, जो उसे संस्कृत या अंग्रेजी की नकल कह कर टाल देते हैं या जो दंभ से घोषित करते हैं कि पिछले दस वर्षों में हिन्दी आलोचकों ने जो कुछ लिखा, उसे न भी लिखते तो कोई हानि न थी, वे हिन्दी साहित्य के प्रति अन्याय करने के अतिरिक्त अपने अज्ञान का परिचय भी देते हैं।

यह सही है कि हिन्दी में आलोचना की पुस्तकें एक ही उच्च स्तर की नहीं हैं। उपन्यास, कहानी, नाटक और कविता की पुस्तकें भी एक से स्तर की नहीं हैं। न हिन्दी में, न अन्य किसी देशी, विदेशी भाषा में साहित्य के किसी भी अंग की पुस्तकें सदा एक से

स्तर की होती हैं। हम इतना ही कहेंगे कि अन्य भाषाओं की तुलना में हिन्दी का आलोचना-साहित्य नगण्य नहीं है।

आलोचना आवश्यक है, उपयोगी है, हिन्दी के आलोचना-साहित्य के विकास की अनेक संभावनाएं विद्यमान हैं, इसलिये इस कार्य में विनम्र सहयोग के रूप में "समालोचक" का यह प्रकाशन है। हमारा ध्येय हिन्दी आलोचना के उपर्युक्त विकास में योग देना है, उसमें आमूल परिवर्तन करना अथवा युगान्तर उपस्थित करना नहीं। जैसा कि इस अंक से ही प्रकट होगा, हम विभिन्न विचारधाराओं और मतों के लेखकों की रचनाएं प्रकाशित करके परस्पर विचार-विनिमय द्वारा आलोचना-साहित्य के उत्तरोत्तर विकास का प्रयत्न करेंगे। व्यवस्थित ढंग से समीक्षा-सिद्धान्तों की चर्चा चलाना, देश की विभिन्न भाषाओं के साहित्य से परिचय बढ़ाना, विदेश के उल्लेखनीय साहित्यकारों और साहित्यिक धाराओं की जानकारी प्राप्त करना, हिन्दी की नयी साहित्यिक गति-विधि का विवेचन करना, साहित्य की परंपरा का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना, संक्षेप में ये हमारे उद्देश्य हैं। पहले ही अंक में विद्वानों से हमें जो सहृदयतापूर्ण सहयोग मिला है, उससे विश्वास होता है कि हम अपने उद्देश्यों में सफल होंगे।

हिन्दी में समीक्षा-सिद्धान्तों की चर्चा अधिक हो, इस विचार से "समालोचक" का पहला अंक सौन्दर्य-शास्त्र-विशेषाङ्क के रूप में प्रकाशित हो रहा है। सौन्दर्य-शास्त्र—यह शब्द हिन्दी के लिये नया नहीं है। इस विषय पर डॉ. हरद्वारीलाल शर्मा की एक सुन्दर पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। फिर भी यहां दो समस्याओं का समाधान आवश्यक है। पहली यह कि काव्य-शास्त्र अथवा साहित्य-शास्त्र के रहते हुए सौन्दर्य-शास्त्र की आवश्यकता क्या है। आवश्यकता यह है कि साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं के परस्पर संबन्ध को हम समझें, उनकी समानताओं को पहचानें, ललित कलाओं की सामान्य भूमि पर साहित्य के सौन्दर्य का विवेचन करें, प्रकृति, मानव-जीवन, साहित्य तथा अन्य कलाओं के सौन्दर्य की विशेषताओं—उनकी विविधता और समानता—का ज्ञान प्राप्त करें। इसलिये साहित्य-शास्त्र से अधिक व्यापक यह सौन्दर्य-शास्त्र आवश्यक है।

दूसरी समस्या है सौदर्न्य-शास्त्र नाम की। साहित्य अथवा कला सुन्दर के अतिरिक्त असुन्दर तत्वों को भी अपने अन्दर समेट लेती है। फिर सौन्दर्य-शास्त्र में कला के सभी तत्वों का विवेचन कैसे हो सकता है? संस्कृत काव्य-शास्त्र में भी रस-संबन्धी चर्चा में सुन्दर शब्द का प्रयोग नहीं हुआ।

इस संबन्ध में पहले प्राचीन काव्यों को देखें। आदि कवि वाल्मीकि के मुख से जब प्रथम श्लोक निकला, तब उनके शिष्य प्रसन्न होकर बारबार उसे गाने लगे:

मुहुर्मुहुः प्रीयमाणाः प्राहुश्च भृशविस्मिताः।

उन्हें प्रसन्नता थी, साथ ही विस्मय भी था। इस तरह की प्रसन्नता उन्हें पहले प्राप्त न हुई थी। उन्हें यह भी मालूम था कि कवि के शोक ने ही श्लोक का रूप ले लिया है: शोकः श्लोकत्वमागतः। आदि कवि साहित्य में विरोधी तत्वों के समन्वय से विचलित न हुए थे। शोक की व्यंजना करनेवाला छन्द प्रसन्नता का कारण हो सकता है, वह जानते थे। इस छन्द में उन्होंने रामायण की रचना की। उसे ऋषियों के समाज में लव-कुश ने गाया और सुनकर श्रोताओं की आँखों में आंसू आ गये:

तच्छ्रुत्वा मुनयः सर्वे वाष्पपर्याकुलेक्षणाः।

उनकी आंखों में आंसू थे किन्तु प्रशंसा में वे कहते जाते थे:

अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानां च विशेषतः।

वे माधुर्य पर मुग्ध थे। उनके रस-विह्वल हृदय से हठात् ये शब्द निकले थे—अहो गीतस्य माधुर्यम्। उन्होंने—अथवा कवि वाल्मीकि ने—माधुर्य शब्द का प्रयोग किया, रस, ध्वनि, अलङ्कार आदि के विवेचन द्वारा अपनी भावना प्रकट नहीं की। शोक व्यंजित करनेवाले छन्द से शिष्यों का प्रसन्न होना, आंखों में आंसू भरे हुए ऋषियों का गीत के, विशेष कर श्लोकों के माधुर्य की प्रशंसा करना—सौन्दर्य-शास्त्र की मूल समस्या रामायण महाकाव्य के आरंभ में प्रस्तुत कर दी गई है।

माधुर्य से मिलता-जुलता शब्द रमणीयता है।

काव्य की एक प्रसिद्ध व्याख्या है: रमणीयार्थप्रतिपादक: शब्द: काव्यम्। रमणीयता का लक्षण बतलाया गया है:

क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया:।

साहित्य शास्त्र में रमणीयता की चर्चा हो सकती है तो सौन्दर्य की भी हो सकती है। बाबू गुलाबराय ने उपर्युक्त व्याख्या को "सौन्दर्य या रमणीयता" की परिभाषा के रूप में उद्धृत किया है (सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० ९९)। संस्कृत के शास्त्रकार "सौन्दर्य या रमणीयता" से अपरिचित नहीं थे और यूरोप में "ईस्थेटिक्स" का जन्म होने से बहुत पहले उन्होंने उसका विवेचन किया था।

गोस्वामी तुलसीदास ने भवसागर से पार उतरने के लिये रामायण की रचना की—करउं कथा भव सरिता तरनी। इस कथा को उन्होंने यथाशक्ति "मनोहर" बनाने का प्रयत्न किया—करइ मनोहर मति अनुसारी। माधुर्य और रमणीयता की तरह मनोहरता का गुण, काव्य की विशेषता के रूप में, उनके सामने विद्यमान था। जो मनोहर हो, वह मंगलकारी भी हो सकता था। उनके लिये सौन्दर्य और उपयोगिता के बीच में न पाटी जा सकने वाली खाईं न थी। उनके सन्त जिस राम-सुयश की वर्षा करते हैं, वह "मधुर मनोहर मङ्गलकारी" है। रामचरित मानस के घाट "मनोहर" हैं, इस मानस की उपमाओं का वीचि-बिलास "मनोरम" है। पुरइन के समान चौपाइयाँ "चारु" हैं। कवि की युक्तियाँ "मंजु" हैं। और छन्द-सौन्दर्य:

छन्द सोरठा सुन्दर दोहा।
सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा॥
अरथ अनूप सुभाव सुभासा।
सोइ पराग मकरंद सुबासा॥

कवि ने दोहा-सोरठा आदि छन्दों की मात्राएं न गिना कर उन्हें सुन्दर कहा है; उनकी तुलना विविध रंग के कमलों से की है। किस सौन्दर्य-प्रेमी कवि ने छन्दों के सौन्दर्य का वर्णन इससे अधिक सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण से किया है? छन्दों का अर्थ फूलों के पराग, मकरंद और सुगन्ध के समान श्रोताओं को आनन्द-विभोर करने वाला है। इससे सिद्ध हुआ कि साहित्य में जो गुण मधुर, मनोहर, मनोरम, सुन्दर आदि विशेषणों से अभिहित है, उसकी चर्चा भारतीय काव्य-परम्परा के विरुद्ध नहीं है।

हिन्दी के सौन्दर्य-शास्त्र की मूलभूत मान्यताएं स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की रचनाओं में मिलती हैं। कवि और सौन्दर्य के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है, "कवि की दृष्टि तो सौन्दर्य की ओर जाती है, चाहे वह जहाँ हो—वस्तुओं के रूप रंग में अथवा मनुष्यों के मन, वचन और कर्म में।" शुक्ल जी ने काव्य के सौन्दर्य को प्रकृति और मानव-जीवन के सौन्दर्य के सन्दर्भ में ही परखा है। यहाँ उनकी मान्यताओं पर विस्तार से कुछ लिखना आवश्यक नहीं है। इतना ही संकेत करना यथेष्ट है कि शुक्ल जी के लिये कवि की दृष्टि सौन्दर्य की ओर जाती है और वे कविता के विवेचन में सौन्दर्य और उसकी अनुभूति की व्याख्या करना आवश्यक समझते हैं। इससे हम आशा करते हैं कि हिन्दी के विद्वान् आलोचना के क्षेत्र में सौन्दर्य-शास्त्र की चर्चा को अनावश्यक कार्य न समझेंगे।

इस अङ्क में प्रकाशित सामग्री से पाठकों को इस विषय में भारत और यूरोप के विद्वानों के विचारों का परिचय मिलेगा, साथ ही उन्हें मौलिक चिन्तन की सामग्री भी प्राप्त होगी और वे देखेंगे कि हिन्दी के माध्यम से किस कोटि की अध्ययन-सामग्री दी जा सकती है। हमें विश्वास है कि इस अङ्क में प्रकाशित लेखों से समालोचना के सैद्धान्तिक पक्ष को विकसित करने में सहायता मिलेगी। इसके लिए हम अपने विद्वान् लेखकों के प्रति आभार प्रकट करते हैं; जिन लोगों की मातृभाषा हिन्दी नहीं है, फिर भी जिन्होंने हिन्दी में अपनी रचनाएं भेजकर हमारी अमूल्य सहायता की है और हमारा उत्साह बढ़ाया है, उनके प्रति हम विशेष रूप से अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं। हम प्रयत्न करेंगे कि "समालोचक" को अधिकाधिक विद्वानों का सहयोग प्राप्त हो और उनकी रचनाओं द्वारा वह निरन्तर हिन्दी साहित्य की प्रगति में सहायक हो।

———

सौन्दर्यानुभूति

बाबू गुलाबराय एम० ए०, डी० लिट्०

"सौन्दर्य" क्या है, इसका उत्तर देना कठिन है। सुन्दर वस्तुओं के सामान्य धर्म को ही 'सौन्दर्य' कहा जाता है। किन्तु विषयगत (Objective) सौन्दर्य के विषय में ही "सामान्यधर्मता" का सिद्धान्त ठीक बैठता है। विषयगत सौन्दर्य पर पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र में अधिक विचार हुआ है। यूनानी मूर्तिकला में सौन्दर्य का विकास अपनी चरमसीमा पर दिखाई पड़ता है, इस वाह्य सौन्दर्य-सृष्टि की नाप-तोल भी योरोप में बहुत हुई है। "ज्यॉमित" के नियमों का प्रयोग करके वस्तु के आकार में सामञ्जस्य, संतुलन, संश्लिष्टता और एकान्विति की प्रतिष्ठा से वाह्य-सौन्दर्य की सृष्टि सम्भव बताई गई है।

विषयगत सौन्दर्य-चर्चा में "सुन्दर" और "उदात्त" (Sublime) का भी भेद किया गया है। धार्मिकभाव-मिश्रित भय (awe) उत्पन्न करने वाली विराट और विस्तृत वस्तुओं को "उदात्त" कहा गया है, "सुन्दर" नहीं। उत्तुंग शृङ्गमय पर्वत, महासागर, विस्तृत कांतार, भयंकर विस्फोट और विराट भवन "उदात्त" के उदाहरण हैं, इन्हें देखकर धार्मिक भावपूर्ण भय मन में उत्पन्न होता है और साथ ही इनके आकार और विस्तार को देख करके मन में "आत्मलघुता" की भावना भी उत्पन्न होती है। वृन्त पर खिला हुआ पुष्प, शरद-निशा में मुस्कराता हुआ चन्द्रमा और कामिनी का मुख आदि "सुन्दर" कहे जाते हैं। "सुन्दर" में "प्रियता" का भाव अधिक है। इसीलिए हमारे यहाँ "माधुर्य" गुण को सुन्दर कलाओं की सृष्टि में अधिक महत्व दिया गया है। "सुन्दर" वस्तु वह है जिसमें "रमणीयता" के साथ-साथ "माधुर्य" भी हो। 'रमणीयता' का अर्थ है क्षण-क्षण में उत्पन्न होने वाली नवीनता,[1] माधुर्य का अर्थ चित्त को द्रवित करने वाला आह्लाद है।[2] 'रमणीय, वस्तुओं में "उदात्त" को भी सम्मिलित किया जा सकता है; परन्तु 'माधुर्य' और "नवता" के संयोग से "सुन्दर" की सृष्टि होती है।

किन्तु वाह्य सौन्दर्य के सम्बन्ध में इतना मतभेद है कि "विषयीगत" सौन्दर्य को ही कुछ लोग अधिक महत्व देना चाहते हैं। देश, काल और पात्र के भेद के कारण विषयीगत सौन्दर्य की सत्ता माननी पड़ती है। 'सौन्दर्य' एक मानसिक अनुभूति या प्रतीति-मात्र है, जिसे हम किसी विशेष परिस्थिति में अनुभव करते हैं। इसलिए किसी क्षण में कोई वस्तु और किसी क्षण में कोई अन्य वस्तु सुन्दर लगती है। कविवर बिहारीलाल ने लिखा है—

समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोय।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होय॥

अंगरेजी कवि 'कॉलरिज' ने भी विषयीगत सौन्दर्य का समर्थन किया है :—"रमणी, हम तुझ में वही पाते हैं जो हम तुझे देते हैं"

O lady ! We receive but what we give.

विषयीगत सौन्दर्य में द्रष्टा की मानसिक दशा मुख्य है, इसलिए विषयीगत सौन्दर्य की दृष्टि से असुन्दर वस्तुओं में भी द्रष्टा सौन्दर्य के दर्शन कर सकता है। किन्तु उसकी भी कुछ सीमा रहती है।

कुछ वैज्ञानिक 'वस्तु' को स्पन्दनमात्र मानते हैं और उसके रंग, रूप का श्रेय द्रष्टा की मानसिक सृष्टि को देते हैं। अध्यात्मवादी—प्रत्ययवादी भी वस्तु की सत्ता द्रष्टा की चेतना में ही मानते हैं। इस प्रकार घोर

---

(१) क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः—माघ

(२) चित्तद्रवीभावमयोऽह्लादो माधुर्यमुच्यते—सा० दर्पण

भौतिकवादी और घोर अध्यात्मवादी दोनों आत्यन्तिक छोर (two extremes meet के न्याय से) मिल जाते हैं। वस्तुतः इस विषयीगतता और विषयगतता का नितान्त विरोध भी नहीं है, क्योंकि बहुत से लोगों का विषयीगत 'सौन्दर्य' (और सत्य) विषयगत बन जाता है । गुलाब की लालिमा चाहे मानसिक भ्रम या आभास हो, किन्तु वह सबका भ्रम है। सब की प्रातिभासिक सत्ता व्यावहारिक वास्तविकता बन जाती है, इसलिए विषयीगतता और विषयगतता में सामंजस्य स्थापित हो सकता है। कविवर बिहारी ने लिखा है, "रूप रिझावन हारु वह, ये नैना रिझवार" । 'प्रसाद' जी ने कामायनी का सौन्दर्य वर्णन करते हुए दोनों प्रकार के सौन्दर्य का समन्वय किया है। वाह्य विषयगत सौन्दर्य के साथ साथ उसमें कवि के मन की साध भी मिली हुई है :—

आह, वह पश्चिम के व्योम,
बीच जब घिरते हों घनश्याम ।
अरुण रविमण्डल उनको बेध,
दिखाई देता हो छविधाम ।।
कुसुम कानन अंचल में मन्द,
पवन प्रेरित सौरभ-साकार ।
रचित परमाणु पराग शरीर,
खड़ा हो ले मधु का आधार—
और पड़ती हो उस पर शुभ्र,
नवल मधु राका मन की साध ।।

सौन्दर्य और सात्विकता :—'कुमारसम्भव' में कहा गया है कि सौन्दर्य पापवृत्ति की ओर नहीं ले जाता, यह वचन अव्यभिचारी है अर्थात् सत्य है।१ रवीन्द्र बाबू ने कहा है कि जल में उछलने वाली मछली का सौन्दर्य निरपेक्ष द्रष्टा ही देख सकता है। किन्तु कुमारसम्भव में श्मशानवासी, भगवान भूतनाथ भी पर्वती को नितान्त निरपेक्ष दृष्टि से नहीं देख सके, तब साधारण मनुष्यों की बात कौन कहे ? किन्तु नितान्त निरपेक्ष दृष्टि न रहने पर भी वासना में सात्विकता हो सकती है। कला लौकिक वासना में इसी प्रकार की सात्विकता उत्पन्न कर देती है।

सौन्दर्य सात्विक इसलिए होता है कि दृष्टा वस्तु के साथ कुछ समय के लिए तन्मय हो जाता है और यह तन्मयता उसके चित्त का विस्तार करती है । आचार्य शुक्ल ने भी "वस्तु को देखकर अंतः सत्ता की तदाकार परिणति" को ही सौन्दर्य की अनुभूति कहा है। चित्त की यह परिणति स्वयं द्रष्टा की एक उच्च मानसिक अवस्था है, क्योंकि इसमें द्रष्टा का सात्विक आत्म-त्याग आजाता है। इसीलिए कलाओं का विकास सांस्कृतिक विकास माना जाता है। वासना और स्वार्थ से अभिभूत चित्त तन्मय नहीं हो पाता। दूसरी ओर प्रकृति की वस्तुओं को देखकर उपयोगितावादी दृष्टि सर्वथा अपने उपयोग की दृष्टि से वस्तु को देखती है। (और उपयोग की दृष्टि स्वार्थ-परक होती है।) इंजीनियर और कवि में यही अन्तर है। प्रथम 'पर्वत' को इसलिए देखता है कि उसका जनता के भौतिक जीवन की उन्नति के लिए क्या उपयोग हो सकता है, "कवि" पर्वत को देखकर 'मुग्ध' होना सिखाता है, कवि-दृष्टि हमें उच्च भावभूमि में ले जाती है, अतः मानसिक विकास के लिए 'कला' का उपयोग स्वीकृत है। 'कला' में इंजीनियर की दृष्टि-गत उपयोगिता की खोज करना गलत है, स्वयं "सौन्दर्य" हृदय को परिष्कृत, पवित्र, कोमल और व्यापक बनाता है, यही उसकी उपयोगिता है। 'साकेत' में मैथिलीशरण गुप्त ने कहा है कि भावुक जन ही महान कार्यों को करने के योग्य बनते हैं।२

सौन्दर्य, शिव और सत्य—"सत्य" के साथ सौंदर्य का सम्बन्ध प्रायः लोग मानते हैं; परन्तु 'सत्य' की व्याख्याएं अनेक हैं। हमारे यहाँ 'सत्य' केवल 'ब्रह्म' को माना गया है, जगत् को मिथ्या कहा गया है, परन्तु कुछ दार्शनिक ब्रह्म व जगत दोनों को सत्य मानते हैं। ऐसे दार्शनिकों ने जगत के सौन्दर्य के आनन्द में ही 'सच्चिदानन्द' की खोज की है और ब्रह्म को भी सुन्दर रूप देकर धरती पर उतारा है। मनुष्य सबसे

---

१ यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये, न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः

२ भावुक जन से ही महत् कार्य होते हैं—साकेत

अधिक "सत्य" को ही प्यार करता है अत: ब्रह्म को भावना का विषय बनाकर अद्भुत छवियों का अङ्कन किया गया है। भक्ति-साहित्य में सत्य व सौन्दर्य अभिन्न हैं। 'शिवत्व' तो सत्य में ही निहित है। जो सत्य है, वह हितकर अवश्य होगा अत: तीनों का समन्वय हमारे साहित्य व कला में मिलता है।

किन्तु "सत्य" का अर्थ प्रगतिवादी विचारक ऐतिहासिक सत्य से लेते हैं, सत्य मूर्त्त है कोई सूक्ष्म और निरपेक्ष सत्य है, इसका प्रमाण नहीं है। सामाजिक विकास की प्रक्रिया को समझकर ही हम 'सत्य' का निर्णय कर सकते हैं। पूंजीवादी व्यवस्था का नाश कर साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना ही आज का 'सत्य' है। इस "सत्य" को कथा, काव्य, मूर्ति, संगीत आदि विधाओं द्वारा व्यंजित करना ही सच्चे सौन्दर्य की सृष्टि है, क्योंकि असामाजिक भावनाओं की व्यंजना सुन्दर हो सकती है, उसमें 'सत्य' भी हो, यह आवश्यक नहीं है। अत: सच्चे सौन्दर्य की सर्जना के लिए "सत्य" की पहचान आवश्यक है। सुन्दर की सृष्टि "शिव" तभी होगी जब सुन्दर को 'सत्य' के साथ सम्बद्ध किया जाय। बलात्कार व हत्या के चित्र, काव्य व कथाएं सुन्दर हो सकती हैं; परन्तु वे सत्य व शिवत्व से रहित हैं—अत: प्रगतिवादी सौन्दर्यशास्त्री भी इन तीनों का समन्वय आवश्यक मानता है; परन्तु 'सत्य' शब्द की विशेष व्याख्या करता है। किन्तु दृष्टिकोण-भेद से सत्य शब्द की परिभाषाएं अनेक हैं, शिव और सौन्दर्य के साथ जिस सत्य का समन्वय हो सकता है, उसी सत्य को सत्य माना जाएगा। व्यवहारवाद (Pregmaticism) की दृष्टि से भी "सत्य" हित का ही रूप है किंतु हित में ही सीमित नहीं है। 'हित' के भी कई रूप हो सकते हैं। हित शब्द का शाब्दिक अर्थ है—'विद्धाति इति हितम्', जो बनाता है, वह हित है, बनाने के भी कई आदर्श हैं। 'प्रगतिवाद' वर्गभेद करके एक को न्यायी और एक को अन्यायी ठहराता है। अन्यायी को अपदस्थ कर न्यायी और शोषित को पदस्थ करना उसका ध्येय है। लेखक का दृष्टिकोण इससे भिन्न है। वह अन्यायी को भी "राम का जीव" मानता है, अन्यायी का हृदय परिवर्तन करके ही उसका सुधार चाहता है। उन्नत और विकसित समाज वह उसे समझता है कि जिसमें विकास का यह आदर्श स्वीकृत हो—"अधिक से अधिक विशेषीकरण (Specialisation) के साथ एकीकरण (integration) भी हो।" जैसा कि मनुष्य-शरीर में मिलता है, सब इन्द्रियाँ अपना अपना अलग-अलग कार्य करती हैं और साथ ही एक दूसरे की सहायक और पूरक होती हैं। (केंचुआ जैसे अविकसित जीव में एक ही स्पर्श-इन्द्रिय सब इन्द्रियों का काम करती है।)

सामाजिक संघर्षों और समस्याओं के चित्रण में ही प्रगतिवादी 'सत्य' की रक्षा कलाकार कर सकता है परन्तु प्रकृति व प्रेम के क्षेत्र में प्रगतिवादी 'सत्य' की रक्षा कठिन है, क्योंकि पर्वत, पुष्प, नदी, निर्झर आदि सामन्तवाद में भी सुन्दर लगते थे और अब भी सुन्दर लगते हैं। मनुष्य के ऐतिहासिक संघर्षों से प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण में थोड़ा बहुत अन्तर आने पर भी कोई मौलिक अन्तर नहीं आया—अत: "रूप के आकर्षण" को शाश्वत माना जा सकता है।

कला में 'सत्य' की प्रतिष्ठा किस प्रकार हो, इस पर मतभेद है। 'प्रकृतवादी' नग्न सत्य को यथातथ्य रूप में चित्रित करने को पसन्द करते हैं। उनके अनुसार अनावृत सत्य की प्रतिष्ठा स्वयं अपने में 'सुन्दर' है। "समाजवादी-यथार्थवाद" (प्रगतिवाद) 'सत्य' में कुछ काट-छाँट करके, उसको इस प्रकार व्यंजित करना अच्छा समझता है, कि उसके प्रति हमारी भावात्मक प्रवृति हो। उनके अनुसार यदि 'सत्य' को अनावृत्त रूप में रखने की आवश्यकता हो तो ऐसा भी किया जा सकता है। इस प्रकार प्रगतिवादी सत्य-चित्रण में शालीनता का अभाव आ जाता है। शालीनता लेखक के लिए आवश्यक है। हमारे यहाँ कला-पद्धति की दृष्टि से 'सत्य' की काटछाँट आवश्यक मानी गई है। 'दुष्यन्त' की गौरवकथा के लिए दुर्वासा के श्राप की कल्पना कर लेने से ही प्रेम के आदर्श की रचना करने में कालिदास की प्रशंसा ही की जाती है। इसे "उपचार-वक्रता" कहा

गया है। भारतीय संस्कृति किसी न किसी आदर्श को 'कला'के लिए आवश्यक मानती है; परंतु उसमें यथार्थ की अवहेलना भी नहीं हुई है, अत: भारतीय कला में सत्य, शिव व सौंदर्य का समन्वय मिलता है। सत्य के मूर्त रूप की भारतीय कला में भले ही अवहेलना हो जाय उसके "हार्द" (Spirit) की रक्षा होती है।

सौंदर्य-सृजन के लिए सत्य के साथ शिव का भी विचार आवश्यक है। शिव का प्रश्न मूल्यों (Values) के साथ सम्बिन्धित है। यों रूपों का अङ्कन अपने में ही "शिव" भी है; परन्तु फिर भी सामाजिक घटनाओं और समस्याओं में शिव का ध्यान रखना पड़ता है। किंतु 'शिवत्व' के विषय में भी मतभेद हैं। कुछ भौतिक हित को और कुछ आध्यात्मिक हित को अधिक महत्त्व देते हैं। भारतीय कला व साहित्य में दोनों की उन्नति को लक्ष्य बनाया गया है। भगवान रामचन्द्रजी ने भरत को धर्म, अर्थ, काम—तीनों के अविरोध सेवन का उपदेश दिया है।

> कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुन:।
> उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे।
> कच्चिदर्थं च कामं च धर्मं च जयतांवर:।
> विभज्य काले कालज्ञ सर्वान्वरद सेवसे।
>
> —वाल्मीकि रामायण

अर्थात् क्या तुम अर्थ से धर्म में और धर्म से अर्थ में तथा प्रीति, लोभ और काम से धर्म और अर्थ में तो बाधा नहीं डालते ? और क्या तुम अपना समय बाँट कर धर्म, अर्थ और काम का सेवन करते हो ?

इस दृष्टि से "सुन्दर" के साथ सत्य व शिव का समन्वय सम्भव है। इन तीनों के समन्वय से "वाणी का तप" सिद्ध होता है। गीता में सत्य, प्रिय व हित का समन्वय अनिवार्य माना गया है।[1] तुलसीदास ने भी सुन्दर के साथ हित को आवश्यक माना है।[2] कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने भी प्रज्ञा, प्रणय व लोक-सेवा के समन्वय का समर्थन किया है।[3]

मैथलीशरण गुप्त ने कहा है कि यद्यपि कुशल अभिव्यक्ति ही कला है तथापि केवल सत्य और शिव की अभिव्यक्ति कुरूप भी हो सकती है और केवल कल्पनाओं का प्रयोग मनोरंजक होने पर भी श्रेष्ठ सौंदर्य को जन्म नहीं देता—

> सत्य सदा शिव होने पर भी, विरूपाक्ष भी होता है।
> और कल्पना का मन केवल, सुन्दरार्थ ही होता है—
>
> —साकेत

इसलिए सौन्दर्य, सत्य और शिव एक और अभिन्न हैं।

—*:०:*—

१—अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्
—गीता

२—कीरति भणिति भूतिभल सोई,
सुरसरि सम सबकर हित होई।

३—वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप,
हृदय में बनता प्रणय अपार
लोचनों में लावण्य अनूप,
लोक सेवा में शिव अविकार
—पंत

प्रभाव ग्रहण की प्रक्रिया

डा० रामअवध द्विवेदी एम० ए०, डी० लिट्०

सौन्दर्य-शास्त्र तथा साहित्यिक आलोचना का निकटतम सम्बन्ध है। दोनों का क्षेत्र कम से कम आंशिक रूप में एक है। दोनों में भेद केवल इतना है कि सौन्दर्यशास्त्र दर्शन और सिद्धान्त पर विशेष बल देता है और साहित्य-शास्त्र व्यवहार पक्ष पर। तब भी कुछ ऐसी मूल समस्याएं हैं जिनका सम्बन्ध दोनों से है और जिनके समाधान की खोज में दार्शनिक और आलोचक अनेक शताब्दियों से लगे हुये हैं। इस प्रकार की समस्याओं में एक प्रमुख प्रश्न प्रभाव तथा उपभोग का है।

कला में निबद्ध तथ्य अथवा यथार्थ दैनिक जीवन के प्रतिमान से प्राय: अवास्तविक प्रतीत होता है। कभी-कभी उपन्यास या नाटक में होने वाली घटनाएं दैनिक जीवन से सम्बन्धित नहीं होतीं अर्थात् उस प्रकार की घटनाएं नित्य-प्रति नहीं घटित होतीं। वैसे भी दिग् और काल में घटनाओं का जो क्रम और विस्तार दैनिक जीवन में मिलता है, कलात्मक निरूपण में वह क्रम बदल जाता है और फलत: कला में जीवन का एक बदला हुआ रूप दिखाई देता है। यथार्थवाद के प्रतिपादकों ने बराबर इस बात की कोशिश की है कि यथार्थ तथ्यों तथा घटनाओं का अपरिवर्तित रूप कला में प्रस्तुत किया जाय; किन्तु अभी तक वे अपने प्रयास में सफल नहीं हो पाये हैं। उनके मार्ग में दो प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। पहली कठिनाई का सम्बन्ध कला के उद्देश्य से है। यदि कला केवल यथार्थ को ही चित्रित करने का काम करती है तो वह इस कार्य में प्रकृति से होड़ नहीं लें सकती और इस भाँति वह निरर्थक और निरुद्देश्य सिद्ध होती है। दूसरी कठिनाई निर्माण-पद्धति से सम्बन्धित है। कला यदि जीवन का सुव्यवस्थित रूप प्रस्तुत करना चाहती है तो बाध्य होकर उसे यथार्थ में कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य करना पड़ेगा। इसीलिये यह मान लिया गया है कि कला का सत्य जीवन के सत्य से किसी न किसीं अंश में अवश्य भिन्न है। अतएव साधारण जीवन के यथार्थ ज्ञान के लिये कला एक विश्वसनीय साधन नहीं है। पुराने यूनानी आचार्यो से लेकर आज तक अनेक विचारकों ने यह इंगित किया है कि कला का सीधा सम्बन्ध सत्य से नहीं वरन् प्रभाव से है। अत: एक सीमा के उपरान्त कला के ऊपर यथार्थ का आग्रह अनुचित मालूम पड़ता है।

किन्तु यह जानने पर भी कि कला और वास्तविकता का निरन्तर सम्बन्ध नहीं मिलता है, हम कला की ओर आकृष्ट होते हैं। स्पष्टत: इस आकर्षण का कारण यह नहीं है कि कला द्वारा हमारी तर्क-बुद्धि तृप्त होती है अथवा उसके द्वारा हमारी जानकारी बढ़ती है। यह सच है कि कुछ लोग समाजशास्त्र और मनोविज्ञान समझने के लिये उपन्यास और नाटक में मिलने वाले तथ्यों का संकलन, अध्ययन और विश्लेषण करते हैं। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो प्राचीन वास्तु-कला के अवशेषों के निरीक्षण द्वारा प्राचीन धार्मिक और सामाजिक विश्वासों के बारे में निष्कर्ष निकालते हैं; किन्तु इस प्रकार का ज्ञानवर्द्धन कला का केवल गौण प्रयोजन हो सकता है और इस भाँति प्राप्त किये हुए निष्कर्षों की उपादेयता भी सीमित है। कला-सम्बन्धी सामान्य अनुभव तो यह है कि हम कला का उपभोग यथार्थ के आग्रह को छोड़कर या कम से कम भुला कर करते हैं। आनन्दानुभूति के समय तर्क सो जाता है या कह सकते हैं कि तार्किक प्रक्रिया के स्थगित होने पर ही कलात्मक आनन्द का अनुभव होता है। यहाँ तर्क और ज्ञान, "रीजन और कांशेन्स" में भेद करना आवश्यक है।

जब हम कहते हैं कि तर्क सो जाता है, तब यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि ज्ञान की क्षमता विलुप्त हो जाती है। परिस्थिति और परिवेश का ज्ञान तो बना रहता है, किंतु सत्य और असत्य, वास्तविक और अवास्तविक के भेद की शक्ति कुछ समय के लिये मिट जाती है।

प्रश्न यह उठता है कि हम इस अवस्था तक किस भाँति पहुँचते हैं। सर्वप्रथम जब हम कला के निरीक्षण, ग्रहण और तज्जनित आनन्दानुभूति की अपेक्षा करते हैं, तब स्वतः इस प्रकार की मानसिक अवस्था का आह्वान करते हैं, जिसमें तर्क-बुद्धि मानों सुला दी जाती है और इस भाँति उपभोग की क्षमता तीव्र हो उठती है। जब हम कविता सुनने, नाटक देखने, अथवा उपन्यास पढ़ने के लिये तत्पर होते हैं, तब हम यह मान लेते हैं कि तर्कपूर्ण ऊहापोह के लिये गुंजाइश नहीं है। इसके अतिरिक्त कला में ही कुछ ऐसी विशेषता है जो अविश्वास और तर्क को सुला देने में हमारी सहायता करती है। नाटकीय भ्रान्ति का सिद्धान्त इस बात का प्रमुख साक्षी है। जिस समय हम प्रेक्षा-गृह में प्रविष्ट होते हैं, उस समय हमारी तर्कबुद्धि अक्षुण्ण रहती है और हम बिना प्रयास के ही सम्भव और असम्भव, उचित और अनुचित पर विचार कर सकते हैं; किन्तु थोड़ी ही देर बाद जब संगीत और कृत्रिम प्रकाश से रंगशाला भर जाती है और कुशल अभिनेता अपने अङ्ग-परिचालन तथा कथनोपकथन द्वारा एक विशेष परिस्थिति और कार्य का रूप सामने खड़ा कर देते हैं, तब इन सभी उपकरणों का संकलित प्रभाव यह होता है कि विश्वास और अविश्वास का प्रश्न ही कुछ समय के लिये स्थगित हो जाता है। प्रतीत यह होता है कि रंगमंच का दुष्यन्त वास्तविक दुष्यन्त और रंगमंच की शकुन्तला वास्तविक शकुन्तला है। नाटकों के पढ़ने पर जो विरोध हमको दिखाई पड़ते हैं, उनमें अधिकाँश अभिनय के विशिष्ट वातावरण में स्वतः मिट जाते हैं। काव्य में छन्दों की उपादेयता पर विचार करते हुए कतिपय आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने लिखा है कि छन्द का लय और संगीत हमारे मन में भर जाता है और तदुपरान्त पहले की अनेक अस्पष्ट बातें साफ हो जाती हैं और बहुत-सी बातों की संगति आप से आप बैठ जाती है। यह भी कलात्मक रसास्वादन के संदर्भ में अविश्वास के विलीन हो जाने का ही एक प्रमाण है।

सामान्य रीति से कह सकते हैं कि कला में आकृति या रूप की जो विशेषता अनिवार्य रुप से विद्यमान रहती है, उसका ही प्रभाव श्रोता अथवा द्रष्टा के मन पर पड़ता है और उसीके फलस्वरूप वह मानसिक अवस्था उपस्थित होती है, जिसके अभाव में कला का रसास्वादन सम्भव ही नहीं। जब तक हम किसी प्रासाद, किसी चित्र, किसी मूर्ति के रूप-सौष्ठव को नहीं पहचानते, तब तक हम उससे आनन्द नहीं प्राप्त कर सकते। उस समय तक तो हम केवल उस महल की लम्बाई-चौड़ाई नापते रहेंगे, उस चित्र के रंग किस प्रकार तैयार किये जाते हैं, इस बात की छानबीन करेंगे और इसी तरह इस बात का पता लगायेंगे कि उस मूर्ति का प्रस्तर कहाँ से लिया गया है। रूप का सम्यक् दर्शन होने पर यह सभी बातें अनावश्यक मालूम पड़ेंगी और हमारा मन द्रवित होकर कला के प्रभाव को अनायास ग्रहण करेगा। जब तक कविता में प्रयुक्त शब्दों की व्युत्पत्ति पर ही हमारा ध्यान स्थिर रहेगा तब तक कविता का रसास्वादन नहीं हो सकता। जब हम प्रेरणा के स्पर्श से अनुप्राणित शब्दों को छन्द और लय के प्रवाह में बहते हुए पायेंगे और उनसे प्रभावित होंगे, उस समय उन शब्दों का व्यवधान हमारे लिये मिट जायगा और हमारे मन तथा शब्दों के प्रभाव से उद्भूत आनन्द के बीच सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जायगा। इस प्रक्रिया में तर्क का कोई काम नहीं है। यह तो केवल प्रभाव-ग्रहण और आत्म-समर्पण की ही बात है। इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि कला के समुचित रसास्वादन के लिये रूप-विधान का सहज अथवा प्रबुद्ध ज्ञान अनिवार्य है। अशिक्षित लोग भी संगीत अथवा कला से प्रभावित होते हैं किन्तु यह तभी सम्भव है जब उनमें रूप-बोध की नैसर्गिक क्षमता रहती

है। अधिकाँश लोगों के लिये कला के सिद्धान्तों और रूप-विधानों के ज्ञान की आवश्यकता अपेक्षित होती है, जिससे वे विशिष्ट आकृति की पहचान कर सकें। जब तक शास्त्रीय संगीत का परिचय नहीं होता तब तक वह नीरस मालूम पड़ता है। किन्तु स्वर-विधान के विभिन्न ढाँचों का ज्ञान हो जाने पर उससे अनुपम आनन्द मिलता है। इससे यह पता लगता है कि कला में रूप केवल उसके सौष्ठव का कारण ही नहीं है किन्तु वह आनन्द प्राप्ति का एक अनिवार्य साधन भी है। जब कभी कला की आकृति में वैषम्य होता है उस समय हमारी आस्था को ठेस लगती है और हमारा सोया हुआ अविश्वास जाग उठता है। यदि किसी उपन्यास का पूर्वार्द्ध निरूपण की एक पद्धति प्रयोग में लाता है और उत्तरार्द्ध दूसरी, तब निश्चित है कि वह कला-कृति असुन्दर और अग्राह्य हो जायेगी। यह आवश्यक नहीं है कि कला में प्रयुक्त प्रत्येक तथ्य यथार्थ जीवन की कसौटी पर खरा उतरे, परन्तु यह अनिवार्य रूप से वांछनीय है कि कला का आन्तरिक तारतम्य और सामँजस्य नष्ट न होने पाये।

प्राचीन काल से यह धारणा चली आई है कि कला का प्रयोजन यथार्थ से नहीं अपितु उसके आभास-मात्र से है। अरस्तू ने इस मत का प्रतिपादन किया था और तब से आज तक अनेक विचारकों ने इस मत को मान्यता प्रदान की है। सत्याभास से अभिप्राय यह है कि जिन तथ्यों एवं घटनाओं का निरूपण हुआ है उनको हम केवल सम्भाव्य मान लें और उनकी छानबीन तर्क द्वारा एक सीमा के बाद न करें। सम्भावित सत्य की इस कल्पना में वास्तविकता और अवास्तविकता, विश्वास और तर्क का इतना सूक्ष्म सम्मिश्रण रहता है कि हम उसे ऐतिहासिक, दार्शनिक अथवा न्याय-बुद्धि द्वारा प्राप्य सत्य की कोटि में स्थान नहीं दे सकते। इसके मानने के लिये किसी न किसी अँश में हमें अपने अविश्वास और तर्क को दबाना ही पड़ेगा। यथार्थ के स्थान पर कला-विवेचकों द्वारा इस आपातसत्य के सिद्धान्त की स्वीकृति इस बात को सिद्ध करती है कि कलात्मक रसास्वादन के निमित्त सहृदय के लिये न्यूनाधिक परिमाण में अपनी तर्क-बुद्धि का परित्याग नितान्त आवश्यक है। रसास्वादन के क्षणों में सहृदय और कला-वस्तु का सम्बन्ध पारस्परिक सहयोग के आधार पर स्थापित होता है। सहृदय अविश्वास को छोड़कर कला की ओर उन्मुख होता है और इस भाँति आनन्द प्राप्त करता है। दूसरी ओर कला से आनन्द प्राप्ति के साथ ही साथ वह अधिकाधिक आत्मविभोर होता है और इस प्रकार उसके निरीक्षण और उपभोग के लिये तथ्यों ओर घटनाओं का जो क्रमिक और व्यवस्थित रूप प्रस्तुत किया जाता है, उसमें वह अपने को लीन करने के लिये प्रेरणा प्राप्त करता है।

यदि कलाकार की आस्था उसकी कृति में व्यक्त होती है तो उसमें किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। कला प्रकाशन का एक माध्यम है, यह सिद्धान्त किसी न किसी रूप में मानना ही पड़ेगा और यदि सम्यक् आत्म-प्रकाशन होगा तो कलाकार के व्यक्तित्व के अन्य उपकरणों के साथ उसके निश्चित विश्वासों की अभिव्यक्ति अवश्य होगी। किन्तु जब कलाकार का आग्रह अपने विश्वासों पर अत्यधिक हो जाता है, जब वह उन विश्वासों की घोषणा अथवा विज्ञप्ति करता है और यह चाहता है कि अन्य लोग उसे मान लें तब सहृदय के तर्क को चुनौती मिलती है और वह तर्क उत्तेजित होकर अपना कार्य करने लगता है। कला में किसी पक्ष की बलपूर्वक स्थापना होते ही श्रोता और द्रष्टा के मन में प्रतिपक्ष का उठ खड़ा होना अत्यन्त सम्भावित है। ऐसी अवस्था में अविश्वास के विलीन होने और कलात्मक रसास्वादन की बात ही नहीं उठती। इस दृष्टि से कला में मतों और सिद्धान्तों का प्रतिपादन केवल अत्यन्त आंशिक रूप में हो सकता है। ऐसा प्रतिपादन कला का न तो अन्तिम ध्येय है और न उससे आनन्द के उपभोग में सहायता ही मिलती है।

ऊपर जिस मत की व्याख्या की गई है उसके सम्बन्ध में आपत्ति हो सकती है कि उसकी परिधि के

(शेष पृष्ठ ३४ पर)

काव्यानुभूति का दार्शनिक आधार

डा० नरेन्द्रदेव सिंह शास्त्री एम० ए०, पीएच० डी०

काव्यगत आनन्द की अनुभूति की सर्वाभिभाविता का सभी सहृदयों ने समवेत स्वर से समर्थन किया है। यह आनन्द व्यावहारिक अर्थ में लौकिक सुख और आध्यात्मिक अर्थ में वह अलौकिक चेतना है जिसके उन्मेष में सभी अनुभूतियों का तिरोधान हो जाता है। वस्तुत: सम्पूर्ण जड़ चेतन प्रपंच इस दृष्टि से दो भागों में विभक्त हैं, एक दु:ख-सम्पृक्त आनन्द और दूसरा केवल आनन्द। यह दूसरा आनन्द आत्मा या ब्रह्म का स्वाभाविक गुण है जो कहीं बाहर से न आकर अन्तस् में स्वत: समुद्भासित होता है। आनन्द और आत्मा या मोक्ष और आत्मा सब एक ही वस्तु या वास्तविकता के रूप हैं। अतएव आध्यात्मिक पक्ष में आत्मा का स्वरूपत: उद्भासित होना ही आनन्द है। सांसारिक अवस्था में आत्मा सोपाधिक जीव के रूप में अपने पञ्चकोशों से आवृत हो कर ही रहता है और जब कोई अनुभूति अपनी तीव्रता से इन कोशावरणों को वेध कर आनन्दमय आत्मा का अनावरण कर देता है तभी हम आनन्द की अनुभूति का प्रयोग करते हैं। आनन्द के उत्कृष्ट उल्लास विलासों में हमारी सांसारिक दु:ख क्लेशमय अनुभूतियों का स्वत: तिरोधान हो जाता है। इसीलिए आध्यात्मिक गुरुओं ने इसे भूमा के नाम से अभिहित किया है। छान्दोग्योपनिषद् में इस भूमा का वर्णन करते हुए लिखा है 'यत्रनान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा। भूमा वै-सुखम्। नाल्पे सुखमस्तीति।

जिस अवस्था में मनुष्य और कुछ नहीं देखता, कुछ नहीं सुनता, न कुछ और जानता ही है वह भूमा है। भूमा ही वास्तव में सुख है। अल्प (दु:ख संपृक्त लौकिक आनन्द) में सुख नहीं है।

काव्य शास्त्रियों ने इसे साक्षात् भूमा या ब्रह्मानन्द कहने में संकोच किया है। वे इसे ब्रह्मानन्द सहोदर मानते आए हैं। इसका कारण यह है कि काव्यगत विभावानुभावादि जो आत्मा के कृत्रिम आवरणों को वेध कर उसके स्वाभाविक स्वरूप का उद्घाटन करने वाले साधन हैं वे लौकिक हैं और ब्रह्मानन्द के उद्घाटन करने वाले साधन आध्यात्मिक।

यदि मनन करके देखा जाय तो आत्मा के स्वाभाविक स्वरूप का अनावरण दोनों अवस्थाओं में समान है केवल प्रक्रिया और साधनों का अन्तर है। आध्यात्मिक साधनों से अनावरण होने को ब्रह्मानन्द या भूमा कहा गया और लौकिक साधन विभावानुभावादिकों द्वारा अनावरण होने पर रस कह कर उसे ब्रह्मानन्द सहोदर का स्थान दिया गया। ऐसी अवस्था में इस भेद को हमें भारतीय साहित्य शास्त्रियों का शिष्टाचार ही कहना चाहिए। वस्तुत: वह आनन्द एक ही है और वह आत्मा के स्वरूप का आभास मात्र ही है।

सांसारिक रंगमंच पर विविध भूमिकाओं के प्रदर्शन के लिए जब यह अनादि शैलूष आत्मा अवतीर्ण हुआ तब उसने अपने आपको पाँच कोशों में परिवेष्टित किया। इनमें प्रथम कोश आनन्दमय कोश था। सच्चिदानन्द आत्मा अपनी अस्पष्टोपाधि के सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिधान से परिवेष्टित होकर जब सुषुप्ति की चेतनाहीन दशा में अवतीर्ण हुआ था तब भी आनन्दानुभूति उसके साथ विद्यमान थी। दार्शनिक आचार्यों ने इसे आनन्दप्रचुरा अवस्था के नाम से पुकारा है। यह आनन्दानुभूति इतनी गहरी थी कि जिसका स्मरण उसकी जाग्रदावस्था में सजीव रहा, और सच तो यह है उसी के लिए वह आज भी तड़फड़ाता रहता है। सारांश यह है कि आत्मा ने उपाधि के आवरण से अपने आपको अन्तर्हित कर के जब जीव नाम से पुकारा था तब भी उसके पास अनुभूति थी और सबसे बड़ी बात यह कि वह आनन्दानुभूति थी।

ज्ञान आत्मा का स्वरूप होते हुए भी लुप्त था, उसका उदय जीव विकास की द्वितीय श्रेणी अर्थात् विज्ञानमय कोश के आविर्भाव के समय हुआ। इस वेदान्त की कोश प्रक्रिया से यह स्पष्ट है कि अनुभूति जीव की प्रथम सहचरी है और ज्ञान या विज्ञान उसे आगे चलकर उपलब्ध हुए। हमारे पुराने सहचर बालसखा, कुटुम्ब और ग्राम के लोग और उनके उपकरण हमारे लिए सहज ही आकर्षक और अन्तरङ्ग होते हैं। इसलिए अनुभूति ज्ञान की अपेक्षा मनुष्य के लिए अधिक आकर्षक है। उसके द्वारा हमारे कृत्रिम आवरणों का विच्छेद अधिक सुगम होता जो ज्ञान और विज्ञान के द्वारा संभव नहीं।

इसलिए मनुष्य के लिए अनुभूति-प्रधान काव्यों की प्रभविष्णुता ज्ञान और विज्ञान की गुरुता से कहीं अधिक होती है। ज्ञान की विशेषता को पुस्तकों में और विज्ञान के विश्लेषणों को प्रयोगशालाओं में ही बन्द करके मानव जब अपने चिरन्तन शुद्ध मानव के रूप में आता है तब वह उन काव्यगत अनुभूतियों को सहज ही में आत्मसात् कर लेने में समर्थ हो जाता है जो कभी चित्रकूट के आश्रम में यक्ष के मन में आविर्भूत हुई थीं। उसका जड़चेतन विज्ञान उस अनुभूति को दबाने में असमर्थ हो जाता है और वह जड़ में चेतन और चेतन में जड़ के अध्यास की सत्यता का समर्थन करता है। यदि वह अपने प्रियजन के विरह से पीड़ित है तो वह जल के वाष्परूप में संपिण्डित पयोद से कही हुई निम्नलिखित घनानन्द की उक्ति का समर्थन करेगा। वह भी कवि के साथ उसे उपालम्भ देते हुए कहेगा—

परकारज देह को धारे फिरौ,
परजन्य यथारथ ह्वै दरसौ।
निधिनीर सुधा के समान धरौ,
सब ही बिधि सुन्दरता सरसौ॥
घन आनँद जीवन दायक हौ, कबौं,
मेरियौ पीर हिये सरसौ।
कबहूं वा बिसासी सुजान के आँगन,
मो अँसुवान कौं लै बरसौ॥

इस प्रकार प्रमाता के हृदय में उदित भाव अनुभूतियों की प्रभविष्णुता का आधार आत्मा का चिरन्तन आनन्दमय कोश ही है जिससे मानव ने सर्व प्रथम अनुभूति की संपदा प्राप्त की थी। यह आधार वेदान्त दर्शन की देन है।

अब प्रमेयगत विशेषताओं का विवेचन भी यहाँ प्रसंगानुकूल होगा क्योंकि प्रमेय गत विशेषताएं ही सहृदय की अनुभूतियों को जागृत करने में सशक्त होती हैं। साहित्यशास्त्रियों के अनुसन्धान के अनुसार काव्यगत प्रमेय की विशेषता सर्वाङ्गरमणीयता है जिसके साक्षात्कार से सहृदय प्रमाता के हृदय में इस प्रकार की अनुभूतियों का उद्रेक होता है जिनका वर्णन आचार्य अभिनव गुप्त ने, 'हृदयमिव प्रविशन् सर्वाङ्गीणमिवालिंगन् अन्यत् सर्वं तिरोदधत्' कह कर किया है। यह सत्य है परन्तु काव्य की सर्वाभिभाविनी रमणीयता का कारण क्या है इसकी व्याख्या करने का संभवतः कहीं प्रयास नहीं किया गया। आधुनिक आलोचकों ने इस दिशा में कुछ मनन किया है, प्राच्य और प्रतीच्य शास्त्रों का मंथन कर के यह निष्कर्ष नवनीत प्रस्तुत किया है कि—"काव्य जगत् में आकर प्रत्येक शब्द हमारे उन भावों को जागरित करता है जो वासना रूप में हम में निहित रहते हैं। हमारी कल्पना, स्मृति आदि शक्तियाँ इस कार्य में योग देती हैं और हम एक साधारण रूप में काव्य का अर्थ ग्रहण करते हैं। जैसे चित्र की रेखाएं रेखा मात्र नहीं हैं—उनका अर्थ वही नहीं है जो एक त्रिकोण क्षेत्र या चतुर्भुज क्षेत्र की रेखाओं का होता है, उसी प्रकार काव्य के वाक्य पद आदि असाधारण अर्थ में एक संश्लिष्ट अर्थ ध्वनित करते हैं। इसी असाधारण सामर्थ्य से काव्य एक विशेष प्रकार का आनन्द प्रदान करता है जिसे संस्कृत के साहित्य शास्त्री अलौकिक आनन्द कहते हैं।" (डा० श्यामसुन्दरदास, साहित्यालोचन पृष्ठ ६८) उक्त गद्य प्रपञ्च का निष्कर्ष यह है कि काव्यगत रमणीयता का आधार उसके पद वाक्य आदि का असाधारण अर्थ और उधर अर्थों की असाधारण सामर्थ्य है जिससे वे संश्लिष्ट अर्थ को ध्वनित करते हैं। इस विवेचन से यह तो अवश्य स्पष्ट है कि काव्यगत रमणीयता का साक्षात् कारण,

'संश्लिष्ट अर्थ' है जिसका कारण काव्यगत वाक्य और पद ही है। परन्तु साधारण वाक्य और पदों में असाधारणता के आधान का मूल कारण क्या है, संश्लिष्ट अर्थ क्या है और उसको ध्वनित करने में वाक्य और पद कैसे सशक्त होते हैं इत्यादि बातों का स्पष्टीकरण इस लेख से भी नहीं हो पाता। वस्तुत: बात यह है कि जिस प्रकार प्रमातृगत अनुभूतियों की सत्यता और प्रभविष्णुता का आधार हमें दर्शनों में मिलता है ठीक उसी प्रकार प्रमेय गत विशेषताओं और उनकी आकर्षक रमणीयता का रहस्य भी दर्शनों के आधार पर ही समझा जा सकता है।

चिरन्तन अभ्यास प्रमाता पक्ष में तो भावना और वासनाओं की उस गम्भीरता और गाढ़ता का आधान करता है जिसके कारण आत्मा अपनी सांसारिक अवस्था में अनुभूति से स्पन्दित हो उठता है और प्रमेय पक्ष में रमणीयता का उन्मेष करता है जो अनुभूतियों को जागृत करने में सर्वथा समर्थ होती है। अनादि काल से असंख्य जन्म-जन्मान्तरों में जो अभ्यास किया गया है वह कैसे हटाया जा सकता है। संश्लिष्ट अर्थ का ग्रहण जीव के चिरन्तर अभ्यास से ही होता है। न्यायनय के अनुसार संसार का प्रत्येक पदार्थ दो रूपों में हमारे सन्मुख आता है एक अपने अवयव रूप में और दूसरे अवयवी रूप में। अवयव से अवयवी को सर्वथा भिन्न माना गया है और केवल अवयव सङ्कलन मात्र को अवयवी मानने में न्याय ने बहुत सी आपत्तियाँ खड़ी की हैं। अकाट्य प्रमाणों के आधार पर अवयवी की पृथक् प्रतिष्ठा कर के सांसारिक मनुष्य के चिन्तन में अवयवी की प्रधानता एवं अपरिहार्यता सिद्ध की गई है। तत्वजिज्ञासुओं के लिए अवयव चिन्तन के अभ्यास का उपदेश देकर यह स्पष्टार्थ प्रमाणित किया है कि अवयवी चिन्तन संसारगत रमणीयता और निस्सारता का बोध कराके संसार से विरति या जुगुप्सा को अनुप्राणित करता है। वस्तुत: यही अवयवी चिन्तन और विश्वास सांसारिक मानव के समान कवि के हृदय में भी बद्धमूल हुआ है। वह तत्त्वज्ञानी या मुमुक्षु नहीं जो अवयवों का विश्लेषण कर के संसार के प्रति विरति का उन्मेष करने में सफल हो। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ज्ञानी (दार्शनिक) और विज्ञानी की चिन्तनपद्धति अवयवचिन्तन से अनुप्राणित है अतएव उसमें संसार के प्रति रमणीयता क्षीण हो जाती है परन्तु कवि की कल्पना अवयवि-चिन्तन पर आधारित है जो संसार के प्रति रमणीयता को पीन एवं पुष्ट करती है। इसीलिए कविता को आलोचकों ने शेष सृष्टि के साथ रागात्मिका वृत्ति की प्रतिष्ठा का साधन बताया है। दार्शनिक और वैज्ञानिकों की अवयव-चिन्तन प्रधान पद्धति को विश्लेषणात्मक पद्धति कहते हैं और काव्य के अवयवि-प्रधान चिन्तन पद्धति पर अवलम्बित रचना 'संश्लेषणात्मक' या संश्लिष्ट कहलाती है। यह अवयवि-चिन्तन जीव का सदातन का अभ्यास है। जब साल दो साल के अभ्यासों का त्याग असंभव सा हो जाता है तब जन्मजन्मान्तर में अभ्यस्त अवयवी-चिन्तन की टेव हमारी कैसे छूट सकती है। यही अवयवी चिन्तन हमारे काव्य प्रमेय में सर्वाङ्गीण रमणीयता का आधान इतनी सफलता से करता है कि उसका प्रभाव हमारे हृदय पर सदा अक्षुण्ण रहता है। स्वभावत: हम पर रूखे उपदेशों का और रहस्यपूर्ण पौराणिक प्रवचनों का प्रभाव नहीं जम पाता। दार्शनिकों के सूखे सत्य और वैज्ञानिकों के गवेषणा भरे हुए विश्लेषण हमें आकर्षित करने में असमर्थ होते हैं और कवि अपनी अटपटी अबोध परन्तु सरस रचनाओं से हमें ऐसा प्रभावित करता है कि हम किसी की सुनने को तैयार नहीं होते। इसीलिए कवियों की लेखनी में वह आकर्षण होता है जिससे लाखों उसके अनुयायी हो जाते हैं। शेक्सपियर और मिल्टन पर फिदा होने वाले सहस्रों सहृदय मिल जायेंगे और शायद न्यूटन और गैलेलियो को कोई भी न मिले। गौतम और व्यास के विश्लेषणों या अवयवचिन्तनों ने मनुष्य सामान्य को इतना प्रभावित नहीं किया जितना कालिदास और तुलसीदास की अवयवीचिन्तन पर प्रतिष्ठित पीयूष वर्षिणी प्रतिभा ने। इस प्रकार कवि की कल्पना से अनुप्राणित पद और अर्थ अवयवी की ओर संकेत, अवयवी को लक्षित और अवयवी को ही ध्वनित करते हैं। इस प्रकार काव्य की सर्वाङ्गीण रमणीयता का आधार

भी दार्शनिक अवयवीचिन्तन है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह सुतरां स्पष्ट है कि काव्यगत अनुभूति के मूलाधार सिद्धान्त दार्शनिक चिन्तनों की दृढ़ भूमि पर सुव्यवस्थित हैं। श्रव्य काव्यों के सम्बन्ध में तो यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि दार्शनिक सिद्धान्तों का सहारा बिना लिए उन तत्वों का स्पष्टीकरण असाध्य है। अब रही दृश्यकाव्य की बात। उसमें समाविष्ट काव्य के अंगों के लिए भी उपर्युक्त विवेचन सत्य ही है। हाँ, दृश्य काव्य को अनुप्राणित करने वाले अनुकरण की व्याख्या दार्शनिक आधार पर अभी शेष है। परन्तु गम्भीरता से विचार करने पर उसका दार्शनिक आधार भी स्पष्ट हो सकता है।

दृश्य काव्य का प्राण अनुकरण है। उससे प्रेरित होकर जब शैलूष अनुकार्य की भूमिका में रंगशीर्ष पर खड़ा होता है और अपने आहार्य, वाचिक, आङ्गिक और सात्विक अभिनयों के आधार पर दर्शक की दृष्टि का केन्द्र विन्दु और मानसिक भावनाओं का अवलंब बनता है तो दर्शक का विश्वास उसे सोलहो आना अनुकार्य ही स्वीकार करता है। साधारण से साधारण सड़क पर घूमने वाले लड़के को भी जब रासलीला में राम का रूप दिया जाता है तो असंख्य दर्शक भक्त उसके चरणों में नत होते आरती उतारते और नैवेद्य समर्पित करते हैं। इसी समारोप के कारण दृश्य काव्यों का नाम रूपक पड़ा है। दृश्य काव्य की रंगशाला के अनुरूप वातावरण में अनुकार्य की सौष्ठवमयी भूमिका में खड़ा हुआ शैलूष दर्शकों की दृष्टि में साक्षात् अनुकार्य राम आदि ही है। उसका वास्तविक शैलूष रूप दर्शक के भावनाभिभूत हृदय में अस्त हो जाता है। रंगशाला में आसीन दर्शकों की यह भ्रान्त धारणा निश्चित प्रतीति के रूप में अंकुरित होती है। आचार्य श्री शंकुक ने इस प्रतीति को 'राम एवायम्' 'अयमेव रामः' कहकर अभिव्यक्त किया है। रंगशाला से उठने के पश्चात् उसे भले ही यह ध्यान आता हो कि 'नरामोऽयम्' अर्थात् यह राम नहीं है जिससे उसकी पूर्वकालिक भ्रान्ति शिथिल हो जाती है। इस प्रकार भ्रान्त प्रतीति दर्शक के रसास्वाद का कारण बन जाती है।

यह भ्रान्ति क्या वस्तु है? अतस्मिन् तद् अर्थात् (वास्तविक में अवास्तविक का ज्ञान) ही भ्रान्ति है। **न्याय के अनुसार यह सूक्ति** में रजत की भ्रान्ति के समान ही मिथ्या प्रतीति होने के कारण असत्ख्याति ही कही जायगी और असत् अभावात्मक या अयथार्थ वस्तु में सत्—भावात्मक या यथार्थ वस्तु के समान वास्तविक अनुभूति को जाग्रत करने की सामर्थ्य नहीं हो सकती। अद्वैतवादी इसे अध्यारोप के नाम से पुकारते हैं और माया के समान अनिर्वचनीय ख्याति कहते हैं। इनके अनुसार संसार के अन्य पदार्थों की प्रतीति समान ही रंगशाला में स्थित दर्शक के मन की अनुकार्य विषयक प्रतीति भी अनिर्वचनीय ख्याति ही है। उनके सिद्धान्त से हमारी रंगशाला की प्रतीति अन्य सांसारिक प्रतीतियों के समान ही न सत् हैं और न असत् ही हैं। यदि संसार विषयक अन्य प्रतीतियां सत् हैं तो यह प्रतीति भी उन्हीं के समकक्ष अथवा सत् है। इस प्रकार रंगशाला में यदि हमारे मन में अनुकर्त्ता के विषय में अनुकार्य का विश्वास जमता है तो वह उतना ही सत्य या असत्य है जितनी कि संसार की अन्य वस्तुओं की सत्ता। जितने अंश में संसार असत्य हैं उतने में वह भी हुआ करे तो क्या हानि है। हमारे लिए यह भी पर्याप्त है। हमारा यह दावा तो है नहीं कि संसार असत्य और काव्यगत प्रतीति या अनुभूति सत्य है। क्योंकि काव्य भी संसार में ही अंकुरित हुआ और उसी का अंग है। और फिर संसार को असत् मानना भी तो विवादास्पद है। संसार सत्य है तो यह प्रतीति भी सत्य है। विशिष्टाद्वैतवादी रामानुजाचार्य ने संसार को भी सत् और इस प्रकार की भ्रान्तियों को सत् ख्याति (वाद) माना है। उस सत् ख्यातिवाद के आधार पर हम अपने संसार और रंगशाला दोनों की प्रतीति की सत्यता का समर्थन कर सकते हैं। वस्तुतः दर्शक जो शैलूप के अभिनय व्यापार में अनुकार्य के कार्य व्यापार का विश्वास करके आनन्द की अनुभूति प्राप्त करता है उसका आधार श्री रामानुजाचार्य का सत्य ख्यातिवाद ही है।

कला और कल्पना पर एक दार्शनिक दृष्टि

डा० ब्रजगोपाल तिवारी एम० ए०, पीएच० डी०, डी० लिट्०

"सौन्दर्य-शास्त्र" एक भ्रामक नाम है। इस संज्ञा का प्रयोग, एक प्रकार से, "कला" के स्वरूप और महत्व पर पर्दा डाल देता है। यूनानी भाषा में "सुन्दर" (Kalon) का अर्थ है "भोग के लिये उपयुक्त", "स्तुत्य", तथा "श्रेष्ठ"; किन्तु इन विशेषणों का "कला" से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है और न कला की विषय-वस्तु उपयुक्त, स्तुत्य तथा श्रेष्ठ विषयों तक ही सीमित है; उसका विषय-क्षेत्र, इन विषयों की अपेक्षा, बहुत विशाल एवं व्यापक है। अतः "कला-विज्ञान" को "सौन्दर्य-शास्त्र" की संज्ञा देना उचित नहीं है। भारतीय परम्परा में तो इस नाम का कोई शास्त्र है ही नहीं; पिंगल एवं अलङ्कार शास्त्रों में "रस" की अनुभूति के लिये "सुन्दर" शब्द का उपयोग नहीं हुआ है। पाश्चात्य दर्शन में भी, मुख्यतः १९ वीं शताब्दी में ही, कुछ विचारक "सौन्दर्य-शास्त्र" को "ईस्थेटिक्स" (Aesthetics)[१] का पर्याय-वाची नाम मानने लगे; किन्तु इन विचारकों का कला तथा कलाकारों से बहुत कम सम्पर्क था। शायद इन्हीं विचारकों की भूल को अपनाकर, आधुनिक भारतीय विद्वान भी "सौन्दर्य-शास्त्र" नाम का उपयोग करने लगे।

डा० मुल्कराज आनन्द ने कुलियों की गन्दी कोठरियों का वर्णन किया है; क्या वे गन्दी कोठरियाँ सुन्दर थीं? क्या उन्हें देखकर डा० आनन्द के मन में आनन्द अथवा सौंदर्य की अनुभूति हुई? क्या वीभत्स-रस की अनुभूति में सौंदर्य हुआ करता है? तब तो "सुन्दर" शब्द का प्रचलित अर्थ ही बदलना पड़ेगा। हाँ, कलाकार को अपनी वेदना की अभिव्यक्ति के पश्चात् शायद वैसी ही राहत मिलती है जैसी कि गर्भवती स्त्री को प्रसव के पश्चात् या दुखी के पैर से काँटा निकल जाने के बाद; किन्तु इस "राहत" की अनुभूति को भी "सुन्दर" नहीं कहा जा सकता। कान्ट महोदय "सुन्दर को "आकर्षक" से भिन्न बतलाते हैं; और कालिंगवुड सौन्दर्य की अभिव्यक्ति को कला का स्वरूप-लक्षण नहीं मानते हैं। इनके अतिरिक्त, जो विचारक, कला का कार्य "चित्रण" अथवा किसी विषय-वस्तु का प्रतिरूप (नकल) करना नहीं मानते हैं, वे भी सौंदर्य-शास्त्र की अपेक्षा "कला-विज्ञान" ही को उपयुक्त संज्ञा समझते हैं।

कला-विज्ञान क्या है? कला एक प्रकार की क्रिया है, जिसके भलेपन या बुरेपन के बावत निर्णयात्मक वाक्य (judgements) बनते हैं; इन वाक्यों के समन्वित समूह को "विज्ञान" कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में, समालोचक (Critics) किसी कला-कृति को भला या बुरा, सुन्दर या असुन्दर कहते हैं; किन्तु कला-विज्ञान में हम उनकी समालोचना के भी औचित्य या अनौचित्य पर विचार करते हैं। इस प्रकार कला-विज्ञान **समालोचना की समालोचना है।**

कला का कल्पना से सम्बन्ध

कला क्या है? कवि शैले के शब्दों में, **"कला कल्पना की अभिव्यक्ति है"**[२] तब प्रश्न उठता है कि **"कल्पना"** क्या है। कल्पना के विषय में कई प्रकार के

१--यूनानी भाषा में "ईस्थानोमाई" (Aisthanomai) शब्द का अर्थ है चक्षु-इन्द्रिय-द्वारा-प्रत्यक्षीकरण अथवा देखना; इसी क्रिया से "ईस्थैटीकॉस" (Aisthetikos) संज्ञा निकली है; इस प्रकार, "ईस्थैटिक्स" शास्त्र का सम्बन्ध "संवेदना" (Sensation) से रहा है। संवेदना का विषय "सुन्दर" तक ही सीमित नहीं है।

२--डीविट ऐच पार्कर, "बीसवीं शताब्दी का दर्शन" (सम्पादक--डी० डी० रून्स--पृष्ठ--४७)

भ्रामक मत प्रचलित हैं; कुछ उसे एक प्रकार का खयाली पुलाव समझते हैं, तो कुछ उसे एक प्रकार की दिव्य-दृष्टि बतलाते हैं। दार्शनिक दृष्टि से, "कल्पना" वही है जिसे प्राचीन बौद्ध विचारक, दिङ्नाग व धर्म-कीर्ति "मानस-प्रत्यक्ष" संज्ञा से सम्बोधित करते हैं। बौद्धों के अनुसार, प्रत्यक्षीकरण **चार प्रकार** का होता है: (१) इन्द्रिय-निमित्तम् अर्थात् वह "**संवेदना**", जो किसी बाह्य उत्तेजना के (किसी ज्ञानेन्द्रिय द्वारा निर्मित) प्रतिफल के रूप में होती है, जैसे वायु में तेज की उर्मियों के एक विशिष्ट प्रकार के प्रकम्पन से चक्षु-इन्द्रिय को लाल रंग की निर्विकल्प प्रतीति (Bare Sensation)। न्याय एवं मीमांसा के अनुसार, निर्विकल्प प्रतीति धुंधली तथा अनिश्चित होने के कारण सविकल्प संवेदना (Determinate Perception) की अपेक्षा निम्न-श्रेणी की होती है किन्तु सौत्रान्तिक बौद्ध "**निर्विकल्प संवेदना**" ही को यथार्थ एवं सत्य प्रतीति मानते हैं।[१] उनके अनुसार, जब इस प्रतीति पर हमारा मानस विकल्प (Thought-Construction) अर्थात् नाम, जाति, सामान्य, द्रव्य, गुण, कर्म आदि प्रत्यय लाद देता है, तब, यथार्थ में, इस मानसिक क्रिया द्वारा सच्चे प्रत्यक्षीकरण से दूर हटकर, हम बौद्धिक (Conception) अथवा "अनुमान" की प्रक्रिया में पड़ जाते हैं; "अनुमान" भ्रामक हो सकता है; पर "निर्विकल्प संवेदना" द्वारा हमें सदा सत्य अथवा वास्तविकता की ही प्रतीति मिलती है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार भी, जब शुद्ध संवेदना में पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष-ज्ञान (Apperception) का अर्थात् पुराने अनुभव द्वारा प्राप्त अर्थ (Meaning) का सम्मिश्रण होता है, तब ही (सविकल्प) प्रत्यक्षीकरण होता है।

यहाँ एक कठिनाई उपस्थित होती है। यदि हम प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया में से पूर्वानुवर्ती प्रत्यक्ष ज्ञान का अंश निकाल दें, तो फिर शुद्ध संवेदना (Pure Sensation) शेष रह तो अवश्य जाती है; पर शुद्ध संवेदना की किसी को अनुभूति नहीं होती है; वह अन्तर्दृष्टि (Self-introspection) द्वारा प्राप्त नहीं है; वह केवल बौद्धिक विश्लेषण द्वारा ही मान ली जाती है। शुद्ध संवेदना का विषय (Sensum) कौंधने वाली बिजली के समान, क्षणिक, गतिशील एवं अस्पष्ट होता है। तब उसके द्वारा, विकल्प (Thought-construction) रहित, प्रत्यक्षीकरण की सामग्री कैसे मिल सकती है? इस कठिनाई का निवारण "मानस-प्रत्यक्ष" को मान लेने से होता है और दिङ्नाग, धर्मकीर्ति तथा कान्ट ने ऐसा ही किया है। उनके अनुसार, शीघ्रगामी संवेदनाओं के हमारे मनस से पूर्ण रीति से ओझल हो जाने के पूर्व ही, हमारा चैतन्य उनमें से, जन्म-जात रुचियों के अनुसार, कुछ को पकड़ कर ध्यान (Attention) के प्रकाश में ले आता है और उन संवेदनाओं के शेष भाग एवं उनके बिम्ब या प्रतिमा (Image) का प्रत्यक्षीकरण करता है। इस प्रकार मानस-प्रत्यक्ष (Imagination) का स्थान हमारे मानसिक जीवन में, संवेदना (Sensation) और विचार (Thought) के बीच में है; अतः वह इन दोनों से भिन्न है और दोनों के बीच में मध्यस्थ का काम करता है।[१] सारांश यह है कि जिस "अनुभव" के नाम पर अनुभववादी ही विज्ञान और कला की इमारत खड़ी करते हैं, **उस इन्द्रिय-जन्य अनुभव—यहाँ तक कि प्रत्यक्षीकरण (Perception) की क्रिया की नींव "मानस-प्रत्यक्ष" अथवा "कल्पना" पर अवलम्बित है; किन्तु यह कल्पना भी "संवेदना" (Sen-**

१—दिङ्नाग का प्रमाण-समुच्चय, भाग १ (ऐच० आर० ऐच० आइन्गार द्वारा संस्कृत में पुनः स्थापित), पृष्ठ ८; तथा स्केयर बैटसकाय कृत "बौद्ध तर्क-शास्त्र," जिल्द १, पृष्ठ २१७।

१—धर्मकीर्ति कृत प्रमाण वार्तिक (मनोरथ नन्दिनी सहित), बिहार ओ० सो० पटना का जर्नल। "प्रत्यक्ष" के अन्य दो भेद (३) स्व-संवेदन अथवा सुख दुःख आदि आन्तरिक दशाओं की प्रतीति (४) योगि-प्रत्यक्ष अथवा सन्तों की भावना (ध्यान) द्वारा इन्द्रिय-रहित, बौद्धिक प्रतीति हैं।

sation) **पर अवलम्बित है; कल्पना खयाली पुलाव नहीं है ।**

पाश्चात्य दर्शन ने प्राचीन भारतीय बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के **"मानस-प्रत्यक्ष"** सम्बन्धी निर्णय को स्वतन्त्र ढंग से ढूंढ़ निकाला; पर इस अनुसंधान में कई पीढ़ियाँ बीत गई । प्रश्न यह था कि सच्ची संवेदना (Sensum or Sense-datum) जैसे लाल रंग की मौलिक प्रतीति में और भ्रामक प्रतीति (Illusion) में तथा कल्पित प्रतीति (Imaginary Seusum) में भेद है या नहीं; और उनमें यदि अन्तर है, तो किस बात में अन्तर है । बुद्धिवादी विचारक अर्थात् देकार्त, स्पिनोजा, लाइबनीत्श आदि गणित के, बुद्धि द्वारा प्राप्त, निर्णयों को सत्य और इन्द्रिय-जन्य अनुभव को भ्रामक मानते थे; जड़वादी हॉब्स का भी यही मत था । अत: ये लोग समस्त इन्द्रिय-जन्य अनुभव को भ्रामक बतलाकर, आधुनिक भौतिक विज्ञान की प्रगति के मार्ग में दार्शनिक बाधा डाल रहे थे । फिर जॉन लॉक महोदय आए; उनका मत था कि समस्त संवेदनाओं (Sensations) की प्रतीति सच्ची हुआ करती है । पर वे यह न बतला सके कि तब **"भ्रम"** क्या है और कैसे होता है । इनके बाद बर्कले महोदय ने यह सुझाव प्रस्तुत किया कि कल्पित अथवा भ्रामक प्रतीतियों में तो हमारा मनस उतना ही सक्रिय रहता है जितना कि वह ऐच्छिक संकल्पों के निर्माण में रहता है; किन्तु सच्ची संवेदनाओं की क्रिया में, मनस बाहर से आने वाली उत्तेजना को विवश होकर, निष्क्रिय ढङ्ग से, ग्रहण करने के लिये बाध्य होता है । अत: ज्ञानेन्द्रियों की वास्तविक प्रतीतियाँ (या संवेदनाएं) भ्रामक प्रतीतियों की अपेक्षा, अधिक स्पष्ट और जोरदार होती हैं । किन्तु इस मत के अनुसार, किसी प्रतीति के जोरदार या कमजोर होने का निर्णय किसी व्यक्ति के निजी आत्म-निरीक्षण पर ही निर्भर होगा; दूसरे व्यक्ति उसकी प्रतीति की जाँच न कर पायेंगे । इसके अतिरिक्त कुछ विभ्रम (Hallucinations) भी ऐसे होते हैं; जिनमें किसी व्यक्ति-विशेष को विवश होकर किसी रूप या ध्वनि को ग्रहण करने के लिये बाध्य होना पड़ता है ।

इस कठिनाई को देखकर, बर्कले एक दूसरा सुझाव रखते हैं; वे कहते हैं कि सच्ची प्रतीति (संवेदना) प्रकृति के नियमों के अनुकूल होती हैं; और कल्पित या भ्रामक संवेदना प्रकृति के नियमों के विपरीत (Wild) होती है ।[1] किन्तु यह मत भी समीचीन नहीं है; भ्रम विभ्रम आदि में भी प्रकृति के भौतिक नहीं तो मनोवैज्ञानिक नियमों का अवश्य पालन होता है । ह्यूम (Hume) भी यही मानते हैं कि वास्तविक प्रत्यक्षीकरण में हमारा मनस बाह्य संवेदना से दब जाता है; किन्तु भ्रामक संवेदना में हमारा मन सक्रिय होकर मन-मोदक बनाने लगता है; पर निद्रावस्था, ज्वर, पागलपन तथा उद्भ्रान्त दशाओं में हमारा मनस उतना ही दबा रहता है जितना कि वास्तविक बाह्य संवेदना ग्रहण करते समय । पर—इन अपवादों में—ऐसा क्यों होता है, ह्यूम समझ नहीं पाते ।[2] कान्ट महोदय इस समस्या को एक नये ढङ्ग से सुलझाते हैं । उनके मतानुसार, संवेदनाएं या प्रतीतियाँ (Sense-impressions) तो सब की सब एक ही प्रकार की अर्थात् वास्तविक हुआ करतीं हैं, किन्तु उनमें अन्तर हमारे मनस द्वारा अर्थीकरण (Interpretation) के कारण पड़ जाता है; जब हमारा मनस ज्ञानेन्द्रिय द्वारा गृहीत संवेदना का ठीक ठीक अर्थ लगा लेता है, तब हमें वास्तविक संवेदना (Real sensum) प्राप्त होती है; पर जब मनस किसी संवेदना का गलत अर्थ लगाता है, तब हमें भ्रम (Illusory sensum) का अनुभव होता है; और जब हमारा मनस किसी संवेदना का

१—आधुनिक दार्शनिकों—ब्रॉड तथा प्राईस का भी यही मत है ।

२—समस्त भारतीय दर्शनों में भ्रामक प्रतीति (ख्याति) और सत्य प्रतीति के भेद का गम्भीर अध्ययन मिलता है; किन्तु कल्पित प्रतीति और भ्रामक प्रतीति के भेद का अध्ययन बौद्ध दार्शनिकों को छोड़ कर, अन्य दार्शनिकों की कृतियों में कम मिलता है ।

कोई भी अर्थ नहीं लगाता अर्थात् उसकी सत्यता, असत्यता आदि के बाबत कुछ भी विकल्प (Thought-construction) संवेदना पर नहीं लादता, तब हमें कल्पित संवेदना (Imaginary sensum) मिलती है। इस प्रकार कान्ट की "कल्पना" की व्याख्या दिङ्नाग और धर्मकीर्ति की "मानस-प्रत्यक्ष" की व्याख्या से मिलती जुलती है।[1]

हम ऊपर कह चुके हैं कि पूर्व-स्थित इन्द्रिय-प्रत्यक्ष संवेदना अथवा प्रतीति (Sensum) पर हमारा चैतन्य कब्जा कर लेता है, उसे अपना लेता है और उस पर "ध्यान" (Attention) देकर, उसकी क्षणिकता को दूर करके, उस संवेदना को स्थायी तथा दृढ़ बना लेता है। इस प्रकार, चेतना के प्रकाश में मूल संवेदना का स्वरूप बदल जाता है; उदाहरणार्थ, आरम्भिक प्रतीति द्वारा, एक व्यक्ति तिलमिला उठता है या किसी से क्रुद्ध हो जाता है या एक क्षणिक लालिमा को देखता है; किन्तु **"चेतना"** के प्रकाश में, वह जान लेता है कि मैं तिलमिला रहा हूँ या "मुझे क्रोध या बेचैनी हो रही है", "यह लालिमा है", आदि। इस चेतना से क्रोध का रूप बदल जाता है; उसकी बर्बरता, उजड्डपन व तीव्रता निकल जाती है; और उसका स्तर ऊंचा हो जाता है। इस "चेतना" को "मानस-प्रत्यक्ष" या "कल्पना" कहा जाता है। किन्तु यह "चेतना" "बुद्धि", "विचार" या "प्रज्ञा" से भिन्न अथवा निम्न है। जब, आगे चलकर, किसी प्रत्यक्ष प्रतीति का अन्य प्रतीतियों से सम्बन्ध (Relation) स्थापित होने लगता है; एक प्रतीति की दूसरी प्रतीतियों से तुलना होने लगती है और समानता और भेद स्थापित होने लगता है, वर्गीकरण होने लगता है अथवा कान्ट की बतलाई हुई संज्ञा, प्रत्यय (categories) द्वारा, प्रत्यक्ष प्रतीति (percept) प्रत्यय (concept) का रूप लेने लगती है, तब "विचार" अथवा "बुद्धि" की क्रिया दृष्टिगोचर होने लगती है। पर "कल्पना" का स्तर "बुद्धि" के स्तर से पूर्व व निम्न है; "कल्पना" "बुद्धि" से भिन्न है। साराँश यह है कि **"कल्पना(मानस–प्रत्यक्ष) बुद्धि अथवा योजना, निर्माण, इच्छा, संकल्प आदि के पूर्व और उनसे स्वतन्त्र हैं; कल्पना ही से बुद्धि और संकल्प को विषय-सामग्री मिलती है। इसके अतिरिक्त, कल्पना एक प्रकार का प्रत्यक्षीकरण है; कल्पना न तो कोई अलौकिक दिव्य-दृष्टि है, जिसके द्वारा जहाँ रवि नहीं पहुँच सकता, वहाँ भी** कवि पहुँच जाता है और **न ही वह एक प्रकार का मन-गढ़न्त खेल,** खयाली पुलाव या स्वप्न या फरेब है; कवि और कलाकार को लबार या फरेबी या एक पवित्र झूठ का निर्माता समझना भूल है।

कल्पना का संवेग (Emotion) से सम्बन्ध।

प्रत्येक मानसिक क्रिया के साथ सदा किसी न किसी प्रकार की भावना (Feeling) रहा करती है; एक नन्हें से बच्चे के, किसी विदेशी पुरुष को देखकर, चौंककर झिझक जाने से लेकर, गाँधी जी के "भारत छोड़ो" के नारे तक, हम क्रिया-क्षेत्र एवं विचार-क्षेत्र सम्बन्धी समस्त चेतनाओं में **संवेग** का अस्तित्व भी पायेंगे। **अतः कल्पना का संवेग से घनिष्ट** सम्बन्ध है,—यहाँ तक कि हम ऐसा भी कह सकते हैं कि **कल्पना संवेग से ओतप्रोत है अथवा कल्पना ही संवेग है।** कालिंगवुड महोदय, भिन्न-भिन्न ज्ञानात्मक क्रियाओं के साथ में आने वाले संवेगों के निम्नलिखित स्तर बतलाते हैं—

(१) मूल (इन्द्रिय-जन्य) संवेदना (Sensum) के साथ में आरम्भिक भावना (Psychic feeling) होती है—यथा, बड़े जोर की ध्वनि सुनकर बच्चा भयभीत होकर रो पड़ता है।

(२) इससे ऊंचे स्तर पर, कल्पना या मानस-प्रत्यक्ष के साथ में उसी के अनुरूप **संवेग** भी हुआ करता है—यथा, तिलमिला जाने पर यह **आत्म-प्रतीति** कि मैं तिलमिला गया हूँ। कल्पना आत्मा या चेतना ही की

१—कल्पना का प्राचीन साहित्य में, एक और भी पर्यायवाची शब्द 'प्रतिभान' मिलता है; देखिये हिरियाना कृत कलात्मक अनभूति।

प्रतीति है; और यह प्रतीति आरम्भिक उष्ण, तीव्र और आवेशपूर्ण भावनाओं को बदलकर, उन्हें ऊँची उठा देती है।

(३) विचार प्रत्ययों (Concepts) के साथ आने वाले सँवेग यथा नेहरू जी के मन में "युद्ध" प्रत्यय के विचार के साथ ही एक प्रकार की ग्लानि का उत्पन्न होना।

(४) बौद्धिक स्तर पर किसी सम्पूर्ण प्रणाली के बोध से उत्पन्न होने वाले संवेग—यथा, महात्मा बुद्ध के मानव-जीवन की क्षण-भंगुरता के सम्बन्ध में उद्वेग।

प्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक हिरियाना महोदय,[1] कविता के दो स्तरों की व्याख्या करते समय, लिखते हैं कि कविता के ये स्तर **संवेग** पर अवलम्बित होते हैं अर्थात् निम्न-श्रेणी की कविता में संवेग फीका (Marginal) हुआ करता है; किन्तु उच्च श्रेणी की कविता अथवा शुद्ध रस की प्रतीति में संवेग गम्भीर व स्थायी होता है। किन्तु यथार्थ में सभी संवेग गर्म, उग्र और जोरदार हुआ करते हैं। अत: कविता के उपर्युक्त भेद संवेगों की गहराई या उनके उथलेपन पर अवलम्बित नहीं हैं; वरन् कविता तथा संवेगों के भेद उपर्युक्त ज्ञानात्मक स्तरों पर अवलम्बित हैं। हम १८ वीं शताब्दी के समालोचकों के इस मत को नहीं मानते कि कविता में बौद्धिक विचारों ही की अभिव्यक्ति हुआ करती हैं; इसके विपरीत यही कहना उचित है कि कविता में भावनाओं, संवेगों, उद्वेगों ही का प्रकाशन होता है। पर, साथ ही साथ, हम १९ वीं शताब्दी के संवेग-वादियों के इस मत को भी भ्रामक मानते हैं कि कविता और कला में केवल संवेग ही संवेग हुआ करता है। ये बुद्धि-विरोधी आन्दोलन-कर्त्ता यह भूल जाते हैं कि संवेग कोरी हवा में नहीं टँगे रहते हैं; संवेगों का बुद्धि तथा विचारों से भी घनिष्ट सम्बन्ध हुआ करता है; दार्शनिक चाहे भले ही महान् कवि न हो; पर महाकवि अवश्य ही दार्शनिक हुआ करता है; लेकिन वह दार्शनिकता को पचाकर, उससे सम्बन्ध रखने वाले संवेगों और उद्वेगों की अभिव्यक्ति करता है। संवेगों और विचारों का समन्वय करते हुए, तुलसीदास जी कहते हैं—

> हृदय सिन्धु मति सीप समाना।
> स्वाती शारद कहँहि सुजाना॥
> जो वर्षहिं बर-बारि विचारू।
> होंहि कवित्त मुक्ता मणि चारू॥

अर्थात् हृदय (संवेदना-भावना) के महासागर में मति (चेतना) सीप के समान है; जब, किसी सुन्दर घड़ी (प्रसंग) में, शारदा (कल्पना) कृपा करती हैं और विचारों की वर्षा होती है, तब सुन्दर कवि-कृतियों का जन्म होता है।

इस प्रसंग में, एक और भी स्पष्टीकरण आवश्यक है। अभी तक हमने दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, कान्ट और कालिंगवुड की विचारावली के प्रकाश में, कल्पना अथवा मानस-प्रत्यक्ष का स्थान संवेदना (Sensation) और बुद्धि (Thought & Reason) के बीच में बतलाया है; किन्तु यह कल्पना का केवल आरम्भिक स्तर है। ऊपर बतलाए हुए, ज्ञानात्मक क्रियाओं के स्तरों के अनुरूप कल्पना के भी स्तर होते हैं; जिस प्रकार प्रत्येक स्तर के अनुरूप संवेग होते हैं, वैसे ही कल्पना भी होती है। तर्कशास्त्र में आगमन (Induction) की क्रियाओं तथा वैज्ञानिक पद्धतियों और अन्वेषणों की व्याख्याओं में कल्पना (Hypothesis) को बहुत उच्च स्थान दिया जाता है और कवि एवं कलाकार भी सूझ-बूझ और प्रकाश (Illumination) के उन क्षणों का उल्लेख करते हैं, जिनमें उनकी चेतना में विचारों और संवेगों का एक नया रूप साकार या मूर्तिमान हुआ है। अत: विचार और बुद्धि के स्तरों में, "कल्पना" वह मानसिक क्रिया है, जिसके द्वारा हमें किसी सम्पूर्ण परिस्थिति का प्रथम बोध, एक ही साथ, एक साकार अथवा मूर्तमान (Concrete) रूप में हो जाता है और ऐसा होते ही उसी के अनुरूप संवेग (Emotion) भी खड़ा हो जाता है।

१—हिरियाना "कलात्मक अनुभूति" डा० ऐस० राधाकृष्णन की षष्टि-पूर्ति के अवसर पर समर्पित अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ १७६–१८८।

कल्पना-संवेग (Imagination—Emotion) और अभिव्यक्ति (Expression)

अभिव्यक्ति (Expression) सूचना-दान (Communication) से भिन्न है; **उसका कार्य समझाना नहीं है, वरन् समझना ही है।**

प्रत्येक स्तर पर, प्रत्येक संवेग के साथ ही साथ, उसकी अभिव्यक्ति भी हो जाया करती है। उदाहरणार्थ, बच्चा भय अथवा क्रोध के कारण रो पड़ता है अथवा किसी तेज प्रकाश से चकाचौंध होने पर, उसकी आँखें मिंच जाती हैं; इन क्रियाओं में रुदन तथा आँखें मिचना अभिव्यक्ति के ही रूप हैं। ऊँचे ज्ञानात्मक स्तरों पर, अभिव्यक्ति का रूप बदल जाता है; उदाहरणार्थ—

एक ७--८ वर्ष का बालक किसी गद्दे पर बैठा है; गद्दा चुभ रहा है और इस कारण, बच्चे को एक मन्द-मन्द वेदना की अनुभूति हो रही है; कुछ देर में, इस वेदना के तीव्र हो जाने पर, वह कुछ उठकर या खिसक कर देखता है कि नीचे कोई कील या कँकड़ी थी; तब उस वेदना की उसे प्रतीति हो जाती है। इसी प्रकार किसी कवि या उसके समाज के मन में कोई अज्ञान बेचैनी, बेकरारी, असंतोष अथवा वेदना है; कवि उस पर ध्यान (कल्पना) का प्रकाश डालकर, उस वेदना को समझ लेता है; इसी समझने का दूसरा नाम **अभिव्यक्ति** या **प्रकाशन** है। इसी अभिव्यक्ति का नाम "**कला**" है। इस प्रकार कला एक ऐसी (मानसिक) क्रिया है जिसके बिना व्यक्ति या समाज अपने को समझ नहीं पाता है; और जब तक वह अपने को समझ नहीं सकता, तब तक वह अपने को सुधार भी नहीं सकता है। इससे स्पष्ट है कि कलाकार समाज का गुरु या चिकित्सक है।

किसी-किसी समाज में विधि-निषेध ऐसे होते हैं अथवा किसी व्यक्ति में दुर्बलता ऐसी होती है, जिसके कारण व्यक्ति अपनी आन्तरिक बेचैनी, भय, क्रोध अथवा कामेच्छा को अपने ही से छिपाने लगता है; और इस प्रकार वह अपने ही को धोखा देने लगता है। इस प्रकार की क्रिया से उस व्यक्ति और समाज की मूल चेतना ही बिगड़ जाती है और उसका मानसिक विकास समाप्त हो जाता है। मानव की अभिव्यक्ति या प्रकाशन का आरम्भिक रूप सम्भवतः नृत्य रहा होगा; अब भी लोग खुशी में नाचने लगते हैं। हाथ, पाँव, आँखों या चेहरे की मुद्राएँ व इशारे (Gestures)—मुँह बनाना, नाक, भौं सिकोड़ना आदि—भी अभिव्यक्ति ही के रूप हैं। पर ये रूप पशुओं में भी मिलते हैं; मनुष्य ने अपनी कल्पनाओं-संवेगों की अभिव्यक्ति का एक नया माध्यम पा लिया है; वह है भाषा। इस प्रकार, कई विचारक "भाषा" ही को कला का पर्यायवाची शब्द मानते हैं।

भाषा के भी कई स्तर होते हैं; उच्चतम स्तर है बौद्धिक भाषा (Intellectualized language)। कोई-कोई समझते हैं कि बुद्धि के धरातल पर **संवेग** खत्म हो जाता है; पर यह भूल है; बुद्धि के स्तर पर, नवीन नवीन कल्पनाओं और संवेगों का जन्म होता है और उन संवेगों की अभिव्यक्ति नवीन-नवीन शब्दों द्वारा होती है।

कुछ निष्कर्ष

कल्पना, संवेग और अभिव्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध की उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट हो गया होगा कि हम क्यों कवि शैले के मत "कला कल्पना की अभिव्यक्ति है" को समीचीन मानते हैं। अब इस व्याख्या से निकलने वाले कुछ निर्णयों पर विचार करना आवश्यक है :—

(१) कला न तो किसी विषय-वस्तु के प्रतिरूप का निर्माण (Representation) अथवा उक्त वस्तु की नकल (Imitation) उतारना या चित्रण करना ही है और न शुद्ध सृजन (Creation) ही। असल की नकल करने में शिल्पकार के सामने कुछ उद्देश्य रहता है; शिल्पकार किसी साध्य की पूर्ति के लिए साधन जुटाता या एकत्रित करता है; किन्तु कवि और कलाकार केवल आत्माभिव्यक्ति करता है; उसके सामने कोई बाह्य उद्देश्य नहीं रहता है, जिसकी उसे पूर्ति या गुलामी करनी पड़े। फिर कलाकार कल्पना से काम लेता

है, न कि अनुकरण से; उदाहरणार्थ, सामने वाली मेज की यथार्थ फोटो में मेज का एक भाग या अंश ही चित्रित होगा; पर कल्पना द्वारा कलाकार मेज के उस भाग का भी प्रत्यक्षीकरण करता है जिस पर कि इस समय उसकी नजर नहीं पड़ रही है। अतः इस अर्थ में कला शिल्प या फितरत या कारीगरी से भिन्न है।

(२) साथ ही साथ, यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि कला को कोरा सृजन भी नहीं कहा जा सकता है; "सृजन" शब्द से, बहुतों के मन में यह भ्रम हो जाता कि कला-कृति एक प्रकार के दिवा-स्वप्न, मन-तरङ्ग, मनगढ़न्त, खयाली पुलाव या स्वप्न-सृष्टि के समान है; पर हम ऊपर देख चुके हैं कि यह मत भ्रामक है।

(३) उपर्युक्त व्याख्या से दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि कला का कार्य आमोद-प्रमोद या तफ़रीह (Entertainment) या—आजकल की शब्दावली में—"रसास्वादन" की सामग्री प्रस्तुत करना नहीं है। आमोद-प्रमोद का जीवन में एक आवश्यक स्थान है; पर उसका प्रबन्ध करना "शिल्प" (Craft) का कार्य है, कला (Art) का नहीं। इसी बात को ध्यान में रखकर प्राचीन यूनानी दार्शनिक अफलातून (Plato) आमोद-प्रमोद प्रदान करने वाले कवियों और कलाकारों को अपने मनोवांछित प्रजातंत्र से निकाल देना चाहता था। पर आधुनिक कवि-सम्मेलनों, मुशायरों, पत्रिकाओं आदि में प्रायः इसी प्रकार की शिल्पकारी को कविता की संज्ञा दी जाती है।

(४) पर, साथ ही साथ, कला का उद्देश्य जनता में ऊंची भावनाएं भरना, लोगों के स्तर को ऊंचा उठाना, शिक्षण अथवा उपदेश प्रदान करना अथवा व्यावहारिक जीवन के योग्य बनाने के लिये श्रोताओं व पाठकों के हृदयों में उत्तम भावनाएं, संवेग, उद्वेग, विचार, आदर्श, मूल्य आदि का संचार करना भी नहीं है। उपर्युक्त उद्देश्य बुरा नहीं है; आधुनिक जीवन में तो इस कार्य की बड़ी आवश्यकता है। पर इस उद्देश्य की पूर्ति भी "शिल्प" का कार्य है, "कला" का नहीं।[1]

शिल्प में आत्माभिव्यक्ति नहीं होती; उसमें तो किसी उद्देश्य की पूर्ति या किसी संवेग का किसी व्यावहारिक, जीवनोपयोगी क्रिया में संवलन (Discharge) होता है। प्राचीन जादूगर, ताँत्रिक आदि अपने शिष्यों में, एक उत्तम प्रकार के शिल्प द्वारा, ऊँचे सँवेग या विचार भर देते थे। मध्य-काल के भक्त-कवि तथा आधुनिक प्रगतिशील लेखक भी लोगों में श्रेष्ठ एवँ जीवनोपयोगी संवेग और विचार उत्पन्न, विकसित अथवा जागृत करना चाहते हैं; किन्तु यह कार्य "शिल्प" का है; "कला" "शिल्प" से पूर्णतया भिन्न है; "कला" आत्माभिव्यक्ति ही का दूसरा नाम है; आत्माभिव्यक्ति अथवा अपने दिल की बेचैनी का स्पष्टीकरण एक स्वस्थ व साधारण मानसिक आवश्यकता है; वह किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये नहीं की जाती; आत्माभिव्यक्ति द्वारा तो कलाकार अपनी मानसिक वेदना (या तनाव से) छुटकारा (निजात) पाता है।

हाँ, यह दूसरी बात है कि किसी कलाकार की आत्माभिव्यक्ति के फल-स्वरूप लोगों को आमोद-प्रमोद अथवा आत्मोत्थान की सामग्री प्राप्त हो; किन्तु ये प्रतिक्रियाएं या प्रतिफल "कला" नहीं हैं, वरन् कला के फल या उपयोग हैं। इस प्रकार तो किसी कलाकार की आत्माभिव्यक्ति से किसी विज्ञापन के छापने वाले या प्रकाशक को भी सामग्री मिल सकती है।

(५) तो क्या दृढ़ विश्वासों, स्थायी भावों, गँभीर संवेगों, उत्तम वादों का "कला" में कोई स्थान नहीं? हमारा तो यह मत है कि बिना दृढ़ विश्वासों और गम्भीर संवेगों के स्वस्थ कला हो ही नहीं सकती है। हम उन लोगों से सहमत नहीं हैं जो "कला कला ही के

१—कुछ कलाकारों की रचनाओं या कृतियों में आमोद-प्रमोद की अथवा आत्मोद्धार की अथवा विज्ञापन (Advertisement) की सामग्री मिल सकती है; किन्तु यह कला नहीं; वरन् कला का उपयोग (Application) है।

लिये हैं" का नारा लगाते हैं। कला शून्य में नहीं टंगी रहती है। कलाकार का जीवन से, समाज व जनता से सम्पर्क रखना परमावश्यक है। विषय-वस्तु की अवहेलना करते हुए, शैली (Style) की एकांगी पूजा करना भूल है। आत्माभिव्यक्ति या आत्म-प्रकाशन खोखले मस्तिष्क और उथले हृदय की पाशविक क्रिया का नाम नहीं है। कलाकार को वादों का अध्ययन करना चाहिये, लिखना सीखना चाहिये तथा समाज के जीवन से सम्पर्क रखना ही नहीं, वरन् समाज को अपनी रचनाओं का साझीदार भी,—लोगों से मिलने-जुलने और उनसे परामर्श द्वारा—बनाना चाहिये। अतः समाज से, घनिष्ट सम्पर्क रखने पर ही कलाकार को कल्पनाओं-संवेगों की प्रतीति होती है।

किन्तु, साथ ही साथ, यह भी न भूलना चाहिये कि वादों, विचारों और विश्वासों का हमारे मानसिक जीवन में वही स्थान है, जो अन्न, फल आदि का हमारे शारीरिक जीवन में है। अन्न, साग, फल आदि के बिना रक्त नहीं बन सकता है; किन्तु अन्न, साग-फल आदि खून नहीं हैं; उनके रक्त में परिणत होने के लिये शरीर को पाचन-क्रिया करनी पड़ती है। इसी प्रकार, विचारों, विश्वासों, आदर्शों आदि को पचाकर व्यक्तित्व का अङ्ग बनाना आवश्यक है। इस क्रिया की जटिलता को भूलकर, कुछ विचारक इसका अत्यधिक सरलीकरण (Over-simplification) कर डालते हैं।

(६) इससे भी अधिक महत्व की बात, जो बहुत से प्रगतिशील विचारक भूल जाते हैं, यह है कि कल्पना की क्रिया इच्छा से पूर्व होती है और इच्छा से स्वतन्त्र होती है। कल्पना की अवस्था सत्य अथवा असत्य के निर्णय (बौद्धिक विचार द्वारा) के पूर्व होती है; इसी प्रकार कल्पना इच्छा-अनिच्छा, राग-द्वेष आदि के प्रति भी उदासीन रहती है। इस मानसिक तथ्य को मान लेने से यह निष्कर्ष निकलता है कि आप या कोई भी तानाशाह—चाहे वह व्यक्ति हो या समुदाय—किसी कलाकार को यह आदेश नहीं दे सकते हैं कि "भाई, अमुक विषय पर अमुक प्रकार की कल्पना करो।"

जिस प्रकार आप किसी पुरुष और स्त्री को ऐसा वातावरण भले ही प्रदान करें जिसमें उनमें एक दूसरे से प्रेम हो जाना सम्भव हो सके; किन्तु आप निश्चित और अनिवार्य रूपसे यह नहीं कह सकते हैं कि उनमें प्रेम हो ही जायगा, क्योंकि प्रेम आपके नियन्त्रण से बाहर है, उसी प्रकार आप, बटन दबाकर, कवि की कल्पना को प्रेरित नहीं कर सकते हैं। वे लोग जो कलाकरों से कहा करते हैं कि "यह कर" अथवा "यह न कर" इस बात को भूल जाते हैं।

(७) अन्त में फिर इस बात पर बल देना आवश्यक है कि (क) कला आत्माभिव्यक्ति है;[1] (ख) आत्माभिव्यक्ति से व्यक्ति और समाज को आत्म-ज्ञान (Self-discovery) होता है; और (ग) आत्म-ज्ञान से आत्म-निर्माण (Self-making) होता है। इस अर्थ में कला व्यक्ति और समाज के लिये एक उत्तम क्रिया है; और कलाकार समाज का द्रष्टा, ऋषि, गुरु या चिकित्सक है।[2]

:————:

१—कल्पना द्वारा प्रस्तुत आत्म-अभिव्यक्ति के सार पर पहुँचने पर वृत्तियाँ उदाहरणार्थ काम-वृत्तियाँ, क्रोध-वृत्तियाँ आदि का रूप बदल जाता है और कभी-कभी वे शान्त भी हो जाया करतीं हैं। किन्तु ऐसा न होने पर लड़के, लड़कियाँ और प्रौढ़ व्यक्ति भी दिवा-स्वप्नों (Fantasies) के रौरव नरक में अपनी इच्छाएं मन-मोदकों द्वारा, पूरी करने लगते हैं, उनकी मूल-चेतना ही, जो विज्ञान और कला की जननी है, बिगड़ जाती हैं; और अन्त में कुछ ऐसे व्यक्ति पागल भी हो जाते हैं। आधुनिक कला-कृतियों में से कुछ ऐसी हैं, जिनमें हत्या (Murder) एवं अमानवीय व्यवहारों का आकर्षक चित्रण पाया जाता है; वे ही कुत्सित चेतना अथवा इच्छा-प्रेरित कल्पना के फल हैं।

२—आर. जी. कालिंगवुड—"कला के सिद्धान्त" (अंग्रेजी,)।

सौन्दर्य और भाषा का सौन्दर्य

पं० किशोरीदास वाजपेयी

सौन्दर्य-भावना मनुष्य-मात्र की चीज है। 'मात्र' शब्द यहाँ व्यापकता और व्यवच्छेद, दोनों अर्थों में है। प्रत्येक मनुष्य में सौन्दर्य-भावना है; वह चाहे फिर किसी भी देश या समाज का क्यों न हो ! जंगली लोगों में भी सौन्दर्य-भावना है और वे सौंदर्य-साधन के रूप में पक्षियों के पंखों का उपयोग करते हैं, वन्य पशुओं की हड्डियों का और सींगों का उपयोग करते हैं; मुण्डों की माला पहनते हैं और न जाने क्या-क्या करते हैं। उनकी साज-सज्जा देखकर आप हंसेंगे और कहेंगे कि यह कैसी सजावट ? यह सब शोभा बढ़ाने की सामग्री है, या और भद्दा बनाने की ! परन्तु उन्हें वह सब सामग्री कैसी जँचती है, वे ही जानते हैं। बहुत संभव है, हम लोगों के सौन्दर्य-साधन देख कर वे भी हँसते हों और हम लोगों की प्रवृत्ति पर आश्चर्य करते हों ! परन्तु सौंदर्य-अनुभव का सुख सभी करते हैं। 'मनुष्य-मात्र' का अर्थ यह भी है कि मनुष्य में ही सौंदर्य-भावना है; पशु-पक्षियों में नहीं। वे केवल उपयोगिता जानते हैं। पशुओं में 'नर' या 'मादा' अपने साथी के शरीर की बनावट पर ध्यान नहीं देते। रंग कैसा है, सींग टूटा है या बेडौल है, आँख कानी है, या कैसी है; ये सब बातें उनके सामने कुछ भी नहीं !

मनुष्य-मात्र में सौन्दर्य-भावना है; परन्तु उसमें भी बड़े भेद हैं ! कहीं-कहीं काला रंग ही सुन्दर समझा जाता है और गोरा भद्दा समझा जाता है ! कहीं नाक चपटी सुन्दर मानी जाती है। हम लोग जैसी नाक पसंद करते हैं, वैसी वहाँ कुरूपता की निशानी समझी जाएगी !

कहने का मतलब यह कि मनुष्य में सौंदर्य-भावना है और वह अपनी मान्यता के अनुसार सबकुछ सुन्दर देखना चाहता है।

भाषा भी एक प्रकृति-प्रदत्त चीज है। मनुष्य ने प्राकृतिक 'शब्द' में उपयोगिता पैदा की। विभिन्न अर्थों में विभिन्न शब्दों का संकेत कर के भाषा बनाली। फिर उस भाषा को सजाने-सँवारने की प्रवृत्ति उद्भूत हुई। भाषा को सजाने-सँवारने पर ग्रन्थ लिखे गए—अलङ्कार-शास्त्र बना। बड़ी बारीकी से शब्द पर विचार हुआ। हिन्दी में अभी तक अलङ्कार-शास्त्र पर कोई अच्छी पुस्तक नहीं प्रकाशित हुई है; यह चिन्तनीय है। 'अलंकार' नाम सुनकर लोग उसी तरह विरक्ति प्रकट करते हैं, जैसे पहले 'व्याकरण' नाम सुनकर घबराते थे। स्वाभाविक भी है। कलाकन्द के नाम से कोई साबुन आपके मुँह में रख दे, तो आप उसके स्वाद को क्या कहेंगे ? नाम और, चीज और ! भाषा सँवारने के लिए अलङ्कार हैं, बिगाड़ने के लिए नहीं। प्रचलित अलङ्कार-ग्रन्थों से भाषा सँवारने में क्या मदद मिलती है ? इसीलिए विरक्ति !

भाषा को ही सुन्दर बनाने के लिए 'छन्द' की सृष्टि हुई। लय और तुक भाषा का सौन्दर्य बढ़ा देते हैं। '**खट्टी और मीठी** चीजें' की जगह '**अम्ल** और **मीठी** चीजें' कैसा रहेगा ? '**अम्ल** और **मधुर** पदार्थ ठीक होगा। '**खट्टी** और **मधुर** चीजें' भी ठीक न लगेगा। क्या कारण ? मेल चाहिये—**खट्टा-मीठा, अम्ल-मधुर, खट्टी-मीठी** आदि। यह शब्दों का स्वर-साम्य है। वाक्य में शब्दों की नाप-तोल काँटे की हो, तो सौंदर्य आ जाएगा। यह छन्दशास्त्र का विषय है। कविता में छन्द, या छन्द में कविता ऐसी समझिए, जैसे सोने में सुगन्ध। यदि वाक्य में काव्यत्व कम भी हो, तो छन्द-सौन्दर्य से काम चल जाता है। सहृदय तो अन्तरङ्ग पर पहुँचते हैं; पर साधारण जन बाहरी रूप-रंग में ही अटक जाते हैं। अर्थ-सौन्दर्य तक न जाकर शब्द-सौन्दर्य

में ही लोग अटक जाते हैं। कामिनी के अन्त: सौन्दर्य पर, उसकी शालीनता, विनयशीलता और भावुकता आदि पर आगे ध्यान जाएगा और सो भी सब का नहीं। परन्तु उसके ऊपरी रंग-रूप पर सब का तुरन्त ध्यान जाएगा। यहाँ यदि फूहड़पन प्रकट होगया, तो उसका अन्त:सौन्दर्य भी धरा ही रह जाएगा। छन्द भाषा का ऐसा सुन्दर परिधान है कि लोग वहीं रम जाते हैं। असली चीज (काव्यत्व) की कमी छिप जाती है। उधर लोगों का ध्यान ही नहीं जाता। परन्तु गद्य-काव्य में यह बात नहीं। वहाँ छन्द की छटा नहीं; बाहरी आकर्षण वैसा नहीं। यहाँ यदि काव्यत्व ऊँचे दर्जे का न होगा, तो कौड़ी न उठेगी। यहीं कवि की परख होती है; क्योंकि छन्द के परिधान से वह दूर है। इसीलिए कहा है—

'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति'

गद्य-काव्य ही कवि की कसौटी है। गद्य में कवि की पहचान हो जाती है।

शब्दों का चयन और संस्कार

भाषा-सौंदर्य के लिए शब्दों का चयन ही महत्त्व की चीज है। ब्रज में अनेक शब्दों के 'ह' का लोप हो जाता है—'जात ऐं' में 'ऐं' देखिए। यहाँ 'ह' का लोप है। परन्तु ब्रजभाषा-काव्य में 'ऐं' क्रिया का ग्रहण नहीं। सुनने में अच्छा नहीं लगता। ब्रजभाषा काव्य में 'है' 'हैं' शब्द गृहीत हैं। यह कवि का शब्द-चयन है। 'है' 'हैं' उधर कन्नौजी कानपुरी के रूप हैं, जिसकी सीमा ब्रज से मिलती है। मेरठी क्षेत्र में 'है' की जगह 'ह' को ही कुछ भारी करके बोलते हैं। ब्रजभाषा काव्य में यह नहीं लिया गया। परन्तु 'ऐसोई कछु सपनो आयो' में 'ऐसोई' देखिए। यहाँ कविता ने 'ह' उड़ा दिया है। 'ऐसो ही' उतना मीठा नहीं, जितना 'ऐसोई'। क्या कारण? कारण यह कि 'स' महाप्राण है और उसके आगे दूसरा महाप्राण ('ह') कटुता पैदा करता है। 'ओ' के अनन्तर 'ई' का उच्चारण सुन्दर लगता है।

इसी तरह मेरठी (कौरवी) बोली का परिष्कार साहित्य में हुआ और तब सम्पूर्ण देश ने उसे राष्ट्रभाषा के रूप में ग्रहण किया। मेरठी क्षेत्र में बोलते हैं— धोत्ती, रोट्टी, पोत्थी आदि। साहित्य ने शब्द-परिष्कार किया, कर्णकटुता हटा दी और रूप कर लिए— धोती, रोटी, पोथी। राष्ट्रभाषा में 'ये' ही सुन्दर-सुडौल शब्द हैं। खान से निकले बेडौल हीरे खराश-तराश कर मोहक सुडौल कर लिए गए। यह भाषा के गठन और संस्कार की बात है।

कविता की भाषा

कविता की भाषा में तो बहुत बारीकियाँ देखी जाती हैं। उचित ही है। शब्द-शिल्प में और देखा भी क्या जाएगा? परन्तु वहाँ भी सर्वत्र मधुर शब्द देना भूल है। कोई अधकचरे कवि किसी 'केवल वैय्याकरण' के साथ कहीं जा रहे थे। वैय्याकरण ने आगे देख कर कहा— 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे'। कवि जी ने नाक-भौं चढ़ाई— 'आपको बोलना नहीं आता! यों कहना चाहिए—

'नीरसतरुरिह विलसत्यग्रे'

वैय्याकरण प्रभावित हुआ और उसने वह बात गाँठ बाँध ली।

परन्तु यहाँ कवि जी का बतलाया प्रयोग ठीक नहीं। आगे सूखा वृक्ष (ठूँठ) खड़ा है, तो यही कहना ठीक है कि 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे'। इन शब्दों से उसकी नीरसता प्रकट है। 'शुष्क वृक्ष' 'विलास' के साथ क्या जमता है? 'विलास' तो सरसता की चीज है—

विलसति सरसपादप: पुरत:

यहाँ 'विलसति' ठीक रहेगा। 'शुष्क' की जगह 'नीरस' भी ठीक नहीं। 'शुष्क' में जो रूखापन है, वह 'नीरस' में कहाँ? हाँ, यहाँ 'नीरस' अवश्य ठीक रहेगा—

'नीरस सेमर छोड़ गए शुक'

सारांश यह कि सभी शब्द काम के हैं, जहाँ जो अच्छे लगें। चटनी में खटाई अच्छी; पर खीर में? बढ़िया हलवा बनाने के लिए सूजी चाहिए; पर कढ़ी बनानी हो, तो? क्या यहाँ भी सूजी काम में लाई जाएगी? कढ़ी बेसन की अच्छी; पर हलवे में बेसन का क्या उपयोग?

कविजन कभी-कभी भाषान्तर का भी प्रयोग कर देते हैं। तुलसी ने 'कौसिक छोटो सो ढोटो है काको' में 'ढोटो' शब्द दिया है। कविता ब्रजभाषा की है, उसमें यह 'ढोटा' शब्द राजस्थानी-पद्धति का है। खड़ी बोली में जो आकारान्त जातिवाचक पुल्लिङ्ग शब्द हैं, ब्रज-भाषा में भी वे आकारान्त ही चलते हैं। हिन्दी में भाषा-विज्ञान पर जो ग्रन्थ निकले हैं, उन सब में यही लिखा है कि खड़ी बोली में 'घोड़ा' और ब्रज में 'घोड़ो' चलता है। यह गलत बात है। ब्रज में 'छोरा गयो' बोला जाता है, न कि 'छोरो गयो' 'बकरो देख्यो', 'मेढ़ो आयो' आदि। ब्रजभाषा-काव्य में भी 'पपीहा आजु मचावत सोर' होता है, 'पपीहो आजु मचावत सोर' नहीं। 'कागा काको लेत है, सुग्गा काको देत' होता है, 'कागो--सुग्गो' नहीं। हाँ, जहाँ राजस्थानी की छाया पड़ गई है, वहाँ ओकारान्त रूप हैं।

भाषा विज्ञान का संशोधन

निश्चय ही भाषा-विज्ञान का संशोधन होना चाहिए। भाषा पर गहराई से अभी विचार हुआ ही नहीं है! ब्रज (खड़ी बोली और राजस्थानी के) बीच में पड़ता है और इसीलिए ब्रजभाषा उपर्युक्त दोनों बहनों से प्रभा-वित है। राजस्थानी और खड़ी बोली की धाराएँ स्पष्टत: पृथक-पृथक् हैं। ब्रजभाषा में दोनों का मधुर मिश्रण है। प्राकृत के रूप राजस्थानी में देखे जाते हैं। प्रथमा एक वचन में अकारान्त पु० शब्दों के विसर्ग प्राकृतों में 'ओ' हो गए हैं और यही 'ओ' यहीं (पु० एक वचन में) राजस्थानी में भी है—

संस्कृत	प्राकृत	राजस्थानी
पुत्र: आगत:	पुत्रो आगदो	लड़को आयो

बहुवचन में प्राकृतों ने विसर्ग हटा दिए और तब शब्द-रूप राजस्थानी के समान हैं—

संस्कृत	प्राकृत	राजस्थानी
पुत्रा: आगता:	पुत्ता आगदा	लड़का आया

यानी 'राजस्थानी' में 'लड़का आया' बहुवचन है। राष्ट्रभाषा में 'लड़के आए' बहुवचन है। जिस प्राकृत अपभ्रंश से राष्ट्रभाषा (खड़ी बोली) का विकास है, उसका पता नहीं! प्राप्त प्राकृतों में किसी का भी रूप ऐसा नहीं कि उसे खड़ी बोली का उद्गम माना जा सके। **जिस प्राकृत में पु० अकारान्त शब्दों के एकवचन के विसर्ग 'आ' रूप में विकसित हुए होंगे, उसी से खड़ी बोली का निकास है।** वहाँ ऐसे प्रयोग होते होंगे—

	संस्कृत	प्राकृत (संभावित)	खड़ी बोली
(एक वचन)	**पुत्र: आगत:**	**पुत्ता आगदा**	**लड़का आया**
(बहु वचन)	पुत्रा: आगता:	पुत्ते आगदे	लड़के आये

यानी जो राजस्थानी में तथा उसकी मूल भाषा में बहुवचन का रूप है, खड़ी बोली में और इसकी मूल भाषा में वह एक वचन है! कितना अन्तर है।

मधुर ब्रजभाषा

ब्रजभाषा में मिश्रण-माधुर्य है, मिसरी का सा। यहाँ राजस्थानी के से रूप ओकारान्त हैं—भाववाचक संज्ञाओं के, विशेषणों के, क्रियाओं के। आनो-जानो, मीठो-खट्टो, आयो-गयो। परन्तु जातिवाचक आकारान्त पुं० संज्ञाएँ खड़ी बोली की तरह हैं— छोरा, पपीहा, सुग्गा आदि। परन्तु इनके विशेषण ओकारान्त—'ऐसो छोरा न देख्यो'। विशेषण और क्रिया ओकारान्त, राज-स्थानी चाल पर और 'छोरा' खड़ी बोली के 'लड़का' आदि के ढंग पर। बहुवचन भी खड़ी बोली के अनुसार 'छोरे आये' (या, 'आए')। राजस्थानी के अनुसार 'छोरा आया' बहुवचन नहीं। 'छोरा' तो यहाँ (ब्रज में) एक वचन है न!

बहुत विवेचन करना है। यहाँ प्रसंगत: इतना कि हिन्दी-परिवार में एक दूसरी भाषा के शब्द लिए-दिए जाते हैं। कविजन अपनी चीज तैयार करने के लिए कहीं से कोई चीज ले लेते हैं। परन्तु भाषा-विज्ञान में तो भाषाओं का विश्लेषण होता है। 'कामरूप केहि कारन आया' में 'आया' देखकर यदि कोई भाषा-विज्ञानी लिख दे कि अवधी में 'आया' 'गया' 'लाया' जैसे क्रिया-रूप होते हैं, तो आप क्या कहेंगे?

हम लोग प्रयोग करते हैं— 'निखट्टू आदमी'! 'खटना' क्रिया पंजाबी की है। उसका कृदन्त रूप यहाँ चलता है। 'गाड़ी यहाँ खड़ी नहीं होती' बोलते हैं।

(शेष पृष्ठ ५५ पर)

संत-साहित्य में सौन्दर्यबोध

श्री परशुराम चतुर्वेदी

सौंदर्य की परिभाषा चाहे जो भी दी जाय इतना स्वीकार कर लेने में कदाचित् किसी को भी आपत्ति न होगी कि उस गुण से सम्पन्न वस्तु में कतिपय निजी विशेषताएं पायी जाती हैं जो हमें, सहसा आकृष्टकर, प्राय: अभिभूत सा कर डालती हैं। किसी भी सुन्दर पदार्थ का प्रत्यक्षीकरण हमें अननुभूत वा अपरिचित नहीं जान पड़ता; उसके साथ हमारा कभी का कोई सम्पर्क तक रहा प्रतीत होता है। लगता है जैसे अब तक हम उसके किसी अभाव का कुछ न कुछ अनुभव भी करते आ रहे थे, जो, उसके इस प्रकार उपलब्ध होने पर ही, दूर हो सका। उसके द्वारा हमारी किसी गूढ़ अभिलाषा की पूर्ति होती दीख पड़ी और हम किसी विचित्र प्रकार के आह्लाद का अनुभव भी करने लग गए। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि इस गुण का प्रभाव हमारे ऊपर कभी कम होता वा मंद पड़ता भी नहीं प्रतीत होता और न हम उसके आस्वादन से तृप्त होते हैं। यदि वह अपनी दृष्टि के माध्यम से पड़ता हो तो हम उसके आश्रित वस्तु को निरंतर देखते रहना चाहते हैं, यदि वह श्रवणेन्द्रिय का विषय है तो उसे सुनते रहना चाहते हैं और इसी प्रकार यदि वह किसी अन्य ज्ञानेंद्रिय द्वारा भी प्रत्यक्ष हो रहा हो तो भी वैसा ही किया करते हैं। उसमें लग जाने वाली इंद्रिय अपना अन्यत्र विचरण करना भूल जाती है, उसमें पहले की चंचलता नहीं रह जाती और वह वहीं जम तक जाना चाहती है। तदनुसार कोई भी सुन्दर वस्तु हमारे लिए बहुधा अपने जीवन का साथी तक बन जाया करती हैं और हम उसके साथ प्रेम भी करने लग जाते हैं।

इस प्रकार इतना और भी स्पष्ट है कि सौंदर्य का बोध स्वभावत: केवल उन्हीं विषयों में हो पाता है जो इन्द्रियगम्य हों, हमारे बाहर और हमसे पृथक स्थित हों, तथा जिन्हें, इसी कारण, हम अपने उक्त अनुभवों के माध्यम द्वारा आत्मसात् भी कर लेना चाहें। इसके सिवाय साधारणत: किसी वस्तु को हम केवल उस समय 'सुन्दर' कहा करते हैं जब उसका कोई विशिष्ट 'रूप' हुआ करता है तथा, इस प्रकार, जब वह अपने नेत्रों के अनुभव में किसी न किसी ढंग से, आने योग्य भी रहा करती है। जो वस्तु अप्रत्यक्ष और अनिर्वचनीय हो अथवा जिसे 'अलख' 'अरूप', तथा 'अगम' और 'अगोचर' जैसे विशेषण दिये जाते हों और जिसकी अनुभूति का होना केवल अपने भीतर ही संभव समझा जाता हो तो उसके 'सुन्दर' या 'असुन्दर' होने का कोई प्रश्न ही उठाना आश्चर्य की बात होगी। जिस वस्तु के विषय में कबीर साहब का कहना है, "मैं 'राम' को कैसे जान पाऊं जिसे मैंने कभी अपनी आंखों नहीं देखा ?"[१] अथवा जिसकी चर्चा करते समय, दादू दयाल कहते हैं, "मुझे अपने जीवन वा मरण की कुछ भी चिंता नहीं, यदि मुझे पछतावा है तो केवल इसी बात का कि मैं अपने उस 'पीव' को अपनी आंखों में नहीं रख पाया,"[२] उसके किसी वैसे सौंदर्य द्वारा समन्वित होने की बात स्वभावत: कुछ अनोखी ही कही जा सकती है और, इसीलिए, इन संतों के सौंदर्य बोध का स्वरूप भी कम विलक्षण नहीं हो सकता।

संतों ने अपने परमतत्त्व-संबंधी अनुभवों का वर्णन करते समय, स्वयं ही ऐसे शब्दों के प्रयोग किये हैं जो

१—"मैंका जाणूं रामकूं, नैनूं कबहूं न दीठ ॥"
—कबीर-ग्रन्थावली' (ज-१)।

२—दादू जीवन मरण का, मुझ पछितावा नांहि।
मुझ पछितावा पीव का, रह्या न नैनहुं मांहि ॥
—'दादूदयाल की बानी' (१६-४१)

उनके सौंदर्य बोध के परिचायक हैं। कबीर साहब कहते हैं, "उस 'पार ब्रह्म' के तेज का पता क्या दिया जाय? उसकी 'सोभा' बतलाने की नहीं, केवल देखते ही बनती है।"[१] दादूदयाल का कहना है "उस 'अविनासी' का तेजोमय अंग क्या ही अनुपम था। मैंने उसे अपनी आंखों भर देखा और उसका स्वरूप 'सहज सुन्दर' पाया।[२]" इसी प्रकार बाबा धरनीदास भी 'पिय' को 'सुन्दर' ही बतलाते हैं और कहते हैं कि, इसी कारण, "उसके साथ मेरा 'सहज सनेह' 'बन गया'।" [३]गुलाल उस 'प्रभु' की 'सोभा' को 'रसाल' तक बनगई ठहराते हैं[४] और जगजीवन साहब भी कहते हैं, "उसके 'अनूप रूप' का वर्णन कहां तक करूं, मैं उस पर सभी कुछ बार देता हूँ। जिस किसी ने उसे उपलब्ध किया उसके लिए उसकी 'छवि' की समानता अनेक सूर्य एवं चन्द्रमा तक भी नहीं कर सकते।" [५]इस प्रकार ऐसा लगता है जैसे संतों की उस अनुभूत वस्तु में कोई विचित्र अपूर्वता है जिससे उन्हें उसे असीम शोभा से युक्त कहना पड़ जाता है। वे उसका अनुभव करके चकित से रह जाते हैं और वे अपनी उस दशा का भी यथावत् वर्णन नहीं कर पाते। दादूदयाल का कहना है, "जैसा ब्रह्म है वैसा ही अपने अनुभव का भी स्वरूप बन जाता है और, इसी कारण, जैसा वह है वैसा उसका वर्णन कोई विरला ही कर सकता है।[१]" किन्तु फिर भी वे लोग उसकी ओर आपसे आप आकृष्ट हो जाते हैं और उसे अपनाने तक लग जाते हैं।

संतों के उपर्युक्त अनुभूति परक उद्गारों से हमें अधिकतर ऐसा प्रतीत होता है कि उनके अनुभव का माध्यम उनकी आंखें ही रही होंगी। कबीर साहब का यह कहना कि "उस 'अनंत' का तेज अनेक प्रकाशमान सूर्य जैसा दीख पड़ा" [२]अथवा यह कि "उसका मैंने केवल एक ही अंग देखा, किन्तु उस तेज 'पुंज' की महिमा अकथनीय समझ पड़ी और वह मेरे नेत्रों में प्रवेश कर गया," [३]इसी बात को सूचित करता है। इसी प्रकार पलटू साहब का भी यह विवरण देना कि "मुझे, जागने के ही समय में, एक स्वप्न दीख पड़ा और मैंने देखा कि कोई गहरी नदी है जिसकी तीन धाराओं के बीच एक 'बिलौरी' (श्वेत) नगर है जिसके अंधेरे महल में 'गैब' की बत्ती जल रही है और वहां पर एक पुरुष बैठा है। उस पुरुष की 'छवि' देखते ही मैं विभोर हो गया और उसकी अलाप को सुनते ही उसकी तान में प्रवेश कर गया"[४] यही सिद्ध करता है। एक स्थल पर तो इन्होंने यहां तक बतलाया है कि "उस 'जोगिया' की आंखें लाल लाल थीं जैसे कमल के फूल हों···उसने गगन में 'सिंगिया' बजा दी और मेरी ओर दृष्टि भी डाल दी जिसका प्रभाव यह पड़ा कि

१—पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिबे कूं सोभा नहीं, देख्याही परबांन॥
—'क० ग्रं०' (५-३)।

२—अविनासी अंग तेज का, अैसा तत्त अनूप।
सो हम देख्या नैनभरि, सुन्दर सहज सरूप॥
—'दादूदयाल की बानी' (४-६३)

३—पिय बड़ सुन्दर सखि, बनि गैला सहज सनेह॥
—'धरनीदास की बानी' (पद ३ पृ० २७)

४—प्रभु की सोभा बनी है रसाल॥
—'गुलाल साहब की बानी' (पद ६, पृ० १३२)

५—रूप अनूप कहांलगि बरनौं, डारौं सबकछु वारी।
रवि ससि गन तेहि छवि सम नाहीं,
जिन केहु गहा विचारी॥
—जगजीवन साहब की बानी, भा० २ (शब्द २७,पृ ११)

१—दादू जैसा ब्रह्म है, तैसी अनभै उपजी होइ।
जैसा है तैसा कहै, दादू बिरला कोइ॥
—दा० द० की बानी (२८-२०)

२—कबीर तेज अनंत का, मानौं ऊगी सूरज सेणि॥
—क० ग्रं० (५-१)

३—कबीर देख्या एक अंग महिमा कही न जाइ।
तेज पुंज पारस धणी, नैनूं रह्या समाइ॥
—क० ग्रं० (५-३८)।

४—जागत में एक सूपना, मोहि पडा है देखि·······
सुनत तान में गई समाइ॥
—पलटू साहब की बानी भा०१ (पृ० ७९-८०)

उसकी 'चितवन' द्वारा ही मेरा मन चुरा लिया गया।" [1]इसके सिवाय जगजीवन साहब भी कहते हैं कि "मैं उस 'निर्गुन' को अपने नैनों से देखता हूँ और उसमें समाया तक जाता हूँ" [2]तथा यारी साहब भी बतलाते हैं, "मैंने सम्पूर्ण सोलहों कलाएं देखीं, सूर्य एवं चन्द्रमा को एकत्रित पाया और दृष्टि के पड़ते ही मुझे रूप की 'ठगौरी' लग गई।"[3]

परन्तु फिर भी संतों का अनुभव केवल उनकी आंखों के ही माध्यम से पूरा होता नहीं जान पड़ता। वे कोई मधुर स्वर भी सुना करते हैं। पलटू साहब का कहना है, "मेरे तन एवं मन में 'पिय की मीठी बोल' प्रवेश कर गई। मैं उसे सुनते ही दीवानी बन गई। भंवर गुफा के मध्य 'सोंहं' की बानी उठ रही थी जहां मैंने उस पिय का रूप देखा और मैं उसमें समा गई।....पुरानी प्रीति के कारण पहचानते देर न लगी और उसके शब्द को सुनते ही मैंने अपना घूंघट हटा लिया।" [4]इसी प्रकार भीखा साहब भी कहते हैं कि "शब्द का कोई विचित्र 'मनोरवा' (एक प्रकार की मधुर तान) सुन पड़ा और 'अनहद' की ध्वनि घहराने लगी। उसे सुनते ही मेरा चित्त उसमें लग गया और जब से लगा तब से उसमें अपनी रुचि बराबर अधिक से अधिक होती ही जा रही है।" [1]गुलाल साहब को तो यह शब्द कभी-कभी उस 'सहज सरूप' का कोई अनुपम 'सेहरा' सा प्रतीत होता है और वे कहते हैं कि "गगन मंडल में वह 'बानी' हर दम नई नई सी ही लगा करती है।" [2]दादू दयाल ने इसी 'बानी' को एक स्थल पर 'राम कथा' का भी नाम दिया है और कहा है कि "जैसे दो कान हैं वैसे उनकी संख्या कहीं अपरिमित हो जाती तो 'राम कथा' का रस बारंबार पिया जाता और फिर भी तृप्ति नहीं हो पाती।"[3] अनाहत नाद का शब्द इन संतों को इतना मधुर और आकर्षक जान पड़ता है कि ये उसे प्रायः परमतत्त्व का प्रतीक मान उस पर सर्वथा मुग्ध हो जाया करते हैं।

इसी प्रकार कभी-कभी ऐसा जान पड़ता है जैसे संत लोग अपने उस प्रियतम के सौन्दर्य का अनुभव अपनी रसनेंद्रिय द्वारा भी करते हैं। दादू दयाल ने उसे बहुत स्पष्ट शब्दों में किसी उस अनूठे फल तक की संज्ञा दी है जो साधारण फलों से नितांत भिन्न कहा जा सकता है। उन्होंने कहा है, "वह एक ऐसा अनुपम फल है जिसमें न तो कोई बीज है और न कोई छिलका ही दीख पड़ता है; किन्तु वह मीठा है, सदा निर्मल एवं एकरस बना रहता है और अपनी आंखों से ओझल नहीं होता।"[4] और फिर अन्यत्र उनका यह भी कहना है, "उस 'रामरस' को हम जितना भी पीते जांय कभी

१—जोगिया के लालि लालि अखियां हो, जेस कंवल के फूल....गगन के सिंगिया बजाइन्हि, ।। इत्यादि
—'पलटू साहब की बानी' (भा० ३, पृ० २२)।

२—तकत नैनन निरखि, निर्गुण, रहत ताहि समान ।।
—जग० सा० की बानी (भा० २, पृ० ६४)

३—सोरह कला सँपूरन देखौं, रविससि इक ठौरी ।।
जबतें दृष्टि पड़ी अविनासी, लागी रूप ठगौरी ।।
—रत्नावली (शब्द २)

४—मेरे तन मन लग गई पिय की मीठी बोल ।।
पिय की मीठी बोल सुनत मैं भई दिवानी।
भंवर गुफा के बीच उठत है सोहं बानी ।।
............घूंघट डारा खोल ।।
—पलटू साहब की कुंडलिया (५९)।

१—सब्द कै उठल मनोरवा हो, अनहद धुनि घहराइ।
सुनत सुनत चित लागल हो, दिन दिन रुचि अधिकाइ
—बानी (शब्द १६)

२—सहज सरूप सब्द को सेहरा, सो मोहि आन भई।
गगन मंडल में बाजि उठतु हो, हरदम नाम नई ।।
—बानी (शब्द २८)

५—दादू जैसे श्रवनां दोइ हैं, ऐसे हूंहि अपार।
राम कथा रस पीजिये, दादू बारंबार ।।
—बानी (४-३२०)

४—अैसा एक अनूप फल, बीज बाकुला नांहि।
मीठा निर्मल एकरस, दादू नैनहूं मांहि ।।
—बानी (४-९६)

अपनी प्यास नहीं बुझ पाती, ऐसा कोई विरला ही होगा जिसे इसका पूरा अनुभव हो सका हो।"[१] कबीर साहब ने तो इस 'रामरस' का वर्णन किसी विचित्र मद के रूप में भी किया है और उसके तयार होने की विधि की भी चर्चा कर दी है। वे कहते हैं, " 'रामरस' को आत्मा ने छककर पी लिया और वह उसे पीते-पीते गूढ़ विचारों में लीन है। इसके लिए बहुत मोल तोल करके महंगा गुड़ लिया था। जिसका रस चुवाते समय कसाव भी दूर करना पड़ा। तब शरीर के नगर में उसका बिक्री के लिए प्रदर्शन किया गया जिससे आत्मा ने उसे बार-बार मांगकर पिया और उसे खुमारी लग गई।"[२] इसका वास्तविक आशय यह हो सकता है कि ज्ञान द्वारा स्वरूप चिन्तन करते-करते काम क्रोधादि के मनोविकार नष्ट हो गए और अपने भीतर उस अनुपम तत्त्व की अनुभूति जागृत हो उठी। उनका यह भी कहना है कि "इस 'रामरस' के पीते ही अन्य सभी प्रकार के रस सर्वथा विस्मृत हो जाते हैं।"[३] उन्होंने इसी के विषय में एक स्थल पर यह भी कहा है "यह उज्वल, निर्मल नीर है जिसे अपने 'कायाकमंडल' में भर लिया और तन मन से जीवन भर पीता रहा, किंतु उसकी प्यास नहीं गई।"[४]

कबीर साहब उसके अनुभव का वर्णन करते समय इस प्रकार भी कहते हैं जैसे वह मधुर संगीतमय भी हो। वे बतलाते हैं, "अपने भीतर प्रेम-भाव जागृत हो उठा और उजाला सा हो गया जिस कारण मुख में कस्तूरी की महक प्रवेश कर गई और वाणी से गंध फूट पड़ी।"[१] वैसे ही यारी साहब का भी कहना है, "जहाँ न तो मूल है, न शाखा है और न कहीं पत्तियाँ ही हैं वहाँ बिना किसी प्रकार के सींचने पर भी, वह बाग सहज भाव से ही पुष्पित हो उठा, बिना किसी डंठल के भी कोई फूल उग आया तथा उस बिना गंध वाले की गंध में भ्रमर विभोर हो गया।"[२] गुलाल साहब ने भी इसी बात को इस प्रकार कहा है— "यदि ध्यान की दशा में सुरति एवं निरति का मेल हो जाय तथा अजपाजाप चलने लगे और ज्ञान के घोड़े पर सवार हो कोई शून्य में दौड़ लगादे तो ऐसा प्रतीत होगा जैसे आकाश किसी शुभ्र प्रकाश द्वारा व्याप्त है और वह प्रस्फुटित भी हो उठा है जहाँ अपना चित्त भ्रमर बनकर उस पर मंडराने लगा है।"[३] इतना ही नहीं कबीर साहब तो अपनी अनुभूति का परिचय देते समय, यहाँ तक कह डालते हैं कि मैंने अपने उस प्रियतम से, भरपूर गले मिलकर, भेंट की। वे कहते हैं, "मैंने उससे पूरी अङ्कवार भर भेंट की और तब भी धैर्य न बँधा, जब तक हमें दो शरीरों का भान रहे तब तक हम उससे

१—ज्यौं ज्यौं पींवै रामरस, त्यौं त्यौं बढै पियास।
ग्रैसा कोई एक है, विरला दादू दास॥
—दा० दा० की बानी (४-३२४)।

२—छाकि परचो आतम मतिवारा,
पीवत रामरस करत विचारा, इत्यादि
(क० ग्रं० पद ७३)

३—रामरस पाइया रे, तामैं बिसरि गये रस और॥
—वही, पद ७५।

४—कायाकमंडल भरि लिया, उज्जल निर्मल नीर।
तन मन जीवन भरि पिया, प्यास न मिटी कबीर॥
वही आ०(७-१)।

१—प्यंजर प्रेम प्रकाशिया, अंतर भया उजास।
मुखि कसतूरी महमहीं, वांणी फूटी बास॥
—क० ग्रं० (५-१४)

२—जहाँ मूल न डारिन पात हैरे,
बिन सींचे बाग सहज फूला।
बिन डांडी का फूल है रे,
निर्वास के बास भंवर भूला॥
—रत्नावली (झूलना, ६)

३—सुरति सो निरति मिलि ध्यान अजपा जपै,
ज्ञान का घोड़ लै सुन्न धावै।
सेत परकास आकास में फूलि रहो,
चित्त ह्वै भंवर तब जाय पावै॥
—'गु० सा० बानी' (रेखता, ३)।

मिल ही कैसे सकते हैं ?"[१] अतएव, इन सन्तों के कथन पर विचार किया जाय तो जान पड़ेगा कि उनका आकर्षण रूप, स्वर, रस, गँध एवं स्पर्श इन पाँचों के भी प्रति है।

इसके सिवाय इन संतों की बानियों द्वारा हमें यह भी स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि इनकी एक से अधिक इन्द्रियाँ एक साथ काम करती हैं और इसी कारण इन्हें अपने प्रियतम की उपलब्धि का सुख और भी अधिक मात्रा में अनुभूत हुआ करता है। उदाहरण के लिए कबीर साहब के समक्ष उस समय "निर्मल सूर्य प्रकाशमान हो जाता है जिससे अन्धेरा मिट जाता है, कमल प्रस्फुटित हो उठता है जिससे उसकी सुगन्धि का मिलना सम्भव हो जाता है और अनाहत की तुरही भी बजने लगती है जो श्रवणेंद्रिय का विषय है।"[२] दादू दयाल का अनुभव बतलाता है, "जब मेरे प्राणों ने उसे उपलब्ध कर लिया और उसके साथ इनका 'अरस परस' हो गया तो वे प्रफुल्लित हो होकर उसके दर्शन करने लगे, उसके रस पान द्वारा पुलकायमान हो उठे और उसमें अपने को मग्न करने में मस्त हो गए।"[३] भीखा साहब कहते हैं, "उस शब्दमय प्रकाश के सुनते और देखते ही मेरी विषयासक्त बुद्धि जो केवल कच्ची सी ही थी बदल गई।"[१] तथा इसी प्रकार संत रज्जवजी का कहना है, "मैंने उसका अनुभव अपने श्रवण, नेत्र, नासिका, अधर, दंत एवं कर चरणों तक से किया और उस अनुपम छवि को उपलब्ध करते ही मैं पूर्णतः मुग्ध बनकर उसमें मिल गया।"[२] ये अपनी आत्मा के 'राम' मय हो जाने का वर्णन ऐसा कहते हुए भी करते हैं "जैसे समुद्र की कोई बूंद कहाँ और किधर को सरके, वह तो सारे समुद्र का अभिन्न अङ्ग बन गई।"[३] जिससे प्रकट होता है कि उस दशा में किसी साधक की कोई भी इन्द्रिय अपना कार्य पृथक् रूप में करती हुई नहीं प्रतीत होती।

वास्तव में, इन संतों की वैसी विचित्र अनुभूति के कतिपय वर्णनों से ही, हमें ऐसा भी जान पड़ता है कि उस दशा में उपर्युक्त कोई भी इन्द्रिय अपना विशिष्ट कार्य नहीं कर पाती, प्रत्युत वह एक दूसरी के साथ कदाचित्, साझी भी बन जाती है। दादू दयाल ऐसे एक प्रसंग में बतलाते हैं, "जगत् में मस्त रहा करने वाले भगवत्प्रेमी के लिए उसका भोजन अपने प्रियतम के दर्शन ही हुआ करते हैं।"[४] तथा ये ही फिर अन्यत्र भी कहते हैं, "हरि से प्रेम हो जाने पर तन मन में मंगल होने लगता है और तब सुरति के साथ नेत्रों द्वारा रसपान किया जाता है।"[५] इसी प्रकार बाबा धरनीदास

१—अंक भरे भरि भेंटिया, मन में नांही धीर।
कहे कबीर ते क्यूं मिलैं, जबलग दोइ सरीर ॥
—क० ग्रं० (५-६५)

(यहाँ पर तुलना के लिए 'श्रीमद्भगवद्गीता' (६-२८) भी देखिए जहाँ पर ब्रह्म के संस्पर्श जनित सुख की ओर संकेत किया गया है, जैसे 'सुखेन ब्रह्म संस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते)।

२—कबीर कंवल प्रकाशिया, ऊग्या निर्मल सूर।
निस अंधियारी मिट गई, बागे अनहद तूर ॥
—क० ग्रं० (५-४३)।

३—दादू बिगसि२ दरसन करै, पुलकि पुलकि रसपान।
मगन गलित माता रहै, अरस परस मिलि प्रांन ॥
—दा० द० की बानी (४-१४६)।

१—सब्द परकास के सुनत अरु देखते,
छूटि गइ विषै बुधि वास कांची।
—भी० सा० की बानी (रेखता, ६)

२—श्रवण नैन सुनासिका, अधर दंत कर पाय।
रज्जब निरखत नौ जुगल, मोह्या मतै मिलाय ॥
—रज्जब जी की वाणी (मेलगअंग, २)

३—रज्जब बूंद समंद की कित सरकै कहं जाय।
साझा सकल समंद सों, त्यूं आतम राम समाय ॥
—वही, (ज्ञान परचै का अंग, २६)

४—आशिका मस्तान आलम बुरदनी दीवार।
—दा० द० की बानी (५-१४७)

५—नैनहुं सौं रस पीजिये दादू सुरति सहेत।
तन मन मंगल होत है, हरि सौं लागा हेत ॥
—वही (५३-३७)

का भी कहना है, "प्रियतम की झलक इतनी सुन्दर है कि कभी अपनी पलकें नहीं गिरतीं, उस रस को बार बार पीते हैं। फिर भी प्यास नहीं जाती।"[१] पलटू साहब अपनी आँखों द्वारा उस ज्योति को देखते हैं किंतु उस चिराग से ही निकलने वाली किसी आवाज का अनुभव अपने कानों द्वारा भी करते हैं।"[२] बावरीपंथी संत केसोदास तो "सत्य पुरुष की 'धुनि' को 'अति उजियारी" बतलाते हैं और कहते हैं कि वह करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान है तथा उसकी शोभा पर मैं बार-बार न्योछावर जाता हूँ।"[३] जिसका समर्थन संत गरीबदास के इस कथन से भी होता है, "नाद श्वेत है और तुरही भी श्वेत ही है तथा श्वेत सिंहासन के ही निकट मानो अनेक प्रकार की अप्सराएं नृत्य करती सी जान पड़ती हैं।"[४] अतएव, सम्भव है कि, इन संतों को अपनी इस विचित्र अनुभूति के समय, इस बात का भी स्पष्ट भान न हो पाता हो कि मैं इसके लिए किस इन्द्रिय विशेष का प्रयोग कर रहा हूँ। इन्हें, कदाचित्, यह भी पता नहीं कि ये किसी का प्रयोग करते भी हैं या नहीं, क्योंकि कभी-कभी तो ये इसे अस्वीकार भी कर देते हैं। दादू दयाल ने अपने ऐसे अनुभव को 'सहज' की संज्ञा देते हुए, स्पष्ट शब्दों में कहा है, "सहज वह है जिसमें बिना नेत्रों के ही देखा जाय, बिना किसी अङ्ग वाली वस्तु का ही अवलोकन किया जाय, बिना जीभ के ही ब्रह्म से बोला जाय, बिना कानों के ही सुना जाय, बिना चरणों के चला जाय तथा बिना चित्त के ही चिंतन भी किया जाय।"[१] और इस बात को अन्य अनेक संत भी अपने-अपने ढंग से व्यक्त करते हैं। कबीर साहब कहते हैं, "मैंने उस अविगत, अकल और अनूप को देखा, किंतु वह अनुभव मेरे कथन में नहीं आ सकता, यह वैसा ही है जैसे कोई गूंगा मनुष्य मीठे पदार्थ को खाकर मन ही मन प्रसन्न होता हो और उसकी अभिव्यक्ति के लिए केवल संकेत मात्र करके रह जाता हो। फूल के बिना ही एक वृक्ष फल उठा था, बिना हाथों के ही तुरही बजने लगी थी, बिना नारी के ही घट में पानी भर आया था और यही सहज रूप में उसे पाना था।"[२] बाबा धरनीदास का कहना है, "वहाँ पर बिना पैरों के ही नृत्य करना है, बिना हाथों के ताली बजाना है, बिना नेत्रों के ही 'छवि' देखना है और बिना कानों के ही झंकार का सुनना है।"[३] और पलटू साहब भी कहते हैं, "उस समय बिना हाथों के ही ताली बजने लगती है, बिना जिह्वा के भी गान किया जाने लगता है तथा वहाँ पर जलते हुए 'महादीप' में जाकर लीन भी हो जाते हैं।"[४]

१—धरनी पलक परै नहीं, पिय की झलक सोहाय।
पुनि पुनि पीवत परमरस, कबहूँ प्यास न जाय ॥
—ध० दा० की बानी (सा० १६)।

२—निकसै एक अवाज चिराग की ज्योतिहि मांही ॥
—पलटू साहब की बानी (कुंडलिया, १६९)।

३—सत्य पुरुष धुनि अति उजियारी,
कोटि भानु ससि छबि पर बारी ॥
—केसोदास की 'अमीघूंट' (सब्द ३)।

४—सेते नाद सेत ही तूरा। सेत सिंहासन नाचै हूरा ॥
—गरीबदास की बानी (रमैनी, २)।

१—दादू नैन बिन देषिया, अंग बिन पेषिया,
रसन बिन बोलिया ब्रह्म सेती।
श्रवण बिन सुणिवा, चरण बिन चालिवा,
चित्त बिन चित्यंबा, सहज एती ॥
—दा० द० की बानी (४-१९४)

२—अविगत अकल अनूपम देख्या, कहतां कह्या न जाई।
सैंन करै मन ही मन रहसै, गूंगै जानि मिठाई ॥
पहुप बिना एक तरवर फलिया, बिनकर तूर बजाया।
नारी बिना नीर घट भरिया, सहज रूपसो पाया ॥
—क० ग्रं० (पद ६)।

३—बिनु पग निरत करो तहां, बिनु कर दैदै तारि।
बिनु नैनन छवि देखना, बिनु सरवन झनकारि ॥
—ध० की बानी (सा० २५)

४—बिनु कर बाजै तार नाद बिनु रसना गावै।
महादीप इक बरै दीप में जाय समावै ॥
—पलटू साहब की कुंडलिया, १७१।

सारांश यह कि संतों की रहस्यानुभूति स्वयं भी अतीव रहस्यमयी है और इसी कारण, वह वर्णनातीत भी है। वहाँ केवल एक ही कोई इंद्रिय अकेली काम करती नहीं जान पड़ती और न, इसलिए यह कहा भी जा सकता है कि वह अकेली अपने लक्ष्य की ओर आकृष्ट हो गई। वास्तव में हम जिन्हें अपने नेत्र, कर्ण, नाक, रसनेंद्रिय और स्पर्शेन्द्रिय के नाम देते हैं वे बाह्येन्द्रिय होने के कारण, कभी वहाँ हमारे उपयोग में ही नहीं आते। वहाँ तो ऐसा लगता है जैसे इन सारी ज्ञानेंद्रियों की कोई एक मूलशक्ति काम कर रही हो और वह स्वयं ही विचित्र ढंग से प्रभावित हो। यदि मनोवैज्ञानिकों की भाषा में कहा जाय तो कह सकते हैं कि इन संतों के उस विलक्षण अनुभव की दशा में, इनकी सम्पूर्ण चेतना (Consciousness) का कार्य क्षेत्र ही सीमित एवं संकुचित हो जाता है और इनका सारा का सारा स्व (Self) किसी ऐसे विंदु पर केन्द्रित हो जाता है जिसके सर्वथा अनुपम होने के कारण इन्हें उसका कोई निश्चित परिज्ञान नहीं हो पाता। उस अनुभव में जितनी ही गहराई आती जाती है, क्रमश: उतनी ही तीव्रता के साथ उसमें इनकी गति होने लग जाती है, ये उसमें प्रवेश करते चले जाते हैं, उसके साथ तादात्म्य की स्थिति में आने लगते हैं और इस प्रकार ये वस्तुत: आत्मविभोर तक बन जाते हैं। इनकी ऐसी दशा को हम कोरे ध्यान का नाम नहीं दे सकते, प्रत्युत उसे कोई वैसी समाधि कह सकते हैं जिसमें हमारी सारी मानसिक शक्तियाँ न केवल एकत्र केन्द्रित हो जाती हों, अपितु जहाँ पर वे एक में बँटकर स्थिरता तक प्राप्त करने लग जाती हों। वहाँ पर किसी भी इन्द्रिय विशेष की गति प्रत्यक्ष रूप में नहीं हो सकती, किंतु फिर भी उनकी समवेत शक्ति का वहाँ लगा रहना प्रतीत होता है और यही उसके रहस्य बन जाने का कारण है जिससे इन संतों को अपनी अनुभूति के विषय में उक्त प्रकार से कहना पड़ जाता है। एवलिन अंडरहिल ने इस अनुभव को किसी ऐसा संश्लेषणात्मक दृष्टि (Synthetic vision) का नाम दिया है जिसमें परमतत्त्व (Reality) का अनुभव हमें किसी साधारण प्रकार के निरीक्षण द्वारा नहीं होता, प्रत्युत उसके साथ तादात्म्य लाभ करने के रूप में हुआ करता है।[1] कबीर आदि साधकों ने किसी ऐसी ही दृष्टि के बल पर आध्यात्मिक सहज ज्ञान (Intuitive vision) की उपलब्धि की थी और अपने को उसमें लीन कर दिया था।[2]

संतों ने किसी बाहरी अनुभव में आने वाले सौंदर्य का वर्णन बहुत कम किया है। बाबा धरनीदास अथवा गुलाल साहब जैसे कुछ संतों की बानियों में कभी-कभी प्राकृतिक सौंदर्य के एकाध परिचय मिल जाते हैं और बिहारी दरिया साहब के 'ज्ञानरत्न' में आने वाला सीता के सौंदर्य का वर्णन तथा दुखहरण की प्रेमगाथा 'पुहुपावती' में दीख पड़ने वाला नायिका के मनमोहक रूप का चित्रण भी इस सम्बन्ध में उदाहरण स्वरूप दिये जा सकते हैं, किंतु ये वैसे उल्लेखनीय नहीं कहे जा सकते। ऐसे स्थलों पर इन संत कवियों ने अधिकतर प्रचलित परम्पराओं का ही अनुसरण किया है। वहाँ पर इनकी अभिव्यक्ति में कोई विशेषता नहीं दीख पड़ती और न वैसे प्रसंगों को हम साधारणत: संत साहित्य का प्रमुख विषय ही ठहरा सकते हैं। इनके सौंदर्य बोध परक उत्कृष्ट उद्गार केवल वहीं उपलब्ध होते हैं जहाँ इन्होंने अपने को किसी 'अलख' तथा 'अगम' और 'अगोचर' कही जाने वाली अप्रत्यक्ष वस्तु का, अपने भीतर प्रत्यक्षीकरण करने वाला ठहराया है तथा जहाँ पर इन्होंने उस 'रहस्य' का वर्णन भी अपनी रहस्यमयी भाषा में किया है। सौंदर्य बोध का माध्यम यदि केवल चक्षुरिंद्रिय मानी जाय अथवा, सुन्दर स्वर, सुन्दर गंध जैसे कथनों के आधार पर उसके लिए श्रवणेंद्रिय, घ्राणेंद्रिय जैसे बाह्य साधनों का भी उपयुक्त होना स्वीकार कर उसे केवल बाह्यानुभूति मात्र तक सीमित कर दिया जाय उस दशा में उसके विशिष्ट उदाहरणों

1. Evelyn Underhill : Mysticism (P. 332)

2. Evelyn : One Hundred poems of Kabir (Introduction P. xxiii)

का संत साहित्य के अंतर्गत पा लेना हमारे लिए कदाचित् कठिन हो सकता है परंतु यदि सुन्दर स्वभाव, सुन्दर कल्पना जैसी उक्तियों के सहारे, उनके क्षेत्र को और भी अधिक विस्तार दिया जाय तथा उसकी संभावना का अनुमान वहाँ भी कर लिया जाय जो साधारण अनुभव द्वारा गम्य नहीं तो, यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि संत साहित्य के भीतर उसके अच्छे से अच्छे उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिल जायंगे। संतों द्वारा अनुभूत सौंदर्य नितांत अनुपम है। वह उनकी सम्पूर्ण चेतना का विषय है और उन्हें सर्वतोभावेन प्रभावित करता है। ये उसके प्रति अनन्य भाव से आकृष्ट होते हैं और सर्वथा वही तक बन जाते हैं। इनकी सारी वृत्तियों अथवा इनके 'स्व' तक के उसमें रमने लगने तथा इसके परिणाम स्वरूप उसके स्वयं भी इनमें रमने में ही उसके नाम 'राम' की भी पूरी सार्थकता है।

(पृष्ठ ११ का शेषांश)

अन्तर्गत सभी कलाओं का समावेश नहीं किया जा सकता और प्रभाव ग्रहण की जिस प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है वह केवल ऐसी कलाओं के लिये लागू है जिनमें जीवन के किसी अनुभव की स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं है, वरन् जिनका सीधा सम्बन्ध मन की रागात्मक अवस्थाओं से है। सौन्दर्य-शास्त्र के पण्डितों ने दो प्रकार की भावनाओं में विभेद किया है। पहली वे जो रसात्मक होती हैं और दूसरी वे जिनका सम्बन्ध जीवन के व्यापक अनुभव से है। इस अन्तर को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि इस लेख की स्थापना केवल प्रथम कोटि की भावनाओं और उनसे सीधा सम्बन्ध रखने वाली संगीत आदि कलाओं से है; किन्तु ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जीवन की वास्तविक अनुभूतियों का ग्रहण भी कला में एक विशिष्ट प्रकार से होता है। इस सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्त हैं; जिनमें कुछ कल्पना, कुछ अनुमान और कुछ अन्य उपकरणों को अधिक महत्व देते हैं। किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि जीवन का यथार्थ अनुभव कला में छन कर बहुत-कुछ परिवर्तित हो जाता है और उसका बोध बहुत-कुछ प्रभाव रूप में ही होता है। इस दृष्टि से प्रभाव-ग्रहण की जिस पद्धति की ओर हमने ध्यान आकृष्ट किया है, उसकी व्यापकता के बारे में अधिक शंका नहीं होनी चाहिये।

"कला कला के लिए" एक ऐतिहासिक विवेचन

डा० सोमनाथ गुप्त एम० ए०, पी-एच० डी०

जीवन अनुभवों की प्रयोगशाला है। इसमें निरन्तर धारणायें बनती हैं, परिष्कृत होती हैं और बिगड़ती भी हैं। मानव का सदैव यह प्रयत्न रहा है कि अपने मानसिक उद्वेलनों और नित्य अथवा अनित्य विचारों को, यथाशक्ति, लिपि-बद्ध कर सके—चाहे ये सब व्यक्ति से सम्बन्धित हों अथवा समाज या राष्ट्र से। प्रत्येक विचार-धारा का प्रभाव उसके विस्तार की पृष्ठभूमि पर निर्भर रहता है।

इस प्रकार के विचारों को क्रमबद्ध करने के लिये प्रायः 'सूत्रों' अथवा 'नारों (Slogans) का आश्रय लिया जाता है और कालान्तर में यह नारे ही विचार-धारा का स्थान ग्रहण कर उसके प्रतीक बनते हैं। धर्म-सूत्रों और दर्शन-सूत्रों की तरह सौंदर्य-बोध-सूत्रों का भी विकास होता है। 'कला कला के लिए' एक ऐसा ही नारा है, जिसका सीधा सम्बन्ध सौंदर्य-भावना, रुचि-विकास और कल्पना-शक्ति से है। अतएव समस्त कलात्मक सृष्टि इस नारे की पृष्ठभूमि है और तत्संबंधी विचारधाराओं का विकास ही इसके महत्व, उपयोगिता और उद्गम् का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आवश्यक सामग्री है।

'कला कला के लिए' हिन्दी अथवा संस्कृत की विचारधाराओं से उद्‌भूत सिद्धान्त नहीं है। वास्तव में, यह अँगरेज़ी के शब्द-समूह 'Art for Art's sake' का अनुवाद है और स्वयं अङ्गरेजी की शब्दावली फ्रेंच भाषा के "L' Art pour L' Art" का रूपान्तर है। अतएव इसके वास्तविक अर्थ के इतिहास के लिए फ्रांस की विचार-पद्धति और उसके साहित्य को टटोलने की आवश्यकता है।

यह निर्विवाद है कि पश्चिम की दार्शनिक विचार-पद्धति का मूल-स्रोत यूनान था, जहाँ से सभ्यता का केन्द्र इटली या रोम की ओर गया। रोम से वह जर्मनी पहुँचा और वहाँ से फ्रांस होता हुआ इङ्गलैंड में प्रविष्ट हुआ। इङ्गलैंड से भारत का सम्पर्क होने पर कुछ विचार वहां से भारतवर्ष आए और 'कला कला के लिए' का नारा भारत के साहित्य में विदेश की भेंट-स्वरूप ग्रहण कर लिया गया।

इस प्रकार अँगरेज़ी से हिन्दी में 'कला कला के लिए' वाली बात किस प्रकार आई, नितान्त स्पष्ट है। अँगरेज़ी वालों ने इसे फ्रांस से अपनाया जैसा कि फ्राँसीसी भाषा के रूपान्तर से स्पष्ट है। इङ्गलैंड में यह सिद्धान्त किसी मूल सिद्धान्त के रूप में ग्रहण नहीं किया गया। कला-विषयक अन्य नारों की तरह यह भी एक नारा था।

वास्तव में 'कला कला के लिए' ने सिद्धान्त रूप में सबसे अधिक जड़ फ्रांस में जमाई परन्तु इसके विकासकाल में प्रवेश करने से पहले इसके जर्मनीय उद्‌गम पर विचार करना आवश्यक है।

'कला कला के लिए' का सम्बन्ध जर्मनी की उस सौन्दर्य-परक विचारधारा से है, जो प्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट (सन् १७२४-१८०४ ई०) के विचारों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होकर, हीगल (सन् १७७०-१८३१ ई०) तक जर्मनी में पलती और पोषित होती रही।

काण्ट ने अनुभव किया कि जीवन-साहित्य में एक ऐसे शब्द की आवश्यकता है जो प्रतिभा-सम्पन्नता, रुचि-वैचित्र्य और सुन्दरता-विषयक धारणाओं को एक सामान्य सिद्धान्त के अन्तर्गत व्यक्त कर सके। काण्ट के पूर्वज ए. जी. वॉमगार्टन (Baumgarten) (सन् १७१४-६२ ई०) ने सौंदर्य-दर्शन के अनुसन्धान में इसी विषय की पूर्ति के निमित्त 'Aesthetic' (सौंदर्यपूर्ण)

शब्द का प्रयोग किया था।[1] प्रारम्भ में काण्ट इस शब्द से संतुष्ट नहीं थे, परन्तु अन्त में उन्होंने स्वयं इस शब्द का अनेकों बार प्रयोग किया और उन्हीं से यह शब्द समस्त योरुप में फैला। अपनी प्रसिद्ध रचना Critique of Judgement (रचना-काल सन् १७९०) में सौंदर्य-बोध की चर्चा करते हुए उन्होंने जो विचार प्रगट किए हैं वे इस प्रकार हैं—

"अपनी इन्द्रियों द्वारा हम अपने 'प्रिय' अथवा 'रुचिपूर्ण' पदार्थों की पहचान करते हैं, परन्तु 'सुन्दर' की खोज के लिए हमें सौन्दर्य-परक-निर्णय (Aesthetic Judgement) की आवश्यकता होती है। यह **निर्णय एक प्रकार का आनन्द है, जो कलात्मक अनुभूतियों के रूपों को देखकर प्राप्त होता है। इन रूपों का सृजक कोई प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति ही होता है, जो अपनी स्वतन्त्र कल्पना तथा अलिप्तता से उत्पन्न क्रिया द्वारा इनकी व्यवस्था करता है।**"

काण्ट के इन विचारों में कला, उसके महत्व और उसकी उपयोगिता तथा कलाकार की अवस्था पर पर्याप्त संकेत हैं। इनसे स्पष्ट है कि कला का लक्ष्य आनन्द की उत्पत्ति करना है **और कलाकार का कर्त्तव्य निर्लिप्त रह कर अपनी प्रतिभा से सुन्दर रूपों का** निर्माण करना है। कला की सृष्टि जब अलिप्तता के कारण होती है तभी उसे काण्ट के शब्दों में 'उद्देश्यहीन लक्ष्य' (Purposiveness without purpose) कहा जाता है। काण्ट के युग की यह मान्यता थी कि लक्ष्य-सिद्ध होने से कला अर्थहीन हो जाती है, वह अपने स्तर से गिर जाती है और इस प्रकार अपने उदात्त संदेश से विमुख पड़ जाती है। इसके विपरीत प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार अस्त-व्यस्त सामग्री को भी ऐसा व्यवस्थित कर देता है कि अमूर्त्त भी मूर्त्त रूप धारण कर लेता है। इसी मूर्त्त एवं अमूर्त्त के आधार पर काण्ट ने कला का वर्गीकरण 'ललित' एवं 'उपयोगी' नाम से किया है।

सौंदर्य के विषय में काण्ट का कहना है कि **शुद्ध सौन्दर्य से न तो सत्य का काम चलता है और न आचार अथवा नैतिकता का। सौन्दर्य न तो संवेग (Emotion) है और न रुचि-परक संवेदन (Sensation)**। वह सौन्दर्य-बोध निर्णय की एक स्वतन्त्र क्रिया है—इससे न कुछ अधिक है और न कुछ कम। शुद्ध सौन्दर्य केवल शिष्टाचारगत् (formal) है। पदार्थ स्वयं न सुन्दर होता है और न असुन्दर। इन्द्रियाँ सौंदर्य का आरोपण करती हैं और इस आरोपण का आधार व्यक्ति या समष्टि की सौन्दर्य-भावना रहती है।

काण्ट ने कला के केवल आनन्द गुण को ही स्वीकार किया है, उसे उपदेशात्मक मानने के लिए वह प्रस्तुत नहीं है। उसका मत है कि जो सुन्दर है वह उदार और उदात्त है और जो उदात्त है उसका उद्भव नैतिकता को स्वयं जन्म देगा, परन्तु यदि कला का लक्ष्य उपदेशात्मक होने लगेगा तो उसके द्वारा उत्पन्न आघात चिन्ह (Impressions) स्वतः ही नष्ट हो जायँगे, क्योंकि जब कलाकार का ध्यान उसके एक निश्चित उद्देश्य पर केन्द्रित हो जायगा तो कल्पना में गतिरोध उत्पन्न होगा और कला अपनी लक्ष्य-सिद्धि से गिर जायगी। मनुष्य की आत्मा में केवल अनुकृति ही नहीं है। उसमें कुछ ऐसी आन्तरिक भावनाएँ भी हैं जो वास्तविक पदार्थों के दर्शन से तृप्त नहीं हो पातीं। कलाकार इन्हीं भावनाओं को, अपनी कल्पना द्वारा, अमूर्त्त से मूर्त्त बनाता है। उसकी तृप्ति भी इसी सृजन से होती हैं। काण्ट के इस विवेचन से सिद्ध होता है कि वह कला को सौन्दर्य-बोध का परिणाम मानता था और उसका उद्देश्य कोई नैतिक उपदेश न मानकर आनन्द प्रदान करना समझता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि रोम के कैथलिक गिरजाघरों (Catholic churches) से जो ईसाईयत का प्रचार हुआ, उसके कारण कला को धर्म के प्रचार-हेतु ही स्वीकार किया गया। यूनान के कलाकारों ने अपनी

1—Shipley, Dictionary of world Literature. Page 8

मूर्त्तियों को जिस रूप में ढाला, वे अधिकांश में आदर्श-स्वस्थ मानव की प्रतिमूर्त्ति के प्रतीक हैं। रोम के कलाकारों ने गिरजाघरों अथवा अन्य स्थानों पर जो मूर्त्ति-कला के सुन्दर-सुन्दर चित्र बनाए, उनमें महात्मा ईसा, कुमारी मैरी और ईसा के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं के ही चित्र हैं। माइकेल एंजोलो, राफ़ल आदि की कला इसी ओर अग्रसर हुई। **सम्भवतः धर्म के प्रचार में जो कला का इतना उपयोग हुआ उसी की प्रतिक्रिया के रूप में 'कला धर्म के लिए' न होकर 'कला कला के लिए' हो गई।** कला का उद्देश्य आनन्द मान लेने के कारण कांट के विचारों ने इस भाव को अधिक प्रश्रय दिया और यद्यपि कांट ने स्वयं इस शब्द-समूह का प्रयोग नहीं किया; परन्तु नारे के अभाव में भी उसका अर्थ यही स्वीकार हुआ।

कांट और हीगल की सौंदर्य-विषयक विचारधारा का प्रभाव सन् १८१४ तक चलता रहा। उसके पश्चात् कला और सौन्दर्य के सम्बन्ध में नई धारणाओं का भी प्रवेश हुआ। **फ्रांस के विक्टर कोज़ीन** (Victor Cousin) इन नए विचारों के प्रवर्त्तक थे। उनके विचार में—

"**सौन्दर्य एक पूर्ण अस्तित्व** (An absolute idea) **है। वह अपूर्ण प्रकृति का न अनुकरण है और न अंश है। जो कुछ रुचिकर है वह व्यक्तिगत संवेदना का परिणाम है, परन्तु 'सुन्दर' सर्वजनीन निर्णय है।** अतएव कला के दो पक्ष हैं—**इन्द्रियों को आनन्द देना और आदर्श की आवश्यकता की पूर्ति करना।** जहाँ तक संवेदना और निर्णय दोनों का सम्बन्ध है, ये दोनों सौंदर्य के तत्त्व हैं। **सौन्दर्य की भावना एक नितान्त उदासीनता की भावना है।** सौन्दर्य स्वयं कोई उपयोगी पदार्थ नहीं और सच्चा कलाकार दर्शक की सौन्दर्य-विषयक शुद्ध भावना को उत्तेजित करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करता। किसी वस्तु में वास्तविकता का भ्रम हो जाना सौन्दर्य की भावना नहीं है। कला धर्म अथवा आचार के लिए सीमित नहीं है, वह रुचिकर और उपयोगी होने के लिए भी उसी प्रकार सीमित नहीं है; क्योंकि कला कोई साधन नहीं है, वह स्वयं साध्य है।[1]

"इन्द्रियाघातों के समय स्वतः विकसित होने वाले तर्क तथा शुद्ध प्रेम के लिए कलाकार अपनी कल्पना का प्रयोग करता है। तात्विक सौन्दर्य (Metaphysical beauty) सत्य और शुभ को, यद्यपि वे पृथक-पृथक दिखाई देते हैं, एक सूत्र में बाँधता है। सत्य जब मानवी कृत्यों के रूप में प्रकट होता है तब शुभ बनता है और जब इन्द्रियजनित रूपों में प्रकट होता है तो सौन्दर्य होता है।" (अतएव शुभ और सुन्दर सत्य की ही दो विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं।) आगे चलकर कोज़ीन पुनः कहता है—

"जीवन में विभिन्नता का कारण इन्द्रियानुभूति है—तर्क द्वारा एकत्व को ग्रहण करने में कल्पना सहायता प्रदान करती है और तभी मानवी विवेक शान्ति एवं एकता का अनुभव करता है। परमात्मा के तीन रूप हैं—सत्य, सुन्दर और शुभ। और ये तीनों मानव द्वारा प्राप्त किए जा सकते हैं।"

"रुचि और प्रतिभा में एक अन्तर है—रुचि प्राकृतिक सौन्दर्य (स्वाभाविक) की सराहना है और प्रतिभावान आदर्श-सौन्दर्य का सृजक। रुचि निष्क्रिय शक्ति है और प्रतिभा सक्रिय व स्वतन्त्र शक्ति है। कलायें भिन्न लक्ष्यगामी नहीं, केवल उनके साधनों में अन्तर है। सभी कलाओं में आँख और कान का प्रयोग अवश्यम्भावी है यद्यपि प्रत्येक की अभिव्यक्ति के प्रतीक पृथक-पृथक हैं।"

इस प्रकार कला, सौन्दर्य और रुचि की मूल धाराओं में कुछ अन्तर आया। काण्ट और कोज़ीन के युग का भेद ऊपर के संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है। परन्तु अभी तक का 'कला कला के लिए' वाला नारा अधिक प्रयोग में नहीं आया। सन् १८२६ में जाफ्रे (Jouffroy) ने इस शब्द-समूह को कलाओं में लागू

---

1. Il faut de la religion pour la religion, de la morale pour la morale comme de l' art pour l' art.

किया और सन् १८३२ में इसका प्रयोग गातियेर (Gautier) एवं फ़ोरटोल (Fortoul) की रचनाओं में अधिकता से मिलने लगा।

१६ वीं शताब्दी के इस भाग में फ्रांस की राजनीतिक एवं सामाजिक दशा के कारण जीवन और उसकी व्यवस्था विषयक अनेक नए शब्दों का प्रयोग साहित्य में होने लग गया था। Bohemianism और Romanticism ऐसी ही विचारधारायें थीं। और 'कला कला के लिए' का गठबन्धन इन्हीं दोनों विचारधाराओं के साथ हुआ।

अब प्रश्न यह उत्पन्न हुआ कि शुद्ध कला की सामाजिक उपयोगिता क्या है? समाज में कुछ विचारक यह कहने लगे कि यदि सृजन का लक्ष्य केवल सृजन है तो यह भयानक अहङ्कार है। यह प्रतिक्रिया उसके विरोध में थी जो मानते थे कि कविता स्वयं पूर्ण और स्वतन्त्र है, उसका इसके अतिरिक्त अन्य कोई लक्ष्य नहीं; उसका क़ानून उसके द्वारा प्रदत्त आनन्द है और उसका एकमात्र लक्ष्य कल्पना को जीवन में साकार देखना है। गस्ताव प्लांशे (Gustave Planche) ने तो यहाँ तक कह दिया कि—

"'कला के लिए कला' वाले सूत्र में केवल भ्रूणता है, अनुत्पादकता और क्लीवत्व है; कला का वास्तविक मूल्य तभी है जब वह भावना का परिष्कार करती है और मानव की नैतिकता को उच्च बनाती है।"[1]

अतएव 'कला कला के लिए' का अभिप्राय 'रूप, रूप के लिए' नहीं है वरन् 'रूप, सौन्दर्य के लिए' है। इसके अतिरिक्त इसके सभी अभिप्राय: मूल भावना के विपरीत हैं।

उपसंहार

सन् १८०४ में 'कला कला के लिए' का प्रयोग निर्लिप्तता की सौन्दर्यपरक धारणा के पर्यायवाची शब्द के रूप में किया जाता था, जिसका अभिप्राय काण्ट के शब्दों में, 'लक्ष्यहीन लक्ष्य' (Purposiveness without purpose) था। सन् १८१५ में बोर्बान (Bourbon) वंशी राजाओं के पुनरागमन पर काण्ट की सौन्दर्यपरक विचारधारायें पेरिस में आईं। नए-नए नारों (Rubrics) के द्वारा ये विचार पेरिस में नए सौन्दर्य-सिद्धान्तों के रूप में विकसित हुए और 'कला कला के लिए' एक नारा भी बना तथा एक आन्दोलन का केन्द्रीभूत सिद्धान्त भी। सन् १८२०—३० तक दो पत्र 'Globe' और 'Revue de Paris' इस आंदोलन के मुख्य साधन रहे। सन् १८३३-३४ में सेंत ब्यूव (Sainte-Beuve) तथा उनके कुछ मित्रों ने यह विचार प्रकट किए कि 'ग्लोब' और उसके अधिकारी सभी 'कला कला के लिए' सम्प्रदाय के अनुयायी थे। फिर यह विचारधारा Bohemianism तथा Romanticism में भी मिल गई, यद्यपि इसका अस्तित्व पृथक् रहा।

१६ वीं शताब्दी के मध्य में यह सिद्धान्त अपने पूर्णत्व को पहुँचा और अनेकों सृजक कलाकारों का बुनियादी सौन्दर्य-बोध-जन्य सिद्धान्त बना रहा। परन्तु जिस काण्टीय विचारधारा से इसका श्रीगणेश हुआ था वह इससे पृथक् हो गई और गातियेर (Gautier) एवं बाउदेलेयेर (Baudelaire) के विचारों से ओत-प्रोत होकर यह चलती रही। काण्ट एक प्रकार से बिचौलिए रह गए।

अपना यह इतिहास लेकर 'कला कला के लिए' सिद्धान्त अङ्गरेज़ी साहित्य में आया और अपने साथ यहाँ आकर इसने अनेकों नारों को जन्म दिया। उदाहरणार्थ—

'Art for Life's sake'

(कला, जीवन के लिए)

(शेष पृष्ठ ५० पर)

1. "In the formula of L' art pour L' art which some artists have tried to make prevail, there is only miscarriage, sterility and impotence; works of art have real value only when they appeal to the feeling, that is to say, to the moral part of man."

कला और सौन्दर्य

श्री रामानन्द तिवारी

भारतीय काव्य-शास्त्र और पश्चिमी सौन्दर्य-शास्त्र दोनों में कला और काव्य के सौन्दर्य और आनन्द का विवेचन व्यक्ति को उनका आश्रय मानकर किया गया है। दोनों की दृष्टि में कला और काव्य व्यक्तिगत अध्यवसाय हैं तथा व्यक्ति के आश्रय में ही उनके सौन्दर्य और आनन्द की अनुभूति होती है। हमारे मत में समात्मभाव मानवीय और सांस्कृतिक जीवन की मौलिक स्थिति हैं। समात्मभाव व्यक्तित्व के अनिश्चित विन्दुओं का आत्मीयता और परस्पर भावसम्प्रेषण का चिन्मय भाव है। दम्पति और सुहृदों के सम्बन्ध में यह भाव हमारे व्यवहार में चरितार्थ होता है। अन्य सामाजिक सम्बन्धों में भी इसका विस्तार सम्भव है। समात्मभाव वेदान्त के निर्विकल्प कैवल्य तथा मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवाद दोनों से भिन्न है। यह वेदान्त की जीवन मुक्ति के अधिक निकट है जिसमें कैवल्य और व्यक्तिवाद दोनों का सामंजस्य है। कैवल्य अनुभव की एक असाधारण और अनिर्वचनीय स्थिति है। वह समात्मभाव का तात्विक आधार हो सकती है। इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवाद भी जीवन और व्यवहार का यथार्थ है। हमारा अनुरोध केवल इतना ही है कि व्यक्तित्व के एकान्त की स्थिति में कलात्मक सौन्दर्य और आनन्द का उदय नहीं होता। व्यक्तित्वों की अनेकता में समात्मभाव उत्पन्न होने पर ही सौन्दर्य और आनन्द का स्फोट होता है। यदि वेदान्त के अनन्त ब्रह्म को इस आनन्द का मूल स्रोत माना जाय तो हमें कोई आपत्ति नहीं है। भेद और अभेद की कठिनाइयाँ हमारी दृष्टि में बुद्धि की समस्यायें हैं। वास्तविक जीवन में भेद और अभेद दोनों का सहज सामंजस्य है। जहां इनमें विषमता है वहां सौन्दर्य और आनन्द का उदय सम्भव नहीं है। समात्मभाव की स्थिति में अभेद का अनुभव सौन्दर्य और आनन्द को सम्भव बनाता है तथा भेद की यथार्थता उसे समृद्ध बनाती है।

यह समात्मभाव जीवन की कोई असाधारण स्थिति नहीं है। इसकी पूर्णता चाहे दुर्लभ हो किन्तु इसका आंशिक भाव जीवन में अत्यन्त साधारण और सुलभ है। इस अंश के अनुरूप ही जीवन का सौन्दर्य और आनन्द होता है। इस दृष्टि से कला और काव्य जीवन की असाधारण स्थितियों की अभिव्यक्ति नहीं है, जैसा कि प्राय: माना जाता है। क्रोचे ने कला को आदिम वृत्ति के रूप में साधारण बनाया किन्तु दूसरी ओर एक असाधारण और आत्मगत अनुभूति में उसकी पूर्णता मानकर उसे असाधारण और व्यक्तिगत बना दिया। क्रोचे की कलात्मक अनुभूति व्यक्तिगत और निर्विकल्प है। व्याघात के अतिरिक्त इस मत के अनुसार जगत के बाह्य पदार्थ और कला की बाह्य अभिव्यक्तियों का कोई महत्व नहीं है। हमारे मत में समात्मभाव जीवन की एक साधारण स्थिति ही नहीं है वरन् बाह्य निमित्तों की स्थिति तथा बाह्य माध्यमों में अभिव्यक्ति के साथ पूर्णत: संगत है। संगत ही नहीं ये निमित्त और माध्यम उसे अधिक सम्पन्न बनाते हैं तथा इन्हीं के द्वारा जीवन और कला का सौन्दर्य व्यवहार में साकार होता है। कलाकृतियों का महत्व प्रमाणित करने के साथ-साथ समात्मभाव का सिद्धान्त काव्य-शास्त्र की अनेक जटिल समस्याओं का अधिक संगत समाधान प्रस्तुत करता है। भारतीय लोक-संस्कृति की अवस्था में कलात्मक सौन्दर्य के साथ जीवन का जो समीकरण मिलता है वह समात्मभाव के ही अनुरूप है। प्रतिभा की कला कृतियां लोक-संस्कृति के सौन्दर्य

सागर में समात्मभाव की पूर्णिमा में उठने वाले आनन्द के ज्वार हैं।

चेतनाओं के सामंजस्य और परस्पर सम्प्रेषण के जिस भाव को हमने कला और काव्य का मूल स्रोत माना है उसे अनुभूति, सहानुभूति, समानुभूति आदि के प्रसिद्ध सिद्धान्तों से भेद करने के लिये हमने समात्मभाव को संभूति कहा है। यह समात्मभाव जीवन का एक व्यापक भाव है। यह सौन्दर्य का आदि स्रोत ही नहीं शिवम् का भी मूल है और इसे हम जीवन का सांस्कृतिक सत्य भी कह सकते हैं। सत्य के इस व्यापक रूप में शिवम् और सुन्दरम् का भी समाहार है। किन्तु व्यवहार और साहित्य में हम उन्हें पृथक भी मानते हैं। ऐसी स्थिति में इनके विभक्त रूपों का निरूपण अपेक्षित है। बाह्य सत्ता, प्राकृतिक नियमों और बौद्धिक सिद्धान्तों के अर्थ में सत्य एक स्वतंत्र और उदासीन तत्त्व है। सत्य की अवगति चेतना में उसका उदासीन ग्रहण है। यह उदासीन भाव-दर्शन और विज्ञान का तटस्थ दृष्टिकोण है। उस उदासीन अवगति में भी ज्ञान का आलोक हमारी आत्मा में प्रकाशित होता है। वस्तुगत सत्यों के अनुसन्धान में यह उदासीनता सम्भव है और वांछनीय भी है। किन्तु जीवन के तत्त्वों के अनुसन्धान में अवगति का आलोक अभिव्यक्ति का आह्लाद बन जाता है। हम अपनी भाव-सम्पत्ति में भाग लेने के लिये दूसरों का आमंत्रण करते हैं। इसी आमंत्रण में सौन्दर्य का उदय होता है। सौन्दर्य व्यक्ति की एकांत अनुभूति में उदय नहीं होता। एकांत में भी हम वस्तुओं, जीवों और अनुपस्थित व्यक्तियों के साथ बन्धुभाव की स्थापना करते हैं। काव्य में यह भावना ओतप्रोत है। इस समात्मभाव में ही जीवन की आकूतियों की व्यंजना होती है, जिसे सामान्यत: अभिव्यक्ति कह सकते हैं। विज्ञान और दर्शन में अवगति का अर्थ-तत्त्व अभिव्यक्ति के समान होता है। अर्थ और अभिप्राय की सममेयता अभिधा का क्षेत्र है। आकूति अर्थ का अनिर्वचनीय अतिशय है, जिसकी अभिव्यक्ति समात्मभाव की स्थिति में होती है। समात्मभाव की स्थिति में आकूति की व्यंजना कला और काव्य के सौन्दर्य का मूल स्रोत है।

इस दृष्टि से समात्मभाव का सिद्धान्त भारतीय रस-सिद्धान्त से भी पूर्णत: सहमत नहीं है। समात्मभाव के अनुसार रौद्र, वीभत्स, भयानक आदि की विषमता मूलक स्थितियों में सौन्दर्य और रस की निष्पत्ति सम्भव नहीं है। क्रोध, भय, जुगुप्सा आदि वास्तविक मनोविकार हैं किन्तु विषमता-मूलक होने के कारण वे सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के अनुकूल नहीं हैं। काव्य साहित्य में इन रसों के वर्णन की अल्पता इस धारणा का समर्थन करती है कि ये सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के अनुकूल नहीं हैं। जिस समात्मभाव की स्थिति में सौन्दर्य का उदय होता है उसमें यह भाव विलीन हो जाते हैं। समात्मभाव के अनुरूप हम दूसरों के भाव में भाग लेते हैं। अत: समात्मभाव का सिद्धान्त साधारणीकरण आदि की पहेलियों से भी बच जाता है। वस्तुत: समात्मभाव ही मानवीय जीवन और संस्कृति का मौलिक सत्य है। जीवन का अर्थ न व्यक्तित्व की कठोर सीमा में निहित है और न किसी निरपेक्ष भाव में। व्यक्तित्व के विलय में जीवन अकल्पनीय है। किन्तु कठोर इकाई के रूप में व्यक्तित्व केवल एक प्राकृतिक तथ्य और बौद्धिक प्रत्याहार है। समात्मभाव के सुन्दरम् और शिवम् के द्वारा ही व्यक्तित्व का निर्माण और विकास होता है। तथा समात्मभाव में ही व्यक्तित्व की समृद्धि और उसकी सफलता है। यह समात्मभाव दर्शन का कोई गूढ़ सिद्धान्त नहीं, जीवन का एक सरल सत्य है। हम एक दूसरे के भावों में भाग लेते हैं यह जीवन का एक सरल किन्तु सुन्दर और शिव सत्य है। इसी सत्य को साकार बनाकर भारतीय संस्कृति के उत्सव और पर्व श्रेय और सौन्दर्य के तीर्थ बनते हैं।

सौन्दर्य का प्रयोग अनेक स्थितियों और धरातलों में होता है। सम्भवत: सौन्दर्य का कोई सामान्य रूप हो किन्तु इन स्थितियों में और धरातलों में अभिव्यक्त होने होने वाले सौन्दर्य के रूपों में जो भेद किया जाता है

उसका आधार क्या है, इस पर भी विचार करना आवश्यक है। हम प्रकृति के दृश्यों को देखते हैं और उनमें सौन्दर्य का अनुभव करते हैं। यह सौन्दर्य के अनुभव का एक धरातल है। यदि प्रकृति का यह सौन्दर्य-दर्शन एकान्त में सम्भव हो जैसा कि कुछ लोगों का मत है, तो जब हम प्रकृति के सौंदर्य से प्रभावित होकर दूसरों को अपने इस अनुभव में भाग लेने के लिए आमंत्रित करते हैं, यह सौंदर्य की दूसरी स्थिति है जो पहली स्थिति से भिन्न है। ये दोनों स्थितियाँ सौंदर्य के दर्शन से सम्बन्ध रखती हैं। एक तीसरी स्थिति सौंदर्य का सृजन है, जिसमें कुछ लोग अनुकृति का तथा दूसरे कृति का गौरव देखते हैं। सौन्दर्य के सृजन में कलात्मक चेतना अधिक सक्रिय है और वह सौंदर्य के उन रूपों की रचना करती है जिनके दर्शन में पहिले उस सौंदर्य का अनुभव हुआ था। सौन्दर्य का सृजन पूर्णतः दर्शन पर आश्रित नहीं है। सृजन के कुछ मौलिक रूप भी हैं जिनमें दर्शन का आधार अल्प अथवा नगण्य है और कलात्मक चेतना अधिक सक्रिय होती है। सौंदर्य का यह सृजनात्मक रूप प्रायः कला कहलाता है। प्राकृतिक सौंदर्य के दर्शन की भाँति कला के सौंदर्य का दर्शन और अनुभावन सौंदर्य की एक भिन्न स्थिति है। प्राकृतिक सौंदर्य में भाग लेने के आमन्त्रण की भांति कलात्मक सौंदर्य के अनुभावन में भाग लेने के लिए भी हम प्रायः दूसरों को आमंत्रित करते हैं। सौन्दर्य के एकान्त और सामूहिक अनुभावन भिन्न होंगे, यदि इन दोनों स्थितियों में कोई मौलिक और मनोवैज्ञानिक भेद है। सौन्दर्य के इस दर्शन, सृजन और विभाजन के अतिरिक्त उसका एक रूप प्रदर्शन भी है। यह प्रदर्शन एक का प्रदर्शन और दूसरे का दर्शन है। किन्तु प्रदर्शन और दर्शन की स्थिति एक दूसरे से भिन्न है। दर्शन का कर्ता सौंदर्य को केवल एक अनुभावन की वस्तु मानता है, वह उसके प्रति किसी अधिकार का अनुभव नहीं करता। प्रदर्शन का कर्त्ता सौन्दर्य को अपना अधिकार और अपनी विभूति मानता है। सुन्दरी स्त्रियों के रूप-दर्प और उनकी शृङ्गार-सज्जा में यह प्रदर्शन का सौंदर्य प्रायः देखा जाता है। इस प्रदर्शन के सौंदर्य में कला की सृजनात्मक वृत्ति भी अन्तर्निहित है। संगीत, नृत्य और नाटक में सृजन का प्रदर्शन के साथ संयोग अधिक स्पष्ट है। ये तीनों ही कला के रूप हैं। इनमें सृजन का सौंदर्य स्पष्ट है। कोई आत्मलीन कलाकार एकान्त में भी नर्तन और गायन करते हैं, किन्तु प्रदर्शन इन कलाओं का एक महत्वपूर्ण अङ्ग बन गया है। इन कलाओं में सृजन और प्रदर्शन की क्रिया एक साथ होती है अतः प्रदर्शन इनके स्वरूप का अङ्ग प्रतीत होता है। चित्र और मूर्ति कला में भी प्रदर्शन होता है। आधुनिक कलाकारों की कृतियाँ की प्रदर्शनियाँ होती हैं किन्तु इन कलाओं का सृजन और प्रदर्शन पृथक् पृथक् क्रियायें हैं जो भिन्न-भिन्न कालों में होती हैं। सौंदर्य के सृजन, प्रदर्शन और अनुभावन की ये स्थितियाँ जीवन और अनुभव की कुछ असाधारण अवस्थायें हैं जिनमें हम अपने सामान्य जीवन और व्यवहार की तुलना में कुछ विशेषता और नवीनता का अनुभव करते हैं। इन असाधारण स्थितियों के अतिरिक्त लघुतर और उपयोगी कलाओं का सौंदर्य के रूप में विशेष योग है। निकटता और निरन्तर परिचय के कारण सौंदर्य के इस रूप में हमें नवीनता का अनुभव कम होता है। इसका अभिप्राय यही है कि इस सौंदर्य का भाव हमारे जीवन और व्यवहार में मिलकर उनके साथ एक हो जाता है, अतः वह जीवन और व्यवहार के समान ही साधारण बन जाता है। सौन्दर्य के इस रूप में दर्शन, सृजन और प्रदर्शन पृथक् पृथक् दिखाई देते हैं, किन्तु सामान्यतः इसमें इन तीनों का संगम रहता है। इसका कारण हमारे जीवन और व्यवहार की सामाजिक स्थिति है। इस सामाजिक स्थिति में दर्शन कलाकार के चिंतन के समान एकाकी नहीं होता। इसके सृजन में भी सहयोग रहता है और प्रदर्शन तो स्वरूप से ही सौंदर्य की सामाजिक स्थिति है। इस सामाजिक स्थिति में सौन्दर्य एकांत अनुभव अथवा सृजन की वस्तु नहीं है—वरन् वह सामाजिक समात्मभाव की सम्भूति, सहयोग की कृति और साहचर्य का आनंद है।

सौंदर्य की इन सभी स्थितियों में हम किसी न किसी रूप में सौंदर्य का अनुभव और प्रयोग करते हैं। प्रश्न

यह है कि क्या सौंदर्य का कोई ऐसा सामान्य स्वरूप है जो इन सब स्थितियों और रूपों में व्याप्त हो। सौंदर्य के इस सामान्य स्वरूप की इन विशेष रूपों के साथ क्या संगति है, यह भी विचारणीय है। प्राय: इन प्रश्नों के समाधान में इन अनेक स्थितियों की रूपगत विशेषताओं की अवहेलना की जाती है। सौंदर्य की असाधारण स्थिति को जीवन और व्यवहार के सामान्य भाव के साथ संगति इन समाधानों में दुर्लभ ही है। ग्रीक युग में कुछ विचारक सौंदर्य को बाह्य और वास्तविक मानकर उसके वस्तुगत गुणों का अन्वेषण करते रहे। आधुनिक युग में फैकनर ने सौंदर्य के इसी वस्तुगत रूप के निर्धारण का अभिनव प्रयत्न किया है। किन्तु आधुनिक युग में सौंदर्य के आत्मगत रूप की धारणा अधिक प्रबल रही है। योरुप के आधुनिक दर्शन के आरम्भ से ही उदय होकर यह धारणा क्रोचे के अनुभूतिवाद में (जिसे अभिव्यक्तिवाद कहा जाता है) पर्यवसित हुई है। सौंदर्य की अर्वाचीन धारणाओं को क्रोचे ने सबसे अधिक प्रभावित किया है। क्रोचे का कार्य सौंदर्य-शास्त्र के इतिहास में एक क्रांति समझा जाता है। जिस प्रकार हीगल के आध्यात्मवाद से प्रभावित अभिनव आध्यात्मवाद इङ्गलैंड का एक महत्वपूर्ण दार्शनिक आंदोलन था उसी प्रकार क्रोचे के अनुभूतिवाद से प्रभावित सौंदर्य-शास्त्र की मान्यता भी वहाँ पल्लवित हुई। हीगल के आध्यात्मवाद का प्रसार और प्रवर्धन करने वालों में ब्रैडले और बीसानक्वेट का नाम उल्लेखनीय है, उसी प्रकार क्रोचे के अनुभूतिवाद का प्रसार और प्रवर्धन करने वालों में कालिंगवुड कैरिट अग्रगण्य हैं।

वस्तुवादी और अनुभूतिवादी दोनों ही धारायें एकांगी प्रतीत होती हैं। एक सौंदर्य को वस्तुओं का गुण मानकर उसके अनुभावन और सृजन में चेतना की सक्रियता और सृजनात्मकता के मूल्य का तिरस्कार करती है। वस्तुगत सौंदर्य केवल ग्रहण का सौंदर्य है। मनुष्य की चेतना केवल उसकी दृष्टा है, सौंदर्य के निर्माण में कोई सक्रिय सहयोग नहीं है। सौंदर्य की वस्तुवादी धारणा में कठिनाई यह है कि एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को सुंदर और असुंदर अथवा कम सुन्दर प्रतीत होती हैं। सौंदर्य की धारणा में जो परिवर्तन होता है उसकी व्याख्या क्या हो सकती है, यदि वस्तु के रूप और गुण यथावत रहते हों। जो वस्तु कुछ लोगों को असुन्दर प्रतीत होती है वह दूसरों को कैसे सुन्दर लगती है? यदि सौंदर्य पूर्णत: पराधीन और विशेषता का भाव है तो हमें उसमें स्वतंत्रता के आनंद का अनुभव कैसे होता है? दूसरी ओर अनुभूतिवादी व्याख्याओं की कठिनाई यह है कि जहाँ तक दर्शन का सम्बन्ध है अनुभूति प्रत्येक वस्तु में सौंदर्य का अनुभावन सम्भव बना देती है। इस प्रकार सुन्दर और असुन्दर अथवा कम और अधिक सुन्दर का भेद भी मिट जाता है। ये भेद हमारे साधारण अनुभव की वास्तविकतायें हैं अत: इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्रोचे के अनुभूतिवाद में आन्तरिक अभिव्यक्ति में ही सौंदर्य का स्वरूप पूर्ण हो जाता है। अत: बाह्य माध्यमों के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति एक गौण उपचार हो जाती है। इतना ही नहीं यह बाह्य अभिव्यक्ति आन्तरिक अनुभूति के साथ संगत भी नहीं है। आत्मगत अनुभूति का अनुवाद बाह्य उपकरणों में सम्भव नहीं है अत: ये बाह्य अभिव्यक्तियाँ सौंदर्य की आन्तरिक भावना को व्यक्त करने के स्थान पर उसे खण्डित करती हैं। बाह्य अभिव्यक्तियों के समान ही साधारण जीवन में सौंदर्य का व्यवहार भ सङ्गत हो जाता है। इस प्रकार सौंदर्य एक असाधारण आत्मगत अनुभूति है जो कला की बाह्य अभिव्यक्तियों और जीवन के सौंदर्य-व्यवहार की व्याख्या नहीं करतीं।

अत: यह विचारणीय है कि सौन्दर्य की विभिन्न स्थितियों में सौंदर्य का रूप क्या है तथा सौंदर्य का ऐसा सामान्य स्वरूप क्या है जो सौंदर्य की सभी स्थितियों और उसके सभी व्यवहारों की सन्तोषजनक व्याख्या कर सके। यदि सौंदर्य की वस्तुवादी और अनुभूतिवादी दोनों ही व्याख्यायें संतोषजनक नहीं हैं तो यह सम्भव है कि इन दोनों धारणाओं का समन्वय सौंदर्य की कोई सन्तोषजनक व्याख्या बन सके। यह समन्वय कठिन अवश्य है किन्तु असम्भव नहीं है। इसका कारण यह

है कि सम्भवतः यह समन्वय ही हमारे जीवन की स्थिति और उसके व्यवहार का आधार है। इस समन्वय का सूत्र हमारे जीवन की सामाजिक स्थिति में है। यह स्पष्ट है कि इस समन्वय का रूप व्यापक होगा। इसके स्वरूप को सामंजस्य कहना अधिक उचित होगा, क्योंकि इसकी व्यापकता में आन्तरिक और आत्मगत अनुभूति से लेकर सौंदर्य की वाह्य अभिव्यक्ति और उसके सामाजिक व्यवहार तक का समाहार करना होगा। इस समाहार में संगति और सामंजस्य का सूत्र उक्त समन्वय का सबसे महत्वपूर्ण अङ्ग होगा। इस समन्वय की धारणा को हमने समात्मभाव की सम्भूति कहा है। इस समन्वय की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि सौंदर्य की अन्य व्याख्यायें एकाँगी हैं और वे सौंदर्य की समस्त स्थितियों की व्याख्या नहीं करतीं। वस्तुवादी व्याख्याओं में चेतना की सक्रिय और सृजनात्मक वृत्ति का पर्याप्त महत्व नहीं है। वे इसका समाधान नहीं करतीं कि सामान्यतः जो वस्तुयें असुन्दर प्रतीत होती हैं वे किसी भाव-स्थिति में सुन्दर कैसे प्रतीत होने लगती हैं? अनुभूतिवादी व्याख्यायें सौंदर्य की वाह्य अभिव्यक्ति और उसकी सामाजिक स्थितियों को पर्याप्त महत्व नहीं देतीं। वाह्य अभिव्यक्ति कितनी महत्वपूर्ण है यह इसी से स्पष्ट है कि सभी कलाकारों ने अपनी अनुभूति को वाह्य आकार दिया। दूसरे यह वाह्य अभिव्यक्ति ही सौंदर्य के सामाजिक महत्व का माध्यम है। व्यक्तिगत अनुभूति होते हुये भी सौंदर्य केवल व्यक्तिगत नहीं है। जीवन की सामाजिक स्थितियों में सौंदर्य का अनुष्ठान सदा महत्वपूर्ण रहा है। व्यक्तिनिष्ठता सौंदर्य का स्वभाव है, किंतु स्वरूप नहीं। व्यक्ति के केन्द्र में उदय होकर सामाजिक समात्मभाव के क्षितिजों पर उसका विस्तार होता है। इसी समात्मवाद में उसकी आन्तरिक और वाह्य अभिव्यक्तियाँ स्पष्ट तथा साकार होती हैं। अनुभूति की समात्मभाव में संगति होने पर ही सौंदर्य के संगम की अन्य संगतियाँ सम्भव हो सकती हैं।

इसके अतिरिक्त उक्त दोनों एकाँगी मतों में सौंदर्य को एक असाधारण स्थिति माना जाता है। एक मत में इस असाधारणता के आधार वस्तुओं के गुण हैं, दूसरे मत में इसका आधार एक दुर्लभ आत्मगत स्थिति है। अनुभूतिवादी मत सिद्धांततः सौंदर्य की भावना को सर्वदा और सर्वत्र सम्भव मानता है। इस दृष्टि से उसकी सौंदर्य-भावना व्यापक है। वस्तुवादी मत में इस प्रकार की व्यापकता सम्भव नहीं है। वस्तुनिष्ठ सौंदर्य वस्तुगत गुणों पर आश्रित होने के कारण परतंत्र है। अतः वह जीवन की सभी स्थितियों में सम्भव नहीं हो सकता। सुन्दर और असुन्दर का भेद वस्तुवादी मत में अनिवार्य और कठोर है। इस भेद की कठोरता सामान्य जीवन में सौंदर्य के उदार और व्यापक व्यवहार के साथ संगत नहीं है। अनुभूतिवादी मत में सौंदर्य वस्तु-निरपेक्ष होने के कारण सर्वदा और सर्वत्र सम्भव है किंतु अनुभूति का जो स्वरूप उसे सम्भव बनाता है वह अत्यंत दुर्लभ है। न्याय दर्शन के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की भाँति क्रोचे कलात्मक अनुभूति के निर्विकल्पक रूप को समस्त अनुभवों में साधारण और व्याप्त मानते हैं। किंतु ऐसी निर्विकल्पक अनुभूति का साक्षात्कार कठिन है। अनुमान पर अनुभूति को आश्रित करना न्याय की प्रमाण विधि के विपरीत है। यदि यह निर्विकल्पक अनुभूति सम्भव भी हो तो यह निःसंदेह अल्पस्थायी है। सम्भवतः कलाकारों को यह स्थिति अधिक काल के लिये प्राप्त होती हो। कालविधि के अतिरिक्त एक दूसरा प्रश्न अभिव्यक्ति के बाह्य माध्यमों और बाह्य व्यवहार की अनेकरूपता के साथ इसकी संगति का प्रश्न है। अनुभूतिवादी इस संगति को नहीं मानते। इसीलिये कलाकृतियों की वाह्य अभिव्यक्ति उनकी दृष्टि में गौण है। प्रश्न यह है कि यदि यह संगति सम्भव नहीं है तो कलाकार इतनी तत्परता के साथ अपनी सौंदर्यानुभूति को बाह्य माध्यम में अभिव्यक्त करने की साधना क्यों करता है? सत्य यह है कि सामाजिक समात्मभाव में ही सौंदर्य की कल्पना पूर्ण होती है। वस्तुतः उसी में उसका आरम्भिक उदय भी होता है। कलाकार की आन्तरिक सौंदर्यानुभूति भी काल्पनिक समात्मभाव के रूप में होती है।

निर्विकल्पक अनुभूति के विपरीत यह समात्मभाव बाह्यता और अनेकता के अंतर्गत ही सम्भव होता है। अतः बाह्य माध्यमों में इसकी अभिव्यक्ति तथा सामाजिक जीवन में इसका व्यवहार इसके स्वरूप के साथ पूर्णतः संगत है।

कलाकार को कुछ विशेषता का गौरव देते हुए भी यह नहीं माना जा सकता कि कलाकार की सौंदर्यानुभूति और सौंदर्य के लोक-सुलभ व्यवहार में कोई मौलिक भेद है। स्वयं क्रोचे ने कला और सौंदर्य के समस्त भेदों का निराकरण किया है। किंतु दूसरी ओर जिस अनुभूति को उन्होंने सौंदर्य का साधारण स्वरूप माना है वह स्वयं दुर्लभ और असाधारण है। सत्य यह है कि बाह्यता और अनेकता के साथ संगत समात्मभाव में ही सौंदर्य की अनुभूति उदय होती है तथा इसी संगति की स्थिति में कलाकार बाह्य उपकरणों और माध्यमों में सौंदर्य की अभिव्यक्ति करता है। साधारण जन भी बाह्यता तथा अनेकता के साथ संगति की स्थिति में ही सौंदर्य का व्यवहार करते हैं। यह सौंदर्य की साधारण स्थिति है जो कला की बाह्य अभिव्यक्ति और जीवन में सौंदर्य के व्यवहार के साथ संगत है। सौंदर्य की वही धारणा सत्य है जो सौंदर्य को चेतना की एक साधारण वृत्ति मानकर उसकी अभिव्यक्ति और व्यवहार के समस्त रूपों के साथ संगत होती है। सौंदर्य का यह रूप सामान्य होते हुये भी उसके विभिन्न रूपों में विशेषताओं को स्वीकार करना पड़ेगा। ये विशेषतायें सौंदर्य के अनुभव, उसकी अभिव्यक्ति और उसके व्यवहार के अन्य उपकरणों पर निर्भर होंगी। किंतु इन सभी विशेषरूपों में सौंदर्य की उपस्थिति मानने पर इन उपकरणों को सौंदर्य के सामान्य रूप के साथ संगत मानना होगा। सौंदर्य का ऐसा सामान्य लक्षण जो इनके साथ संगत नहीं है सौंदर्य की संतोषजनक व्याख्या नहीं है। साधारण जीवन और अनुभव में इनके साथ संगति की स्थिति में ही सौंदर्य की अभिव्यक्ति और उसका व्यवहार होता है। सौंदर्य एक साधारण स्वरूप अवश्य है, किंतु उसके रूपों के भेद भी सत्य हैं। ये भेद जिन उपकरणों पर निर्भर हैं उन्हें बताना होगा। किंतु साथ ही सौंदर्य के सामान्य स्वरूप के साथ इन उपकरणों को संगत मानना होगा। अन्यथा सौंदर्य की भावना उक्त एकाँगी मतों की भाँति ही संकुचित और सीमित हो जायगी। जीवन के व्यवहार में सौंदर्य एक अत्यंत व्यापक भावना है अतः यह संकोच सौंदर्य का स्वरूप नहीं है वरन् एकांगी मतों का आग्रह है।

सौंदर्य के सम्बंध में सबसे प्रथम और प्रमुख भेद कला और सौंदर्य का भेद है। सौंदर्य का प्रयोग सामान्यतः एक स्वतंत्र और वास्तविक सत्ता के लिये किया जाता है। सौंदर्य उस सत्ता का स्वरूप है। सौंदर्य की सत्ता के सम्बंध में मनुष्य का कृतित्व आवश्यक नहीं। निसर्ग प्रकृति और मनुष्य की कृतियाँ दोनों में सामान्य रूप से सौंदर्य की स्थिति है। किंतु कला का सौंदर्य मनुष्य की सृष्टि है। कला मनुष्य की कृति का सौंदर्य है। इसके विपरीत प्रकृति का सौंदर्य उसके कृतित्व से स्वतंत्र है। सौंदर्य का दर्शन एक ग्रहणात्मक व्यापार है, उसका सृजन एक रचनात्मक क्रिया है। सृजन में सौंदर्य की चेतना अधिक सक्रिय होती है। किंतु इन दोनों स्थितियों में सौंदर्य का स्वरूप यदि समान है तो उनके भेदों का आधार क्या है? वस्तुवादियों के अनुसार प्राकृतिक सौंदर्य वस्तुओं के गुणों पर निर्भर है, मनुष्य उसका निष्क्रिय ग्राहक है। किंतु सौंदर्य के सृजनात्मक रूपों में सर्वत्र वस्तुगत गुणों का आधार ढूंढ़ना कठिन है। चित्रकला और संगीत में प्राकृतिक गुणों का कुछ आधार अवश्य है किंतु वह इनके सौंदर्य का सर्वस्व नहीं। काव्य में यह आधार सबसे कम है। भाव का सौंदर्य प्रकृति का गुण नहीं, चेतना की स्वतंत्र सृष्टि है। कविता में यह भाव का सौंदर्य ही प्रधान है। मनुष्य की सहज प्रवृत्तिआँ प्राकृतिक आधार की अंतिम सीमा है। यद्यपि अधिकाँश काव्य और अधिकांश कला इसी सीमा के अंतर्गत है फिर भी कला का, विशेषतः काव्य का, मौलिक सौंदर्य इस सीमा को पार करके ही अपने स्वरूप में खिलता है। प्राकृतिक प्रवृत्तियों पर भी जब इन

व्यापक क्षितिजों के रंजित मेघों की छाया पड़ती है तभी प्रवृत्तियों के जीवन में सौंदर्य के संस्कार उदित होते हैं।

जहाँ वस्तुवादी कला के सृजनात्मक सौंदर्य में भी प्रकृति के वस्तुगत आधार खोजते हैं वहाँ अनुभूतिवादी प्राकृतिक सौंदर्य में भी कला के सृजनात्मक धर्म का आरोपण करते हैं। क्रोचे के अनुयायी कालिंगवुड का मत है कि सृजनात्मक कल्पना की दृष्टि से अनुभावन करने पर प्रत्येक वस्तु सुन्दर हो जाती है। यह कल्पना सत्य और असत्य के भेद से ऊपर है। बाह्यता और यथार्थता का अनुषंग इसमें नहीं रहता। सुन्दर पदार्थ स्वतंत्र कल्पना की दृष्टि बन जाता है। प्राकृतिक सौंदर्य की यह व्याख्या हमारे सामान्य अनुभव के साथ संगत नहीं है। हम प्रकृति के पदार्थों को अपनी सृष्टि नहीं मानते, फिर भी उसमें सौंदर्य का दर्शन होता है। स्वयं कालिंगवुड ने प्राकृतिक सौंदर्य की व्याख्या एक दूसरे प्रकार से की है। उसकी दृष्टि में प्रकृति का सौंदर्य कृति के विपरीत अकृति का सौंदर्य है। अकृति होने के कारण ही हमें पर्वत, नदी, आकाश आदि सुन्दर प्रतीत होते हैं। यह विचारणीय है कि उनकी यह व्याख्या कलात्मक सौंदर्य की सृजनात्मक व्याख्या के विपरीत है। इस आधार पर कला और प्रकृति के सौंदर्य को स्वरूपत: भिन्न मानना होगा। किन्तु यदि हम कला और प्रकृति दोनों में सौंदर्य की भावना करते हैं तो सौंदर्य की दोनों कल्पनाओं में एक सामान्य लक्षण होना समीचीन है। कलात्मक सौंदर्य और प्राकृतिक सौंदर्य की विरोधी व्याख्याओं में क्रोचे के मत की दुर्बलता स्पष्ट हो जाती है। दोनों में ग्रहण और सृजन का भेद तो किसी सीमा तक मान्य है, फिर भी सौंदर्य के एक सामान्य लक्षण की व्याप्ति आवश्यक है। क्रोचे की अनुभूति अथवा कालिंगवुड की कल्पना प्राकृतिक सौंदर्य की समीचीन व्याख्या नहीं है, क्योंकि प्राकृतिक सौंदर्य में बाह्यता का अनुषंग हमारे अनुभव का साधारण सत्य है। वस्तुवादी मत कला के सृजनात्मक सौंदर्य की समुचित व्याख्या नहीं करते, अनुभूतिवादी उसे पूर्णत: आत्मगत बना देते हैं। प्राकृतिक सौंदर्य न पूर्णत: वस्तुनिष्ठ है और न पूर्णत: हमारी चेतना की आत्मगत सृष्टि है। वह वस्तु के गुण, इन्द्रियों के धर्म और चेतना की क्रिया का संयुक्त फल है। वहाँ, रूप आदि की वैज्ञानिक व्याख्यायें इस सामंजस्य में सौंदर्य के उदय का समर्थन करती हैं। वस्तुवादी व्याख्या में चेतना की क्रिया के लिये और अनुभूतिवादी व्याख्या में वस्तु की बाह्यता के लिये स्थान नहीं है। समात्मभाव एक ओर चेतना का भाव है। उसमें ग्रहण और सृजन दोनों की सम्भावनायें हैं। दूसरी ओर बाह्य और अनेकता से उसकी सहज संगति है। प्रकृति के एकान्त निरीक्षण में हम प्रकृति के साथ ही समात्मभाव अनुष्ठित करते हैं। अधिकांश काव्य में प्रकृति का मानवीयकरण इसका प्रमाण है। प्रकृति का सौंदर्य हमें विभोर भी करता है किन्तु साथ ही हम उसके दर्शन में आत्मीयों के साहचर्य और सहयोग के लिए उत्कंठित हो उठते हैं। प्रकृति-दर्शन का यह लोकप्रिय रूप इस मत का समर्थन करता है कि समात्मभाव की स्थिति ही सौंदर्य का मूल स्रोत है।

प्रकृति के दर्शन का सौंदर्य पूर्णत: आन्तरिक सौंदर्य नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उसमें बाह्य प्रकृति का अनुषंग स्पष्टत: रहता है। जो वस्तुएं सहज रूप में सुन्दर प्रतीत नहीं होतीं, उनमें सौंदर्य के अनुभावन में आत्मगत कल्पना का सक्रिय योग अधिक रहता है। इन वस्तुओं में सौन्दर्य की भावना सबके लिये समान रूप में नहीं होगी। किन्तु प्रकृति की अनेक वस्तुएं सबको ही सुन्दर प्रतीत होती हैं। इनकी सौंदर्य भावना में चेतना के साथ-साथ वस्तुओं के गुणों का भी योग रहता है। यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वस्तुओं के गुणों का प्रभाव इन्द्रियों पर होता है। इन्द्रियों को जो सम्वेदनाएं प्रिय लगती हैं उन्हें मन सुन्दर कहता है। प्रकृति के एकाकी दर्शन में सुख और शान्ति का अनुभव अधिक होता है। एकाकी मनुष्य प्रकृति के निरीक्षण की अपेक्षा प्रकृति में विश्राम अधिक करता है। जो प्रकृति के दर्शन में सौंदर्य देखता है, वह प्राय: प्रकृति के साथ साहचर्य और समात्वभाव का अनुभव करता है।

अधिकांश कवि और कलाकार प्रकृति के साथ बन्धु-भाव का अनुभव करते हैं। अंग्रेजी का प्रसिद्ध प्रकृति-कवि वर्ड्सवर्थ डैफोडिल के फूलों के साथ नाचता हैं। सुमित्रानन्दन पंत वसन्त की हरियाली में किसी को क्रीड़ा कौतूहल करते देखते हैं। उन्हें पेड़ की छाया में सोती हुई दमयन्ती और ग्रीष्म की गंगा में लेटी हुई तन्वंगी तरुणी दिखाई देती हैं। चन्द्रमा और कमल में तो प्रेयसी का मुख कवि युगों से देखते आये हैं। काव्य में प्रकृति का मानवीकरण यही संकेत करता है कि प्रकृति में साहचर्य और समात्मभाव के साथ ही कवि सौंदर्य का अनुभव करता है। मानवीकरण के बिना भी साहचर्य और समात्मभाव सम्भव हैं, किंतु प्रकृति में सौंदर्य की भावना साहचर्य और समात्मभाव की स्थिति में ही होती हैं। इसके बिना प्रकृति में जिसे हम सुन्दर कहते हैं वह केवल संवेदना की प्रियता हैं। जब दो आत्मीय समात्मभाव के साथ प्रकृति का दर्शन करते हैं तो उस प्रियता में सौंदर्य का उदय होता है। समात्मभाव की चिन्मय स्थिति में सौंदर्य की अभिव्यक्ति होती है। यह अभिव्यक्ति आकूति की व्यंजना हैं। यह आकूति प्रकृति के परिमेय गुणों के अतिरिक्त अनभिधेय अंतर्भाव हैं। प्रकृति का अर्थ उसके परिमेय गुणों का यथार्थ हैं जो प्रियता की सम्वेदना उत्पन्न करता है। इस अर्थ में आकूति का आधान दर्शक अथवा दर्शकों की चेतना करती हैं और उस आकूति की चिन्मय अभिव्यक्ति में सौन्दर्य का उदय होता हैं। एकाकी के प्रकृति के साथ समात्मभाव में भी सौन्दर्य है किन्तु एक से अधिक दर्शकों के साहचर्य और समात्मभाव में सौन्दर्य की समृद्धि होती है। हम एक दूसरे के सौन्दर्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति में भाग लेकर उसे समृद्ध बनाते हैं।

इस प्रकार विदित होता है कि प्रकृति के अनुकूल उपादानों में भी सौन्दर्य मनुष्य की सृजनात्मक चेतना का विधान है। सौन्दर्य की यह सृष्टि वस्तुओं की बाह्यता, यथार्थता और सगुणता का निराकरण करके कल्पना के आत्मलोक में उनका उन्नयन नहीं है वरन् उनकी बाहयता, स्वतन्त्रता और सगुणता को स्वीकार करते हुए साहचर्य और समात्मभाव की स्थिति में उनकी प्रियता में सौन्दर्य का विधान है। प्रकृति का यह सौन्दर्य न पूर्णत: वस्तुगत है और न एकान्तत: आत्मगत। वस्तुत: यह प्रकृति की वस्तुगत और प्रिय सत्ता में अन्तर्निहित आकूति की समात्मभाव की स्थिति में भावमयी व्यञ्जना हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य की इस व्याख्या में प्रकृति के अकृत होने का प्रसंग नहीं आता जैसा कि कालिंगवुड की व्याख्या में आता है। वस्तुत: अकृतत्व सौन्दर्य का आवश्यक अंग नहीं हैं। प्रकृति में जिसे उदात्त कहा जाता है (जैसे पर्वत, समुद्र आदि) उसमें अकृतत्व अथवा अपने कृतित्व के अभाव का भाव अवश्य रहता हैं। यह अभाव भेद उत्पन्न करके उदात्त का उद्‌घाटन करता है। यह उदात्त सुन्दर नहीं हैं। इसमें भेद और भय है तथा हमारी तुच्छता है। अधिक परिचय और सम्पर्क के बाद जब इस उदात्त के साथ हमारा समात्मभाव स्थापित हो जाता है तो यही सुन्दर बन जाता हैं। इसी समात्मभाव के आधार पर ब्रजवासियों के लिये कालिन्दी के फूल, कदम्ब के वृक्ष, करील के निकुञ्ज और वृन्दावन की वीथियाँ सुन्दर थे। अंग्रेजी की यह कहावत अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण है कि अधिक परिचय से घृणा उत्पन्न होती हैं। अधिक परिचय घृणा का कारण नहीं है किन्तु निकटता में उद्‌घाटित होने वाले भेद इसके कारण हैं। प्रेम और सौन्दर्य का आधार समात्मभाव हैं। वह परिचय और घनिष्ठता से ही स्थापित होता है।

प्राकृतिक सौन्दर्य की यह व्याख्या कलात्मक सौन्दर्य के पूर्णत: अनुरूप हैं। यद्यपि कलात्मक सौंदर्य चेतना की स्वतन्त्र सृष्टि है फिर भी यह सृष्टि निराधार नहीं होती। प्राकृतिक और सामाजिक जीवन के उपकरणों से ही कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि होती है। इसमें सन्देह नहीं कि प्राकृतिक सौन्दर्य के दर्शन में वस्तुनिष्ठता अधिक स्पष्ट होती है तथा चयन का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है। बाह्य उपादान की संवेदना बाध्यकारी न होने के कारण कला में ग्रहण की अपेक्षा सृजन की सम्भावना अधिक होती है। सृजनात्मक वृति

की प्रधानता ही प्राकृतिक सौन्दर्य के दर्शन से कलात्मक सौन्दर्य की मुख्य भेदक है। किन्तु ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि ग्रहण प्रकृति के गुणों की सम्वेदना की प्रियता तक ही सीमित है। उसमें सौन्दर्य का उदय समात्मभाव की स्थिति में आकृति के अन्तर्भाव की व्यञ्जना ही के द्वारा ही होता है। समात्मभाव की स्थिति में आकृति की व्यञ्जना कलात्मक सौन्दर्य का भी मूल है। इतना अवश्य है कि कला में चेतना आकृति की व्यञ्जना में अधिक स्वतन्त्र और सक्रिय होती है। किन्तु जिस प्रकार प्रकृति में सौन्दर्य का दर्शन पूर्णत: वस्तुनिष्ठ और ग्रहणात्मक नहीं है उसी प्रकार कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि भी पूर्णत: वस्तुगत आधार से रहित केवल आत्मगत सृष्टि नहीं है। बाह्य प्रकृति और जीवन के उपादानों से ही तत्व चयन कर समात्मभाव की स्थिति में जीवन की आकृति की व्यञ्जना कलात्मक सौन्दर्य को आकार देती है। कलात्मक सौन्दर्य की यही व्याख्या सामान्य जीवन में सौन्दर्य के प्रयोग, कला की बाह्य अभिव्यक्ति, कला के सहकारी रूपों, लघुतर कलाओं और कला के उपयोगी तथा व्यापारिक रूपों का समाधान करती है। कला की यह व्याख्या कला के रूप को व्यापक और साधारण मानकर उसके सौन्दर्य का मर्म उद्घाटित करती है। वह क्रोचे की अनुभूति अथवा कालिंगवुड की कल्पना के समान भावना की किसी असाधारण स्थिति पर निर्भर नहीं है। समात्मभाव की स्थिति में आकृति की व्यञ्जना मानवीय जीवन के सम्बन्धों में उतनी ही व्यापक और साधारण है जितना कि कला का सौन्दर्य है।

प्राकृतिक सौन्दर्य के दर्शन और कलात्मक सौन्दर्य के सृजन के अतिरिक्त सौन्दर्य की एक और स्थिति है जिसे हम प्रदर्शन कह सकते हैं। प्रदर्शन कलात्मक सौन्दर्य की वाह्य अभिव्यक्ति है किन्तु इस अभिव्यक्ति में दर्शकों, श्रोताओं आदि की उपस्थिति का भाव रहता है। प्रदर्शन कला की सामाजिक अभिव्यक्ति है। विशेष रूपों में बाह्य अभिव्यक्ति एकांत भी हो सकती है। किन्तु, प्रदर्शन के लिये सामाजिक वातावरण अपेक्षित है। कलात्मक सौन्दर्य के सृजन में समात्मभाव काल्पनिक भी हो सकता है। कलाकृति की रचना के समय तो प्राय: वह काल्पनिक होता है। प्राय: कलाकार रचनाएं एकांत में करते हैं, यद्यपि यह स्मरणीय है कि वे एकांत भाव में रचनाएं नहीं करते। व्यावहारिक यथार्थ की दृष्टि से अकेले होते हुए भी वे मन के भाव से अकेले नहीं होते। किन्तु कला के प्रदर्शन की स्थिति में दर्शकों की उपस्थिति काल्पनिक नहीं, वास्तविक होती है। नाटक, संगीत, नृत्य आदि कला के प्रदर्शन के परिचित रूप हैं। चित्रकला आदि की भी प्रदर्शनियाँ होती हैं। कवि-सम्मेलनों में कविता का भी प्रदर्शन होता है। प्रदर्शन का अभिप्राय केवल कलात्मक सौन्दर्य का सृजन नहीं है। सृजन के अतिरिक्त उपस्थितजनों के प्रति सौन्दर्य के सम्प्रेषण का भाव भी प्रदर्शन का मुख्य अंग है। कलात्मक सौन्दर्य का सृजन भी प्रदर्शन के समान बाह्य अभिव्यक्ति है किन्तु दर्शकों की उपस्थिति की कल्पना उसमें आवश्यक नहीं है। प्रदर्शन में वह उपस्थिति कल्पना नहीं वरन् वास्तविकता है। दूसरी ओर प्रदर्शन में कला का एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न खड़ा होता है। दर्शक सौन्दर्य का अनुभावन किस रूप में करते हैं? यद्यपि प्रदर्शन की स्थिति में सामान्यत: यह समझा जाता है कि कलाकार कला के सृजन में ही तन्मय रहता है। यह तन्मयता सफल प्रदर्शन की वास्तविक स्थिति है किन्तु यह इतनी पूर्ण नहीं होती कि दर्शकों की उपस्थिति की चेतना के लिये उसमें स्थान न हो और न इस सामाजिक चेतना का कला की सफल सृष्टि से कोई मौलिक विरोध है। स्वयम् कलाकार और दर्शक इस बात की साक्षी देते हैं कि सामाजिक उपस्थिति के वातावरण में कला की जैसी अद्भुत सृष्टियाँ देखी गई हैं वैसी अन्यथा देखने में नहीं आती। चित्रकला का तो कुछ रूप ही ऐसा है कि उसका सृजन और प्रदर्शन दोनों एक साथ सम्भव नहीं हो सकते। किन्तु नृत्य, संगीत आदि के साथ सृजन और प्रदर्शन का यौगपद्य अधिक स्वाभाविक है। शिक्षण और सहयोग (तबला) की आवश्यकता के कारण इनके अभ्यास में भी एकान्त नहीं

होता और एक दृष्टि से अभ्यास भी प्रदर्शन ही होता है। विशेष अवसरों और समारोहों के अवसर पर प्रदर्शन की सामाजिक भूमिका विशाल हो जाती है। प्रायः देखा गया है कि इस विशाल भूमिका में कला की ऐसी अद्भुत सृष्टियाँ होती हैं जो कदाचित ही एकान्त में सम्भव हों।

इससे यही प्रगट होता है कि सामाजिक समात्मभाव कला की सृष्टि का प्रेरक और उसकी आवश्यक भूमिका है। इस भूमिका में जीवन की आकृतियों की व्यापक व्यंजना कलात्मक सौंदर्य का स्वरूप है। यह भ्रम है कि कलात्मक सौंदर्य की सृष्टि एकान्त, व्यक्तिगत, आन्तरिक और आत्मगत अनुभूति में होती है तथा दूसरों की उपस्थिति कलाकार की तन्मयता को भंग करती है और सौन्दर्य के उत्कर्ष में बाधक होती है। समात्मभाव के द्वारा ही सामाजिक उपस्थिति सौन्दर्य के उत्कर्ष की साधक होती हैं। लोक-संगीत और लोकनृत्य की सामूहिक प्रक्रिया में यह समात्मभाव सक्रिय और पूर्ण होता है। अन्य स्थितियों में यह इतना सक्रिय नहीं होता किन्तु आन्तरिक योग और अनुराग के रूप में आत्मिक भाव की दृष्टि में पूर्ण हो सकता है। पूर्ण रूप में समात्मभाव एक आत्मिक भाव ही है। बाह्य क्रिया से उसका विरोध नहीं है और सामान्यतः बाह्य क्रिया उसमें सहायक है किन्तु आवश्यक नहीं। आन्तरिक समात्मभाव को भी भाव की दृष्टि से सक्रिय कह सकते हैं। इस समात्मभाव की पूर्णता ही कला की श्रेष्ठ सृष्टियों की भूमिका है। जहां इस समात्मभाव में अपूर्णता रहती है अर्थात् जहां सामाजिक उपस्थिति भेद और विक्षेप का कारण होती है वहां समात्मभाव को खंडित करने के कारण वह कला के श्रेष्ठ सृजन में बाधक होती है। प्रायः इसी दृष्टि से सामाजिक उपस्थिति को कलात्मक सौन्दर्य का बाधक माना जाता है। वस्तुतः समात्मभाव की भूमिका में ही जीवन की आकृतियों की व्यापक व्यंजना के द्वारा कलात्मक सौंदर्य की सृष्टि होती है। नाटक की तो सामाजिक उपस्थिति के बिना कल्पना ही नहीं की जा सकती। एक विशाल सामाजिक भूमिका में ही नाटक के अभिनय का आयोजन होता है। रंगमंच शब्द में अभिनय के मंच की तुलना में रंग (सामाजिक उपस्थिति) को प्राथमिकता दी गई है। यद्यपि रंगमंच शब्द हिन्दी के आधुनिक प्रयोग में अंग्रेजी के स्टेज का समानार्थक हो गया है, किन्तु वस्तुतः वह उसका समानार्थक नहीं। स्टेज का समानार्थक केवल मंच है। रंग का अर्थ दर्शकों की सामाजिक उपस्थिति है। यौगिक होते हुये भी रंगमंच शब्द रूढ़ प्रतीत होता है। योगरूढ़ तो वह निश्चित रूप से है। इसका कारण भी भारतीय नाट्य शास्त्र में अभिनेताओं के साथ दर्शकों के सहयोग और समात्मभाव की आधारभूत कल्पना है। इस समात्मभाव में विक्षेप अथवा बाधा होने पर अभिनेताओं और दर्शकों दोनों का रस भंग हो जाता है। ऐसी स्थिति में कला का सृजन और प्रदर्शन सफल और श्रेष्ठ नहीं होता। **संस्कृत नाटकों में नान्दी नाटक के आरम्भ में ही इसी समात्मभाव की स्थापना का सूत्र है।** नाटक में जीवन के कलात्मक सौन्दर्य की सजीव सक्रिय और साक्षात रूप में सृष्टि होती है। उसमें समात्मभाव की सम्भावना अधिक होती है, चाहे वह लोक-संगीत और लोक-नृत्य के समान पूर्ण न हो। इसीलिये नाटक कला का सबसे अधिक लोकप्रिय रूप है। लोकप्रियता की दृष्टि से नृत्य और लोक-संगीत के बाद नाटक की ही गणना है। सभी देशों के साहित्य में नाटक अत्यन्त प्राचीन है और नाटककार ही महान साहित्यकार माने गये हैं।

भारतीय काव्य-शास्त्र में कला और काव्य का विवेचन भरत के नाट्य शास्त्र से ही प्रारम्भ होता है। वाल्मीकि की रामायण काव्य कृति की दृष्टि से आदि-काव्य हो सकती है किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि नाटकों की परम्परा वाल्मीकि और भरत दोनों से अधिक प्राचीन है। मध्यकाल में भी नौटंकी, स्वांग, रास, रामलीला आदि कला के नाटकीय रूप ही अधिक लोकप्रिय रहे हैं। नाटक के स्वरूप में ही कई पात्रों के समन्वित अभिनय के कारण संगीत अथवा नृत्य के

प्रदर्शन की अपेक्षा समात्मभाव अधिक रहता है। इस समात्मभाव की अधिकता तथा नाटक के सौन्दर्य की सजीवता और सक्रियता के कारण भी दर्शकों के समात्मभाव की सम्भावना नाटक में नृत्य अथवा संगीत के प्रदर्शन की अपेक्षा अधिक रहती है। कलाओं के साहित्यिक रूपों में नाटक में यह सम्भावना सबसे अधिक रहने के कारण नाटक साहित्य का अत्यन्त प्राचीन और लोकप्रिय रूप है। भरत के नाट्य शास्त्र से आरम्भ होकर भारतीय शास्त्र में रस का समस्त विवेचन नाटकीय स्थिति पर ही आश्रित है। कालिदास और प्रसाद प्राचीन संस्कृत और आधुनिक हिन्दी के दो महान कवि हैं, किन्तु दोनों की प्रतिभा नाटकों में ही सर्वोत्कृष्ट रूप में व्यक्त हुई है और नाटकों से ही उनकी प्रतिष्ठा है। अंग्रेजी का महान कवि शेक्सपीयर भी नाटककार है। इतना अवश्य है कि समात्मभाव की पूर्ण स्थिति सामूहिक नृत्य अथवा संगीत में ही होती है, इसीलिये शिव पार्वती का लास्य और श्रीकृष्ण तथा गोप गोपियों का रास कलात्मक सौंदर्य के सर्वोत्तम रूप हैं। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि साहित्य के समस्त रूपों में नाटक इसके सबसे अधिक निकट है। इस निकटता के कारण ही नर्तन की वाचक नट् धातु से नाटक शब्द की उत्पत्ति हुई है। यह शब्द की उत्पत्ति इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन लोकनृत्यों से ही नाटक का विकास हुआ है।

भारतीय काव्य-शास्त्र में इसका बहुत विवेचन किया गया है कि अभिनेता और दर्शक में किस रूप में कलात्मक सौन्दर्य अथवा रस का उद्भव होता है। रस के मूल आश्रय तो नाटक के मूल पात्र थे। अभिनेता और दर्शक उस रस का अनुभव किस रूप में करते हैं ? रस को मनोवैज्ञानिक और व्यक्तिगत मानकर भारतीय आचार्य अनेक कठिनाइयों में पड़ गये। पात्रों के साथ एकात्मभाव में उत्पन्न होने वाले पातक से बचने के लिये साधारणीकरण का सिद्धान्त बना। डा० राकेश गुप्त ने बड़ी विदग्धता के साथ यह प्रमाणित किया है कि नाटक का आनन्द साधारणीकरण पर नहीं वरन् विशेषीकरण पर निर्भर करता है। साधारणीकरण की कल्पना मुख्यत: दर्शक के सम्बन्ध में ही की गई है किन्तु अभिनेता के पातक का समाधान क्या है ? अभिनेता में साधारणीकरण का प्रयोग करने पर नाटक का आधार ही खंडित हो जायगा। नाटक का रूप ही पात्रों के रूप और चरित्र की विशेषता पर निर्भर है। साधारणीकरण में ये विशेषतायें विलय हो जायेंगी और नाटक का रूप नष्ट हो जायेगा। ग्रीक विचारकों ने नाटक के सम्बन्ध में अनुसरण का सिद्धान्त उपस्थित किया। नाटक में अनुसरण होता है, यह सत्य है। इस अनुसरण से एकात्मभाव की स्थापना भी होती है, यदि हम इसका अर्थ व्यक्तित्व का विलय न समझें। वस्तुत: जीवन और कला की सारी कठिनाइयाँ व्यक्तित्व को एक कठोर इकाई मान लेने से आरम्भ होती हैं। इस मान्यता में एकात्मता के लिये तनिक भी अवकाश नहीं है। व्यक्तित्वों का एकीकरण एक मनोवैज्ञानिक असंभावना है। अनुसरण की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया अधिक जटिल है। व्यक्तित्वों के कठोर पार्थक्य और पूर्ण एकीकरण दोनों ही स्थितियों में अनुकरण सम्भव नहीं है। व्यक्तित्वों का सापेक्ष भेद उसमें रहता है। अभिनेता अपने व्यक्तित्व को भी नहीं भूलता और न वह इस तथ्य को भूलता है कि मैं अभिनय कर रहा हूँ। दर्शक भी अभिनय को अभिनय ही समझते हैं। अत: अभिनेता के अनुकरण और दर्शक के एकात्मभाव दोनों को समात्मभाव के रूप में समझने से नाटक के सौन्दर्य और रस की व्याख्या अधिक सन्तोषजनक रूप में हो सकती है। समस्त कठिनाइयों का मूल मनुष्य की चेतना को प्रकृति के नियमों के अनुसार समझने का प्रयत्न है। व्यक्ति की कठोर इकाई की कल्पना इसी प्रयत्न का परिणाम है। प्रकृति में इकाइयों का पार्थक्य कठोर है अत: उनका एकात्मभाव सम्भव नहीं है। सचेतन एकात्मभाव की कल्पना भी हम एक नवीन किन्तु कठोर इकाई की स्थापना के रूप में करते हैं। यह चेतना के

क्षेत्र में प्रकृति के नियमों का प्रयोग है। वस्तुत: चेतना एक स्वतंत्र और व्यापक तत्त्व अथवा वृत्ति है। उसकी इकाई अथवा एकात्मता प्रकृति की भाँति कठोर नहीं है। अन्य वस्तुओं और व्यक्तियों के साथ समात्मभाव में ही उसका स्वरूप साकार और साक्षात् होता है। नाटक के अनुकरण (अभिनय) और दर्शन (प्रेक्षरण) में यही समात्मभाव सौन्दर्य और रस का हेतु बनता है। वस्तुत: नाटक अनुकृति होने के साथ साथ एक कृति भी है। समात्मभाव की भूमिका में कलाकार जीवन की आकृतियों की व्यंजना करते हैं। यह व्यंजना ही सौन्दर्य और रस की सृष्टि है। कुछ विद्वानों का मत है कि कला का दर्शक इस मौलिक सौन्दर्य की आत्मगत सृष्टि करता है। वह स्वयं कलाकार वन जाता है, इसी भाव से वह सौन्दर्य की सृष्टि द्वारा रस लाभ करता है। इस मत में भी व्यक्तित्व की कठोर कल्पना और उनके एकीकरण की विरोधात्मक भूल है। सत्य यह है कि जिस प्रकार अभिनेता का मूल पात्रों के साथ एकीकरण न संभव है और न आवश्यक, उसी प्रकार कलाकार के साथ भी दर्शक अथवा पाठक का एकीकरण न संभव है न आवश्यक है। मनुष्य की चेतना का यही स्वरूप है कि अपने प्राकृतिक व्यक्तित्व के आधार में रहते हुये भी अन्य चेतनाओं के साथ समात्मभाव में सौन्दर्य की सृष्टि और उसका अनुभव करती है। चेतना की समृद्धि का यही रूप है। यह समात्मभाव जीवन और कला की सभी स्थितियों और सभी रूपों में होता है। इसीलिये कला की भिन्न भिन्न स्थितियों और उसके भिन्न भिन्न रूपों में सौन्दर्य के रूप और रस के अनुभव का प्रकार भिन्न होता है। यह विविधता ही चेतना और कला की समृद्धि विभूति का रहस्य है। जीवन में इस समात्मभाव की स्थिति में आकृति की व्यंजना सौन्दर्य और रस की सृष्टि करती है। अभिनय और दर्शन में इस समात्मभाव की स्थिति में क्रमश: एक एक विभा (dimension) और बढ़ जाती है। जीवन और कला में सौन्दर्य का मूल स्वरूप समात्मभाव ही है। किन्तु विभिन्न स्थितियों में उसकी विभाओं के भेद से आकृति की व्यंजना और उसके अनुभावन का प्रकार भिन्न हो जाता है। यही जीवन और कला दोनों में सौंदर्य के सृजन, अनुभावन, प्रदर्शन, दर्शन आदि में सौंदर्य और रस के प्रकार में भेद तथा जीवन, कला, सौन्दय और रस की सम्पन्नता का रहस्य है।

—:?❀?:—

(पृष्ठ ३८ का शेषांश)

'Art as an escape from life'
(कला, जीवन से पलायन)
'Art as an escape into life'
(कला, जीवन में पलायन)
आदि, ।

(नोट—इस लेख को लिखने में मैंने Journal of Aesthetics and Art criticism की पुरानी फाइलों तथा १९५३ के जून मास में प्रकाशित जान विलकाक्स के लेख से सहायता ली है। अतएव श्री विलकाक्स के लेख के लिए अनुगृहीत हूँ।)

—:o!!o:—

वैष्णव कवियों की सौन्दर्योपासना

श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

जिस किसी वस्तु अथवा भाव में चित्तवृत्ति टिक कर रम जाय उसे "सुन्दर" कहते हैं और उसकी अनुभूति को "सौन्दर्य" की सँज्ञा प्रदान करते हैं। सौन्दर्य की ललक मनुष्य में जन्मना है जो वयःवृद्धि के साथ-साथ विकसित होकर भावना तथा अनुभूति के माध्यम से दार्शनिक चेतना तक का रूप धारण कर लेती है। रंग, रूप, ध्वनि और स्पर्श का आकर्षण स्थूल से सूक्ष्मतर होता हुआ मनुष्य को तद्वत् बना देता है। भोले शिशु की सहजानुभूति, किशोर की स्वप्निल कल्पना बन युवक के माँसल प्रदेश में रमण करती हुई वृद्ध के चिन्तन का विषय बन जाती हैं। वास्तव में, सौन्दर्य ज्ञान का नहीं, व्यवस्थित अनुभूति का आश्रित है। यह अनुभूति वस्तु के गुण की अपेक्षा रखती है, कभी प्रत्यक्ष रूप में तो कभी सादृश्य के बल। सौन्दर्य की उपलब्धि आनन्द है। वैज्ञानिक की विश्लेषणात्मक दृष्टि तक में भी किसी वस्तु का व्यापक, विराट् और द्रवणशील होना ही उसके सौंदर्य का बोधक है। इस प्रकार सौंदर्य अन्ततोगत्वा, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में वस्तु का आलम्बन लेकर भी चिंतन का विषय बन जाता है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वस्तु-सौन्दर्य की परिणति भाव-सौंदर्य में और भाव-सौन्दर्य की सार्थकता उसे मूर्त्त रूप देने में है।

फिर भी, सौन्दर्यानुभूति-मात्र व्यक्तिगत न होकर समाज-सापेक्ष भी है। प्रत्येक युग विकास-क्रम से भावना-विशेष से प्रभावित होता है और उस युग की प्रत्येक अभिव्यक्ति में उक्त भावना की प्रेरणा रहती है। यही भावना युगआदर्श का रूप ग्रहण कर लेती है और यह क्रम युग-परिवर्तन के पूर्व तक सजीव रूप में चला करता है। परन्तु प्रत्येक युग-परिवर्तन के साथ नयी चेतना और नयी दृष्टि का प्रवेश होता है जबकि पूर्ववर्ती आदर्श शिथिल पड़कर रूढ़ि की संज्ञा प्राप्त कर लेते हैं। नवीन युग सदा नयी सौन्दर्य-चेतना को जन्म देता है, जिसके आलोक में मनुष्य सौंदर्य के नये-नये उपादानों के दर्शन कर पाता है। फिर भी तात्विक दृष्टि से सौन्दर्य के ऐसे कुछ लक्षण शेष रह जाते हैं, जिन पर युग-प्रभाव अपेक्षाकृत कम ही पड़ा करता है और इसका रहस्य उसके अधिकाधिक व्यापक, विराट और द्रवणशील होने में है।

सृष्टि के उषा-काल में मनुष्य ने जब तिमिराच्छन्न कुहासे को चीर कर प्रकाश की प्रथम किरण के अभिनव सौंदर्य का दर्शन किया होगा तो उसका मानस-पटल अविकच कलिका की भाँति मुसकरा उठा होगा। यह सौंदर्यानुभूति काल-क्रम से तीव्रतर होती हुई गहरी हो उठी होगी जिसके लावण्य की प्रभा से अभिभूत होकर मानव ने उसे ही जीवनाधार तक स्वीकार कर लिया होगा। वास्तव में, वहीं से उसके क्रियाशील होने की प्रेरणा मिली होगी। अन्ततोगत्वा, उसने उसी दिव्य सौन्दर्य के रूप में सादृश्यमूलक विश्वात्मा तक का तीव्र भाव से अनुभव किया—

> दिवि सूर्य सहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
> यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः
> —गीता ११।१२॥

अर्थात् आकाश में हजार सूर्यों के एक साथ उदय होने से उत्पन्न प्रकाश भी कदाचित् ही विश्वात्मा के प्रकाश के सदृश हो।

परन्तु इस भावना को स्थायित्व प्रदान करने के लिए अन्तर्दृष्टि भी अपेक्षित थी। इसीलिए यह भी कहा गया कि—

नाहं प्रकाश: सर्वस्य योगमाया समावृत: ।
मूढोऽयं नाभि जानाति लोको मामजमव्ययम् ।
—गीता ७।२५ ।।

अर्थात् अपनी योगमाया से छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ । इसलिए अज्ञानी मनुष्य मुझ जन्म-रहित अविनाशी परमात्मा को तत्त्व से नहीं जानता अर्थात् मुझे जन्म-मरण वाला समझता है ।

बृहदारण्यकोपनिषद् शांकर भाष्य के चतुर्दश ब्राह्मण में भी मण्डलस्थ पुरुष को ही सारे लोक को प्रकाशित करने वाला बतलाया गया है । फिर भी यह प्रकाश सूफियों के उस "नूर" से भिन्न प्रतीत होता है जो उन्हें लोकोत्तर सौंदर्य का वर्णन करने की प्रेरणा देता है । किन्तु सन्त-साधकों को पूर्वोक्त सौन्दर्य ही लुभाये रहता है ।[1]

मानव सभ्यता के आदि काल में वर्ग-भेद अथवा स्तर-भेद का अभाव-सा था । जीवन-संघर्ष की क्लान्ति और अबाध जीवन की शान्ति के बीच मानव-जीवन स्वाभाविक के अधिक निकट था । फिर भी, प्राकृतिक उथल-पुथल का आतङ्क बना रहता था । जटिल जीवन का मार्ग ऊबड़-खाबड़ तथा रपटीला था । पग-पग पर जीवन के लिए खतरा था । ऐसी परिस्थिति में, जीवन और जीविका के लिए उसे कठोर संघर्ष करना पड़ता था । फलस्वरूप, उसकी भावना में कठोरता की रेखा थी । प्राचीन युग के अवशिष्ट भित्ति-चित्रों में संघर्षशील मानव-जीवन की हिंस्रवृत्ति की सुन्दर अभिव्यक्ति पायी जाती हैं । शक्ति रूपा आदि भवानी की भयमूलक विकराल आकृति में भी इसी कारण, सौन्दर्यानुभूति संभव हो सकी । कालान्तर में भौतिक विकासक्रम की प्रेरणा से कोमल वृत्तियों के साथ-साथ शिव की अनुभूति का भी निदर्शन हुआ ।

धर्म-भावना की प्रेरणा सौंदर्य मूलक है । वैदिक युग में, धर्म और सौंदर्य की परस्पर पृथक् सत्ता न थी । "तमसो मा ज्योतिर्गमय" का संकेत महत्वपूर्ण है । धर्म के आग्रह से ही सौंदर्य में आध्यात्मिकता का समावेश हुआ । अनादि और अनन्त की अनुभूति में "नेति-नेति" की जो व्यंजना है, वह आनन्द का स्रोत है । समष्टिगत ब्रह्म में व्यक्ति जीव की धारणा आनन्द-मूलक है । विभिन्न जातियों की विविध संस्कृतियों एवम् सभ्यताओं के बीच सामंजस्य तथा सम्मिश्रण की भावना अपेक्षित थी । विराट् की कल्पना ने मानव-जाति को विनाश के गर्त्त में पड़ने से बचा लिया था । इसकी अनुभूति के लिए चर्म-चक्षु-मात्र पर्याप्त न थे, अन्तर्दृष्टि भी अपेक्षित थी । यहीं से "परापर दृष्टि" का सूत्रपात सम्भव हुआ होगा ।

परन्तु बुद्ध के आविर्भाव के बाद भारतीय चिन्ता-धारा में एक महत्वपूर्ण नया मोड़ आया । दुःखवाद ने सौन्दर्यानुभूति तक की दिशा बदल दी । अब वह आनंद-मूलक न होकर करुणामूलक वैराग्यशीला हो चली । यह अनन्त वेदनामूलक सौंदर्य अब "सुन्दर" की अपेक्षा "उदात्त" हो चला । सौदर्यानुभूति का स्थान सौन्दर्य-बोध लेने लगा । आदि कवि बाल्मिकि ने उदात्त भावना से ही प्रेरणा प्राप्त की थी ।

पौराणिक युग तक आते-आते दोनों धाराएँ पृथक्-पृथक् न रह सकीं । उनके संगम से रस-सिक्त धारा बह चली । अब मनुष्य की सौन्दर्यानुभूति प्रकृति से दिव्य और दिव्य से मानव की ओर उन्मुख हो गई ।* धर्म-भावना आकाश से उतर कर धरती पर विचरने लगी । परन्तु उसने अपने को चिन्मुखी ही बनाये रखा । इधर उसके धरती पर उतरने का एक परिणाम यह भी हुआ कि अब आनन्द का आलम्बन भी धरती पर ढूंढ़ा जाने लगा । अवतारवाद ने इस भावना को प्रश्रय दिया । इस प्रकार, लौकिक एवम् अलौकिक सौन्दर्यानुभूति के दो पृथक्-पृथक् क्षेत्र खुल गए और इनकी अभिव्यक्ति तत्कालीन धार्मिक कला एवं ललित कला के रूप में आज भी उपलब्ध है ।

वैष्णव कवियों की सौन्दर्योपासना के मूलाधार

१—कबीर साहित्य की परख, पृ० १२८—३७

* सौन्दर्यशास्त्र पृ० २५

भगवान विष्णु और उनके अवतार हैं। वैदिक युग से ही श्रद्धामूलक भक्ति-भावना पूरित उद्‌गार बीज रूप में लक्षित होने लगते हैं, किन्तु उनका वास्तविक विकास भागवतधर्म में ही दिखायी देता है। यह विकास-क्रम परवर्ती काल तक चलता रहा है। चतुःसम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा अपने-अपने ढङ्ग पर वेदान्त की भक्ति-मूलक व्याख्या की गई। परन्तु वैष्णवी भक्ति-शाखाएं इन्हीं तक सीमित न रह सकीं, कुछेक का स्वतन्त्र विकास भी हुआ। परम पुरुषार्थ सिद्धि के लिए वैदिक युग में जहाँ ज्ञान, कर्म और उपासना की चर्चा की जाती थी, वहाँ भगवत्कृपा प्राप्ति पर बल दिया जाने लगा। मध्य-काल तक आते-आते भक्ति-सूत्रों और भागवत के आधार पर प्रेम-लक्षणा भक्ति पल्लवित हुई। प्रपत्तिवाद ने विभूतिवाद को स्थानापन्न किया। प्रेमाभक्ति वालों के लिए प्रेम ही कार्य-कारण भाव से सबकुछ था। नारद भक्ति-सूत्र के अनुसार वह "परम प्रेम रूपा", 'अमृत स्वरूपा' और "मूकास्वादनवत्" हैं।[1]

इस प्रकार, दिव्य सौन्दर्य-भावना से प्रेरित दृष्टि भी भावलोक में भटकती-भटकती अन्ततोगत्वा, वस्तु-जगत् से समझौता करने को बाध्य हुई। लीला और नित्य विहार की कल्पना द्वारा भक्तों ने अनुभवैकगम्य भगवान से भी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सम्बन्ध स्थापित कर लिया—

"तोहि मोहि नाते अनेक, मानिये जो भावे"—(तुलसी) और ये नाते भक्तों द्वारा निम्नलिखित नव श्रेणियों में प्रतिफलित हुए हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोःध्यानं पाद सेवनं।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्म निवेदनं॥

इन्हें नवधा भक्ति के नाम से विहित किया जाता है।

ब्रह्माण्ड पुराण और श्रीमद्‌भागवत में लीला के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। ब्रह्माण्ड पुराण में कहा गया है—

स्वलीला कीर्ति विस्ताराद् भक्तेष्वनुजिघृक्षया।
अस्य जन्मादि लीलानां प्राकट्ये हेतुरुत्तमः॥

इसी प्रकार श्रीमद्‌भागवत में भी बतलाया गया है—

अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः।
भजते तादृशीः क्रीड़ायाः श्रुत्वातत्परो भवेत्॥

निज लीला के विस्तार और भक्तों पर अनुग्रह करने के हेतु भगवान लीलावतार धारण करते हैं। यह लीला अलौकिक होकर भी लौकिक है और लौकिक होकर भी अलौकिक। लीला प्रकृत अवस्था नहीं है, अपितु लीलामात्र है। लीला-भूमि भगवद्धाम है जो उपनिषद्-कालीन ब्रह्मपुर से कदाचित् अभिन्न है। यह अन्तरा-काशवर्ती है जिसे चिदाकाश अथवा हृदयाकाश कहा गया है—

चिदाकाशो महानास्ते लीलाधिष्ठानमद्भुतम।[1]

अवतार को मोटे तौर पर निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जाता है—

१—प्रकाश—रासलीला में प्रत्येक गोपी के साथ कृष्ण रूप में, २—विलास—रूपगत वैभिन्य के बावजूद तत्त्वगत एकात्मकता, ३—लीलावतार—विविध अङ्गों अथवा कलाओं में रूप-धारण, ४—पुरुषावतार—सृष्टि के कारण स्वरूप, ५—गुणावतार—ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव रूप में, ६—मन्वंतर—स्वयंभू आदि पर नियंता रूप में, ७—युगावतार--हंसादि रूप में, ८—शक्त्या-वेश—नारदादि रूप में।

भक्तों की दृष्टि में लीला, वास्तव में, साक्षात्कार से भी बढ़कर है, क्योंकि वैसी अवस्था में भक्त भगवान के नाना रूपों का सहज उपभोग, प्रेम-स्वरूप भगवान को, विषय रूप में, आलम्बन मान कर होता है, आश्रय रूप में नहीं।[2] भक्त के हृत्प्रदेश में यदि एकबार भगवान का प्रवेश हो जाता है तो उसकी दृष्टि बदल जाती है और यह निरन्तर भगवान को ही सर्वत्र अनुरंजित रूप में देखने लग जाता है—

---

१ मध्यकालीन प्रेम-साधना, द्वितीय संस्करण, पृ० १९

१—पुराण संहिता, ३२।१२

२—मध्यकालीन धर्म-साधना, पृ० १४४

प्रेमांजनच्छुरित भक्ति विलोचनेन
संत: सदैव हृदयेऽपि विलोकयन्ति ।

लीला की भाँति नित्य-विहार का भी अपना अलग महत्व है। यहाँ पर भगवान अवतार नहीं अवतारी हैं, परन्तु एक प्रकार के सभी सम्प्रदायों में नित्य-विहार की ठीक एक ही अर्थ में, व्याख्या नहीं की गई है। इस कारण, इनकी परस्पर संगति बैठाना सब समय संभव नहीं हो पाता। वास्तव में, यह रसिक भक्तों की चिंतन-प्रणाली का प्रतिफल है। ब्रज-रस एवं निकुंज-लीला की स्थिति सूर के लीला-वर्णन से भिन्न कोटि की है। राधा और सखियों के बीच कृष्ण का स्थान और शृङ्गार-भावना की अभिव्यक्ति दोनों में ही किंचित् भेद है। नित्य-विहार के कारण एक अपेक्षाकृत अधिक उदात्त है, क्योंकि वैसी स्थिति में अवतार की नहीं, रस-ब्रह्म की लीला चरितार्थ होती है। इन कृष्ण-भक्तों की दृष्टि में राधा-कृष्ण अनादि और अनन्त हैं। वास्तव में, ये लोग भगवान को भाव-रूप में न लेकर रस-रूप में लेते हैं, जिस कारण इनका एक स्वतन्त्र काव्यशास्त्र ही बन गया है।[1]

परन्तु उपर्युक्त रस-साधना कृष्ण-भक्ति तक ही सीमित नहीं है। राम-भक्तों तक में यह समादृत है। आठवीं शताब्दी के बाद से ही यह आलवार भक्तों की रचनाओं में स्पष्टत: लक्षित होने लगती है। रामानन्द की रचनाओं में भी इसके मूलतत्त्व विद्यमान हैं, फिर भी अग्रदास को ही इसका प्रवर्तक स्वीकार किया जाता है। यह धारा परवर्ती होने पर भी प्रबल है[2] और इसकी साधना राग-मूलक है, वैराग्य-मूलक नहीं। इसके प्रभाव से तुलसी जैसा सजग भक्त कवि भी अपने को बचा न सका, जिसके आराध्य देव मर्यादा-पुरुषोत्तम राम थे।

१—देखिये उज्वल नीलमणि हरिभक्ति रसामृत सिन्धु आदि

२—रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, भूमिका, पृ० ५

वैष्णव कवियों ने "युगल जोड़ी" का चित्रण नायक-नायिका रूप में भी किया है। इस प्रसंग में निम्नलिखित उद्धरण द्वारा इस विषय पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है—

"आलवारों के तमिल "प्रबन्धों" द्वारा सूचित होने वाले श्रीवैष्णव धर्म में एक विशिष्ट प्रकार के प्रेम का वर्णन है जो आत्मा एवं परमात्मा के बीच उत्पन्न होता है। यह लगभग उसी प्रकार का है, जैसा उत्तरी भारत के चैतन्यदेव ने भी प्रतिपादित किया था, अन्तर केवल इतना ही है कि यह विशिष्टाद्वैती ढंग का था। प्रसिद्ध वेदांतदेशिक ने इस बात की चर्चा अपनी "गोदा स्तुति" में की है। उसका कहना है कि गोदा के ये गुरु अर्थात् आलवार भक्त भगवान की उपासना करते समय अपनी भक्ति को यौन-सम्बन्धी प्रेम का रूप दे देते थे। उसके विरह विषयक प्रेम-कथाओं द्वारा अपने हृदय को सान्त्वना भी दिया करते थे, जिस बात की ओर "द्राविड़ोपनिषत् संगति" ने भी संकेत किया है। भगवान के प्रति दाम्पत्य प्रेम के रूप में प्रदर्शित इस भाव का सबसे सुन्दर विवरण सर्वश्रेष्ठ आलवारं सरीशठकोपा की रचनाओं में मिलता है। कहा जाता है कि शठकोपा भगवान के प्रति क्रमश: भरत, लक्ष्मण एवं सीता द्वारा राम के प्रति एवं गोपियों द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति प्रदर्शित विभन्नि भावों को अपनाया करते थे तथा समझते थे कि पुरुष का रूप केवल भगवान के ही उपयुक्त है और उनके समक्ष सम्पूर्ण विश्व स्त्रीवत् है। इस कारण भगवान के प्रति गंभीर प्रेम के भाव में आकर शठारि स्वयं भी स्त्री का रूप धारण कर लिया करते थे। तमिल वैष्णवों के इस "नायक-नायिका भाव" से श्री शंकराचार्य भी भलीभाँति परिचित थे, जैसा उनके "श्री मद्भगवत्गीता भाष्य" के एक प्रसंग से जान पड़ता है।"[1]

जयदेव तथा इस धारा के परवर्ती कवियों की

१—मध्यकालीन प्रेम-साधना, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २८-२९ पर उद्धृत

रचनाओं में वैष्णवोपासना का जो रूप मिलता है उसके मूल में उत्कलीय वैष्णव साधना का प्रभाव ढूँढ़ा जा सकता है। श्री गोपीनाथ जी कविराज के शब्दों में बौद्ध वज्रयान साधना में महासुख का जो उच्च स्थान है, वही महत्व सहजयान तथा परवर्ती साम्प्रदायिक सहजिया तथा बाउल- साम्प्रदाय में रसतत्त्व को प्राप्त है"[१]।

यही कारण है कि राधा, कृष्ण की जीवन-सहचरी रूप में न होकर उनकी प्रेमिका रूप में चित्रित की जाने लगी। यह स्वकीया न होकर परकीया बनी। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी प्रेयसी से मिलने की जो तीव्र व्यग्रता एवं उत्सुकता रहती है, वह स्वकीया पत्नी से नहीं। गौड़ीय सम्प्रदाय में भी "परकीया भावे अति रसेर उल्लास"[२] स्वीकार किया गया है।

भगवान की उपासना बाल, किशोर एवं वयस्क तीनों ही रूपों में की गई है। इन सभी रूपों पर भक्त-हृदय मुग्ध है, अन्तर केवल इतना है कि किसी ने किसी रूप को अधिक महत्व दिया है तो किसी ने किसी दूसरे को। कुछ ऐसे भी उदाहरण मिल जाते हैं जिनमें

१—रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, भूमिका, पृ० ८,

२—चैतन्य चरितामृत, आदिलीला,

एक से अधिक रूपों का समावेश हो गया है। सूर ने जिस बाल-लीला का वर्णन किया है, उसका उत्स विष्णु पुराण के पंचम अंश में पाया जा सकता है। चैतन्य सम्प्रदाय में "नित्यं किशोर एवासौ भगवानन्त-कान्तक" द्वारा किशोर रूप में दर्शाया गया है, जो त्रिपुर सुन्दरी के महत्व से साम्य रखता है। इसी प्रकार, वयस्क रूप में दाम्पत्य अथवा सखी भाव से रसास्वादन किया गया है। ये सभी रूप सौन्दर्यानुभूति के आलंबन बन कर आये हैं।

दाम्पत्य भाव मीराबाई में अपने उत्कर्ष पर है। परन्तु यह सब पार्थिव न होकर आध्यात्मिक स्तर पर है। इसीलिए नित नूतन और चिर सुन्दर है, जिस कारण भक्त का रसिक मन आस्वादन करते-करते अघाता नहीं—

जनम अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल—(विद्यापति) वास्तव में, यह सौन्दर्यगत रूप-माधुरी नश्वर प्राणियों की कोटि से भिन्न है।

भौतिक दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान को प्राय: ऐश्वर्य के प्रतीक रूप में देखा गया है। परन्तु सच बात यह है कि "लकुटी अरु कामरिया" पर भी "तिहूंपुर का राज" न्यौछावर करने वालों का सर्वथा अभाव नहीं रहता आया है।

(पृष्ठ २६ का शेषांश)

'खड़ा होना' एक क्रिया है। पंजाबी में 'गाड़ी खड़ती है'। हिन्दी में 'खड़ता है' 'खड़ती है' प्रयोग नहीं होते। कृदन्त रूप 'खड़ा' के आगे 'होना' सहायक क्रिया लगा कर काम चलाते हैं। पद्धति है। इसे भङ्ग करके कोई 'उठता है' की तरह 'खड़ता है' लिखे-बोले, तो अच्छा न लगेगा क्यों न अच्छा लगेगा? क्योंकि ऐसी चाल नहीं है। सो, भाषा का सौन्दर्य उसकी चाल से, शब्द-चयन से, शब्द-संस्कार से, उचित शब्द-प्रयोग से तथा प्रयोग-वैशिष्ट्य से बढ़ता है।

सौन्दर्यशास्त्र और रस-निष्पत्ति

डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन' एम० ए०, पी-एच० डी०

काव्यशास्त्र, मनःशास्त्र तथा सौन्दर्यशास्त्र वास्तव में पृथक्-पृथक् होते हुए भी एक दूसरे से पर्याप्त रूपेण सम्बन्धित हैं। काव्यशास्त्र का सम्बन्ध विशेषतः काव्य और कला से है, मनःशास्त्र मन की प्रक्रिया की विवेचना करता है और सौन्दर्यशास्त्र जीवन में मानव, पशु, कीट-पतंग, पुष्प, नदी-पर्वत, कला, कविता आदि सभी के प्रति सौन्दर्य-प्रवृत्ति की मीमांसा करता है। काव्य और कला के साथ-साथ मानव, पशु और प्रकृति का पर्यवेक्षण एवं विवेचन सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत है, किन्तु काव्यशास्त्र केवल काव्य और कला तक ही सीमित है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्यशास्त्र का क्षेत्र काव्यशास्त्र से अधिक विस्तृत है। मनःशास्त्र का सम्बन्ध यदि मन से है तो सौन्दर्यशास्त्र का सम्बन्ध आत्मा से है। सौन्दर्यशास्त्र का प्रसिद्ध विद्वान् बोसाँके सौन्दर्यशास्त्र को दर्शनशास्त्र की एक विशेष शाखा मानता हैं।[1] श्री बोसाँके महोदय 'हिस्ट्री ऑफ ऐसथैटिक' में कहते हैं कि जब वस्तु-धर्म कल्पना-समन्वित होकर प्रकाशित होता है तभी सुन्दर बनता है। कांट भी सौन्दर्य को एक चित्तावस्थामात्र ही मानता है। पंडितराज जगन्नाथ अलौकिक आनन्द की ज्ञानगोचरता को सौन्दर्य मानते हैं—"रमणीयता लोकोत्तराह्लादात् ज्ञानगोचरता"—(पंडितराज जगन्नाथ)। जिस गुण के कारण सजीव या निर्जीव के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है, उसे कुछ लोग सौन्दर्य कहते हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि सुन्दरता का अस्तित्व कहाँ है? किसी पुष्प को देखकर जब हम उसे सुन्दर कहने लगते हैं तब यह प्रश्न उठता है कि सौन्दर्य उस पुष्प में है अथवा हमारे मन में। अर्थात् सौन्दर्य विषयगत है अथवा विषयीगत। या विषय एवं विषयी—दोनों से सम्बन्धित। सौन्दर्यशास्त्र की यही प्रमुख मीमांसा है।

यूरोपीय विद्वान् प्रायः सौन्दर्य का अस्तित्व विषयगत् मानते हैं। अरस्तू का दृष्टिकोण काव्य के प्रति वस्तुपरक है।[2] उसका सिद्धान्त अनुकरण तथा विरेचन पर आधारित है। अतः हम कह सकते हैं कि सौन्दर्यानुभूति के विवेचन में अरस्तू आकृतिवादी है। अफलातून अरस्तू से कुछ भिन्न अवश्य प्रतीत होता है। अफलातून विषयी की अवहेलना नहीं करता और विचार को अधिक महत्व देता है।

बर्कले काव्यकला की सौन्दर्य-विवेचना में आदर्शवादी है। वह हृदय की भावनाओं को प्रधानता देता है। उसके मत से सौन्दर्य की स्थिति विषयी में है। भावनावादियोंका कथन है कि कोई वस्तु हमको इसलिए अच्छी लगती है कि हम उसे चाहते हैं। लैला मजनूं को इसलिए अच्छी लगती थी कि मजनूं को वह प्रिय थी। लोगों का कहना है कि लैला के शरीर में कोई सुन्दरता न थी। उसका रंग अमावस्या की रात्रि की तरह काला था। फिर भी मजनूं को वह सुन्दर लगती थी। लैला के उस काले-कलूटे शरीर में मजनूं ने क्या सुन्दरता देखी, इसे मजनूं के दिल से पूछिए।

कुछ सौन्दर्यशास्त्री समन्वयवादी हैं। उनके मत से विषय और विषयी के समन्वित सम्बन्ध में सौन्दर्य का अस्तित्व है। विषयी के गुणज्ञ होने पर ही विषय के गुण की परख हो सकती है। हीरे के गुणों की परख के लिए जौहरी की आँख चाहिए। स्वाँति की बूंद की मिठास पपीहा ही जानता है। चन्द्रमा की किरणों में

१—देखिए बोसाँके कृत—सौन्दर्य-शास्त्र पर तीन व्याख्यान (Three Lectures on Aesthetic Page, 10.)

१—ऐरिस्टोटिल—पोइटिक्स ५।८।४ और डा० नगेन्द्र सम्पादित 'अरस्तू का काव्यशास्त्र पृ० ९ से ११तक

क्या माधुर्य है, इसे चकोर से पूछना चाहिए। वीणा के नाद में जो सौन्दर्य है, उसे हरिण ही तो जानते हैं। कहीं बन्दर अदरक का स्वाद जानते हैं ? काव्य और कला की परख सहृदय तथा सरस जन ही तो कर सकते हैं। रिझाने वाले रूप के लिए रीझने वाली आँखें चाहिए। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

"रूप रिझावनहारु वै ये नैना रिझवार।"

संस्कृत के आचार्यों के अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति आदि जितने सम्प्रदाय हुए वे सौन्दर्य की स्थिति विषय में अर्थात् काव्य में मानते हैं। केवल रससम्प्रदाय सौन्दर्य को विषयगत मानता है। आचार्य भरत मुनि के प्रसिद्ध सूत्र—"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगद्रसनिष्पत्ति" व्याख्या करने के लिए चार आचार्य उटे—(१) लोल्लट, (२) शंकुक, (३) भट्टनायक, (४) अभिनवगुप्त ।

रस (सौन्दर्य) की स्थिति कहाँ है ? इसी को बताने वाली व्याख्याएँ उक्त आचार्यों ने प्रस्तुत की की हैं। प्रत्येक आचार्य का क्या मत है, यही यहाँ विवेच्य है।

व्याख्याकार आचार्यों ने अपनी व्याख्या में तीन प्रमुख बातों पर प्रकाश डाला है—(१) रस की स्थिति (२) संयोगात् का अर्थ (३) रस-निष्पत्ति का तात्पर्य।

आचार्य लोल्लट नायक में रस (सौन्दर्य) की स्थिति मानते हुए दर्शक में उसकी उत्पत्ति मानते हैं। लोल्लट के मतानुसार 'संयोगात्' का अर्थ 'सम्बन्ध' से है और 'निष्पत्ति' का तात्पर्य है 'उत्पत्ति'। उनका मत 'उत्पत्तिवाद' कहलाता है। भट्ट लोल्लट के मतानुसार विभावादि और रस में कारण-कार्य का सम्बन्ध है। आचार्य भरत मुनि के सूत्र की व्याख्या यदि हम लोल्लट के दृष्टिकोण से बताना चाहें तो इस प्रकार कह सकते हैं "विभावानुभावव्यभिचारिसम्बन्धात् रस-उत्पत्तिः।"

आचार्य शंकुक भी नायक में रस की स्थिति मानकर फिर दर्शक में रस की अनुमिति मानते हैं। शंकुक के मतानुसार 'संयोगात्' का अर्थ 'अनुमान से' है और निष्पत्ति का तात्पर्य है 'अनुमिति'। उनका मत 'अनुमितिवाद' कहलाता है। शंकुक के मतानुसार विभावादि और रस में अनुमापक-अनुमाप्य का सम्बन्ध है। भरत मुनि के सूत्र की व्याख्या शंकुक के दृष्टिकोण से यह हो सकती है—"विभावानुभावव्यभिचारि अनुमानात् रस-अनुमितिः।"

उक्त दोनों व्याख्याकार आचार्यों के मतों को देखकर स्पष्ट होता है कि दोनों ही सौन्दर्य अर्थात् रस का अस्तित्व विषय में मानते हैं। उनके मत से सौन्दर्य वस्तुगत माना गया है।

भट्टनायक रस की स्थिति नायक में न मानकर दर्शक ही में मानते हैं। उनके अनुसार 'संयोगात्' का अर्थ है 'साधारण भावित स्थिति से' और 'निष्पत्ति' से तात्पर्य है 'भुक्ति'। उनका मत 'भुक्तिवाद' कहलाता है। आचार्य भट्टनायक के मतानुसार विभावादि और रस में भोजक-भोज्य का सम्बन्ध है। भरत मुनि के सूत्र की व्याख्या भट्टनायक के दृष्टिकोण से इस प्रकार की जा सकती है—

"विभावानुभावव्यभिचारिभोगात् रस-भुक्तिः।"

आचार्य अभिनवगुप्त भी रस का अस्तित्व विषयी में ही स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार 'संयोगात्' का अर्थ है 'ध्वनन से' और 'निष्पत्ति' का तात्पर्य है 'अभिव्यक्ति' अर्थात् 'आनन्दरूप अभिव्यक्ति'। उनका मत 'अभिव्यक्तिवाद' कहलाता है। आचार्य अभिनवगुप्त के मतानुसार दर्शक के हृदय का सुप्त स्थायी भाव जागरित होकर रस रूप में अभिव्यक्त होता है। अभिनवगुप्त के दृष्टिकोण से सूत्र की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—

"विभावानुभावव्यभिचारि ध्वननात् रसाभिव्यक्तिः।"

आचार्य भट्टनायक और अभिनवगुप्त रस अर्थात् सौन्दर्य की स्थिति विषयी में बताते हैं। भट्टनायक रसानुभूति में साधारणीकरण की अवस्था को मानते हैं। वे अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नाम की शब्द-शक्तियों के स्थान पर अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व नाम देते हैं और कहते हैं कि दर्शक अभिधा शक्ति से नायक-

नायिका के सम्वादों का अर्थ ग्रहण करता है और फिर भावकत्व शक्ति से उसका भावन (मनन-चिन्तन पूर्वक आत्मरमण) होता है—अर्थात् जो भाव काव्यगत नायक नायिका में व्यक्तिगत सम्बन्ध के कारण होते हैं, वे काव्यपठन से अथवा नाटक देखने से सहृदय पाठक या दर्शक में साधारणीकृत हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि उनमें से ममत्व तथा परत्व की भावना निकल जाती है। वे भाव सभी पाठकों (दर्शकों) के लिए सामान्य रूप धारण कर लेते हैं। सर्वसाधारण के ग्रहण योग्य भाव तभी बनते हैं जब उनमें भोजक वृत्ति काम करती है। भावकत्व और भोजकत्व के कारण दर्शक विशेषत्व से रहित होकर साधारणीकृत हो जाता है—अर्थात् शकुन्तला नाटक देखने वाले दर्शक का भाव शकुन्तला के प्रति ठीक वैसा ही न होगा, जैसा कि दुष्यन्त का शकुन्तला के प्रति था। दुष्यन्त का शकुन्तला के प्रति जो रति-भाव है, वह सहृदय दर्शक के लिए शुद्ध सात्विक रति-भाव बन जायगा जिसमें शकुन्तला केवल स्त्री होगी, पत्नी नहीं।

वास्तव में भट्ट नायक के 'भावकत्व' का अर्थ ही 'साधारणीकरण' है। काव्यप्रकाश की टीका में प्रदीपकार ने साधारणीकरण को इन शब्दों में समझाया है–

"भावकत्वं हि साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभादय: स्थायी च साधारणी क्रियन्ते।"

—का० प्र० टीका

आचार्य अभिनवगुप्त का मत मनोविज्ञान की कसौटी पर खरा उतरता है। जिस प्रकार पीली मिट्टी पर पानी पड़ते ही उसमें निहित गन्ध एक दम प्रकट होने लगती है, ठीक उसी प्रकार वासना रूप सुप्त स्थायी भाव विभावानुभाव-व्यभिचारियों द्वारा जागरित होकर अभिव्यक्त होने लगते हैं अर्थात् रस रूप में प्रकट होते हैं। बहुत-कुछ यही दशा सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में भी होती है।

आचार्य अभिनव रसरूप सौन्दर्य की स्थिति यद्यपि विषयी में मानते हैं परन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो आप उन्हें सामंजस्य विधायकों में पायेंगे। वास्तव में सच्चा सौन्दर्य आन्तरिक और बाह्य का समन्वयात्मक स्वरूप है। वह विषयगत भी है और विषयीगत भी–अर्थात् सौन्दर्य वस्तुगत भी है और हृदयगत भी।

आदर्शवादी विद्वान् सौन्दर्य को प्राय: विषयगत मानते हैं और उसके अध्यात्म पक्ष पर अधिक जोर देते हैं। प्लेटो, बोसांके, कांट, पण्डितराज जगन्नाथ, जायसी आदि इसी मत के समर्थक माने जाते हैं।

कुछ रसिक विद्वान् सौन्दर्य के बाह्य पक्ष पर अधिक बल देते हैं और उसे पूर्णतया विषयीगत मानते हैं। अरस्तू, कीट्स, माघ, भारवि, बिहारी आदि इसी मत के समर्थक एवं पोषक कहे जा सकते हैं।

कुछ यूरोपीय तथा भारतीय विद्वानों के मत सौंदर्य के सम्बन्ध में यहाँ द्रष्टव्य हैं—

"Beauty is the spiritual making itself known sensuasly, "अर्थात् सौन्दर्य आध्यात्मिकता की भावात्मक अभिव्यंजना है—(प्लेटो)

"All beauty is the expression of what may be generally called emotion, "अर्थात् सौन्दर्य भाव की अभिव्यंजना है।

—(क्रीट)

"क्षण क्षण यन्नवतामुपैति तदैव रूपं रमणीयताया:।" क्षण-क्षण में जो नवीनता धारण करता है वही सौन्दर्य है।—(माघ)

प्रसाद जी ने कामायनी में सौन्दर्य का अस्तित्व समरसता में माना है—

"समरस थे जड़ या चेतन,
सुन्दर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती,
आनन्द अखण्ड घना था॥"—प्रसाद

सौन्दर्य को विषयीगत मानने वालों का कहना है कि सौन्दर्य व्यक्ति की अपनी निजी अनुभूति है, बाह्य जगत् से उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। विषयगत मानने वाले संसार की वस्तुओं में ही सौन्दर्य मानते हैं। उनका मत है कि वस्तु की सुन्दरता ही मन को खींचा करती है।

सौन्दर्यानुभूति में व्यक्ति के संस्कार अवश्य काम करते हैं। जिस देश और काल में मनुष्य रहता है, उसीके अनुसार उस मनुष्य के सौन्दर्य का मानदण्ड बनता है। वही मानदण्ड किसी वस्तु की सुन्दरता और असुन्दरता पर अपना निर्णय दिया करता है। जिस प्रकार हमारे हृदयों में स्थायी भाव नित्य निवास करते हैं और कविनिबद्ध पात्रों के विभावादि से जागरित होकर रस रूप में हमें आनन्दानुभूति कराते हैं, ठीक उसी प्रकार हमारी मनोभूमि पर हमारे संस्कार भी सौन्दर्य का एक परिनिष्ठित रूप चित्रित कर देते हैं, जो सदैव हृदयाँकित रहता है। आचार्य क्षेमेन्द्र के शब्दों में यही 'औचित्य' कहलाता है। वस्तुतः आचार्य भरत मुनि, क्षेमेन्द्र आदि का औचित्य रस—संचार का एक प्रमुख साधन है। देशकाल-जनित मानसिक औचित्य ही तो शास्त्रीय शब्दों में 'काव्य की आत्मा' कहलाता है। औचित्य ही सौन्दर्य है और अनौचित्य ही असौन्दर्य। क्षेमेन्द्र कहते हैं कि कण्ठ में मेखला और नितम्ब पर हार पहनने से हँसी उड़ती है—"कण्ठे मेखलया नितम्ब फलके तारेण हारेण वा।...... शौर्येण प्रणांते रिपौ करुणाया नायन्ति के हास्यताम्॥" जब हम कोई वस्तु देखते हैं तब परिनिष्ठित सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब हमारे मन-मुकुर में पड़ता है और हम तुरन्त उस प्रतिबिम्ब की तुलना अपने संस्कार-जन्य सौन्दर्य से करने लगते हैं। यदि वह प्रतिबिम्ब उस वस्तु के सौन्दर्य की तुलना में ऊँचा बैठता है तो हम उसे अति सुन्दर मान लेते हैं; यदि समान होता है तो 'सुन्दर' कहते हैं और यदि कम अर्थात् नीचा रह जाता है तो उसे 'असुन्दर' कह देते हैं। अतएव सुन्दरता के मूल्याँकन में व्यक्ति और वस्तु का समन्वयात्मक सम्बन्ध ही प्रमुख रहता है। आचार्य भट्टनायक, अभिनवगुप्त आदि रसवादी सामंजस्यात्मक सौन्दर्य-विधान के पक्ष में ही अपनी विचार-धारा व्यक्त करते हैं। औचित्य-सिद्धान्त में भी विषयी और विषय की समन्वयात्मक प्रक्रिया है, तभी रस या सौन्दर्य की अनुभूति होती है।

कोई कवि या कलाकार जब सौन्दर्य का स्वयं अनुभव करता है तब उसकी अनुभूति में बाह्य वस्तुओं का ही प्रभाव अधिक रहता है; किन्तु जब वह सौन्दर्य की अभिव्यंजना पुर्नविधान के रूप में करता है तब उसकी अपनी आत्मा भी उन्मुक्त भाव से बिखर पड़ती है। इसलिए हम कह सकते हैं कि सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में वस्तु और व्यक्ति दोनों ही प्रधान हैं। यहाँ इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि इस सम्पूर्ण प्रक्रिया के मूल में प्रधानता व्यक्ति की ही है, वस्तु तो गौण है। अलङ्कार सिद्धान्त, रीतिसिद्धान्त, ध्वनिसिद्धान्त, वक्रोक्ति सिद्धान्त आदि काव्य के बाह्य पक्ष पर ही अधिक बल देते हैं। वे वस्तु ही में सौन्दर्य मानते हैं। विषयीगत अर्थात् सहृदय व्यक्ति में सौन्दर्य मानने वाला तो एक रससिद्धान्त ही है, जिसने अन्य सभी सिद्धान्तों पर विजय पा ली है। यह सिद्धान्त सौन्दर्य को विषयीगत मानते हुए भी वस्तु की अवहेलना नहीं करता। अतः निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि सौन्दर्य का सच्चा स्वरूप आन्तरिक तथा बाह्य और विषयी तथा विषय के सामंजस्य में ही निहित है। रीझने वाले नयनों के आगे रिझाने वाला रूप भी होना चाहिए। आचार्य भरतमुनि के 'रस-निष्पत्ति' सूत्र के मूल में यही विचारधारा निहित है।

भारतीय काव्य-शास्त्री काव्य में रसानुभूति और कलाओं (मूर्ति-चित्र आदि) में सौन्दर्यानुभूति मानते हैं। मेरी मान्यता है कि जहाँ रसानुभूति होती है वहाँ सौन्दर्यानुभूति भी पूर्व-पीठिका में अवश्य ही होती है। हाँ, केवल सौन्दर्य की स्थिति में रस का पाया जाना आवश्यक नहीं।

———

आधुनिक अंग्रेज़ी समालोचना में सौन्दर्य-चिन्तन

श्री अमरनाथ जौहरी एम० ए०

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही पश्चिमी जगत में एक निराशाजनक अप्रकृतिस्थता, (Abnormality) मानसिक अस्वस्थता, आत्म-दया एवं पापिष्ठतावाद का वातावरण विद्यमान था। इसका समालोचना पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इंग्लैण्ड में शुद्ध सौन्दर्यवादी परंपरा उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त से चली आ रही थी। नये विचारक इसे उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे। टी० एस० इलियट ने इस दृष्टिकोण को इस प्रकार व्यक्त किया—'आप सौन्दर्य-समीक्षा एवं नैतिक और सामाजिक समीक्षा के बीच रेखा नहीं खींच सकते। आप समीक्षा तथा दर्शन के बीच रेखा नहीं खींच सकते। आप सौन्दर्य-समीक्षा आरम्भ कीजिये, और आप कितने ही कट्टर सौन्दर्यवादी क्यों न हों, आप शीघ्र ही अथवा कुछ समय के उपरान्त उसकी सीमाओं का उल्लंघन कर जायेंगे और किसी अन्य क्षेत्र में पहुँच जायेंगे। आप के लिये उचित है कि आप इस स्थिति को स्वीकार करें एवं समझ लें कि आप में इतनी कुशलता भी होनी चाहिये कि आप तुरन्त उस क्षेत्र से अपने क्षेत्र में वापिस आ सकें।'[1] इस नये दृष्टिकोण के बावजूद बीसवीं शताब्दी में कलावाद एवं प्रभाववाद के सिद्धान्त भी सबल रूप में विद्यमान रहे।

(१) कलावाद

'कला कला के लिये'—इस सिद्धान्त का सूत्रपात फ्रांस में हुआ। इंग्लैण्ड में ह्विस्लर ने इसका प्रचार किया। पेटर की समीक्षा से इसको बल मिला एवं ऑस्कर वाइल्ड तथा 'यैलोबुक' नामक त्रैमासिक पत्रिका के सदस्यों ने इसका पोषण किया।[2] इसके मूल में रस्किन के नीति-परक सिद्धान्तों के प्रति प्रतिक्रिया की भावना थी एवं जर्मन सौन्दर्य-शास्त्र का चिन्तन था। क्लाइव-बैल ने कहा कि सौन्दर्य की अनुभूति एक विशिष्ट अनुभूति होती हैं, जो हमें कला-कृतियों द्वारा प्राप्त होती है।[1] डाक्टर ब्रैडले ने इस सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की है[2] :—

१—सौन्दर्यानुभूति स्वयं साध्य है, और अपना विशिष्ट मूल्य रखती है। इसके अन्तर्वर्ती मूल्य के कारण ही इसकी प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिये।

२—इसका एकमात्र अन्तर्वर्ती मूल्य ही इसका काव्यगत मूल्य है। काव्य साँस्कृतिक चेतना, धर्म अथवा धनोपार्जन का भी साधन हो सकता है। किन्तु उसके बहिर्मूल्य से उसके अन्तर्वर्ती मूल्य का निर्णय नहीं किया जा सकता। काव्यानुभूति एक तुष्टि प्रदान करने वाली कलात्मक अनुभूति होती है और उसका मूल्याँकन उसके अन्तर्वर्ती मूल्य द्वारा ही हो सकता है।

३—यदि कवि काव्य-रचना में, एवं पाठक काव्यानुभूति में, बहिर्मूल्यों का विचार करता है, तो काव्य का अन्तर्वर्ती मूल्य न्यून हो जाता है, क्योंकि ऐसा करने में वह कविता को उसकी प्रकृति एवं उसके वातावरण से अलग कर देता है।

४—क्योंकि काव्य की यह प्रकृति है कि वह वस्तु-जगत का न अंश है, न उसकी प्रतिकृति है, अपितु वह स्वयं एक स्वतन्त्र, सम्पूर्ण एवं स्वयं-प्रेरित स्वाधीन जगत है।

1—Edgell Rickword : 'Scrutinies'. Page 69.

2—R. A. Scott-James : 'The making of Literature'. Page 313

1—Clive Bell : "Art" Page 49.

2—A. C. Bradley : Oxford lectures on English Poetry : Page 5,

प्लेटो, अरिस्टॉट्ल होरेस, डान्टे, कॉल्रिज, मैथ्यू आर्नल्ड प्रभृति समालोचकों ने साहित्य को जीवन से सम्बद्ध बताया था। उनका विचार था कि कला-जनित अनुभूतियों का मूल्य अन्य मूल्यों के समान ही आँका जाना चाहिये। आधुनिक मनोविज्ञान भी इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता। काव्यगत् अनुभूति मनुष्य की अन्य अनुभूतियों से अलग नहीं की जा सकती।

(२) प्रभाववाद[1]

प्रभाववादी आलोचक परम्परावादी एवं शास्त्रीय आलोचकों के विरोधी हैं। शास्त्रीय आलोचकों के समान वे 'निर्णय के मापदण्ड' को तो स्वीकार करते हैं, किंतु यह मापदण्ड उन्हें अपने ही अन्दर, अथवा अपनी ही विलक्षण सौन्दर्य्य-वृत्ति में प्राप्त होता है। जे० ई० स्विनगार्न का कथन है कि "इन्द्रियों के द्वारा कलाकृति की अनुभूति प्राप्त करना, एवं उसे व्यक्त करना—यही समालोचना का उद्देश्य है।"[2] आर्थर सिमन्स की आलोचनायें प्रभाववादी हैं। उसका उद्देश्य कलाकृति-जनित सम्वेदनाओं एवं अनुभूतियों का चित्रण करना है, उनका मूल्यांकन करना नहीं। रावर्टलिन्द का कहना है कि काव्य द्वारा हमें वस्तु-स्थिति का स्मरण होता है; क्योंकि काव्य-जनित अनुभूति एक प्रबल अनुभूति है, चाहे वह प्रेम की हो, चाहे धर्म अथवा देशभक्ति की हो, अथवा एक 'अधिक सम्पूर्ण जगत की कामना' की हो' और उसे हम भूल नहीं सकते।[3] सर हेनरी न्यू बोल्ट का विचार है कि जब कवि की आत्मा अपने घर (अर्थात् एक अधिक सम्पूर्ण जगत) की स्मृति में आकुल होती है, तब उस स्थिति में जीवन का जो रूप उसके हृदय में बनता है, उसकी अभिव्यक्ति कविता कहलाती है।[4] यह स्मृति-जन्य आकुलता सौन्दर्य्य के लिये हो

1—Impressionism.

2—Millet, Mauly & Rickart : 'Contemporary British Literature.' Page 104

3—Robert Lynd's Essay "On Poetry and the Modern Man."

4.—Ibid.

सकती है, स्थायित्व के लिये भी हो सकती है, अतीत के लिये भी हो सकती है। कवि जानता है कि सुन्दर वस्तुयें विलीन हो जाती हैं, किन्तु वह अनुभव करता है कि सौन्दर्य्य का प्रभाव अजर है, और यद्यपि सुन्दर वस्तुयें समाप्त हो जाती हैं, जगत का यह सौन्दर्य-प्रवाह बना रहता है।[1] कबीर ने भी तो कहा था—'रस गगन-गुफा में अजर झरे', यद्यपि उसका संकेत काव्यानन्द की ओर नहीं, ब्रह्मानन्द की ओर था। लिंद के अनुसार, प्रत्येक कवि इस सौन्दर्य्य-नद के तट पर आता है, और उसके अमृत का पान करके सौन्दर्य्य की प्रेरणा प्राप्त करता है।[2] कवि की यह सौन्दर्य्यानुभूति जब पाठक के हृदय में जाग्रत हो जाती है, तो कविता का उद्देश्य पूरा हो जाता है। यह आत्म-परक सौन्दर्य्यानुभूति ही कला एवं साहित्य में निर्णय का मापदण्ड बन जाती है, किन्तु अपने व्यक्तिगत प्रभावों के आधार पर निर्णय के सिद्धान्तों का निर्माण करना सहृदय व्यक्ति के निश्छल प्रयत्न द्वारा ही सम्भव हो सकता है।'[3]

निस्सन्देह पेटर, मिड्लटन मरी, लिंद जैसे प्रभाववादी आलोचकों की समीक्षा मूल ग्रन्थों से भी अधिक सुन्दर एवं चमत्कार-पूर्ण है, किन्तु प्रभाववादी आलोचना का मूल्य पूर्ण रूप से आलोचक के व्यक्तित्व पर ही निर्भर है। इससे अनुत्तरदायी आलोचना को बल मिलता है, और यही इसकी दुर्बलता है।

(३) अभिव्यंजनावाद[4]

अभिव्यंजनावाद ने सौन्दर्य्यानुभूति की समस्या पर एक नया प्रकाश डाला। इटैलियन लेखक क्रोचे इस सिद्धान्त का प्रवर्तक है। उसके दृष्टिकोण से रूप एवं आकार युक्त अनुभूति ही वास्तविक अनुभूति है, और

1—Robert Lynd's Essay "On Poetry and Modern man."

2—Ibid.

3—Remy de Gourmont, as quoted by Middleton Murry in his essay 'A Critical Credo.'

4—Expressionism.

कलाकार के लिये वही उसकी अभिव्यंजना है। संक्षेप में यह सिद्धान्त इस प्रकार है:—

१—प्रातिभज्ञान[1] कल्पना द्वारा प्राप्त होता है। प्रातिभ ज्ञान मानसिक प्रभावों की सक्रिय अभिव्यंजना का नाम है। जब कलाकार को किसी वस्तु का केवल अनुभव होता है, अथवा वह केवल उसकी झलक-मात्र देखता है, तो उसे उसका प्रातिभ ज्ञान प्राप्त नहीं होता। किन्तु जब उसके मस्तिष्क में उसकी अनुभूति की सम्पूर्ण अभिव्यंजना हो जाती है, तब उसे उसका प्रातिभ ज्ञान प्राप्त होता है। मस्तिष्क में रूप और आकार के निर्माण के उपरान्त ही सौन्दर्यानुभूति होती है। प्रातिभ ज्ञान भावनाओं एवं वासनाओं की उथल पुथल को पराभूत कर देता है। जब व्यक्ति अपने मस्तिष्क में अपनी अनुभूतियों को वस्तुगत रूप दे देता है, तब वह उनसे मुक्त हो जाता है एवं उसकी भावनायें और वासनायें शांत हो जाती हैं।

२—कलाकार ही ऐसा व्यक्ति है, जो बहुत स्पष्ट देखता है। जितना स्पष्ट वह देखेगा, उतनी ही स्पष्ट उसके अंतस् में अनुभूति की अभिव्यंजना होगी। स्वतंत्र अनुभुति के जिन क्षणों में कलाकार का अन्तस् उस अनुभूति से ओत-प्रोत हो जाता है, उन्हीं क्षणों में वह कलाकार कलाकार है। सफल अभिव्यंजना से जो आत्म-मुक्ति प्राप्त होती है, उससे कलाकार के हृदय में आनन्द की लहर दौड़ जाती है। यही काव्यगत आनन्द है। और जैसे जैसे कवि के अंतस् में इस अनुभूति की अभिव्यंजना होती जाती है, वैसे वैसे यह अनुभूति सुन्दर होती जाती है।

३—कविता, चित्रादि केवल भौतिक उद्दीपन हैं, जिनके द्वारा कलाकार अपने प्रातिभ ज्ञान का पुनर्निर्माण करता है। जब कलाकार एक बाह्य वस्तु (कविता, चित्रादि) का निर्माण करता है, तो वह अपने कला के क्षेत्र को त्याग कर एक ऐसे जगत में प्रवेश करता है जो सामाजिक जगत है, और जहां आर्थिक, नैतिक, राजनैतिक, व्यावहारिक बातें महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं, अर्थात् कलाकार देखने के लिये स्वतंत्र है, कहने के लिये नहीं[1]।

क्रोचे ने कलाकार के अंतस् को बहुत सुन्दर विवेचना की है, इसमें कोई संदेह नहीं, किन्तु उसने सौन्दर्यानुभूति की प्रेषणीयता के विषय में कुछ नहीं कहा। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कला का उद्देश्य जगत के सम्मुख कुछ रखना है, जो सुन्दर हो। टॉलस्टाय का प्रेषणीयता का सिद्धान्त क्रोचे के सिद्धान्त का पूरक कहा जा सकता है, यद्यपि प्रेषणीयता का मनोवैज्ञानिक विवेचन प्रथम महायुद्ध के उपरान्त ही हुआ।

(४) प्रेषणीयतावाद[2]

टॉलस्टाय के अनुसार कला एक ऐसी क्रिया है जिसके द्वारा एक व्यक्ति एक अनुभूति प्राप्त करता है, और फिर निश्चय पूर्वक दूसरे व्यक्ति के हृदय में उसका प्रेषण करना चाहता है[3]। ऐलमर मॉड ने एक उदाहरण द्वारा इस सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की है—

कल्पना कीजिये कि एक जन-संकुल कमरे में से होकर जाते हुये एक पुरुष का पैर एक महिला के अंगूठे पर पड़ जाता है। महिला कष्ट से चीख पड़ती है, और तुरंत अपना पैर खींच लेती है। उसके मुख पर वेदना की रेखायें बन जाती हैं और उपस्थित व्यक्तियों के हृदय में उसके दुख का संचार हो जाता है। किन्तु उसका यह कार्य कला नहीं है, क्योंकि उसका भाव-प्रेषण उसकी अनुभूति के समय ही हुआ है। वह स्वतः स्फूर्त एवं नैसर्गिक प्रवृत्ति-जनक है। किन्तु यदि वह सज्जन फिर उसके पास से होकर निकले, और यदि अपने अंगूठे पर उसका पैर पड़े बिना वह स्त्री इस प्रकार अभिनय करे कि जैसे उसका अंगूठा कुचल गया हो, और यदि उसकी अभिव्यक्ति बिल्कुल ऐसी ही हो जैसी पिछली

1—Intuition.

1—R. A. Scott James. 'The Making of Literature, Page 316.

2—"The Infection Theory."

3—Tolstoy: "What is Art ?" (O. U. P.) Page 6

बार हुई थी, और यदि उपस्थित सज्जनों के हृदय में उन्हीं भावनाओं का संचार हो जाय जो पिछली बार हुआ था, तो उस स्त्री का यह कृत्य कलापूर्ण होगा, और यही उसकी भाव-प्रेषणीयता कही जायेगी। यदि उसका अभिनय उसके भाव को पूर्णत: व्यक्त न कर सके, तो उसका प्रयत्न निष्फल हो जायेगा और उसका कृत्य कलापूर्ण नहीं होगा।[1] टॉलस्टाय के अनुसार कला के लिये चार बातें आवश्यक हैं :—

१—कलाकार किसी अनुभूति को स्वयं प्राप्त करके, फिर दूसरों के हृदय में उसका प्रेषण करने के लिये उसकी पुनरावृत्ति करता है।

२—कला का वाह्य रूप विषय-वस्तु अथवा भाव के पूर्णत: अनुकूल होना चाहिये। यदि उसके वाहय रूप में किंचित्मात्र भी दोष है, तो भाव के प्रेषण में बाधा पड़ जायेगी और कला का लोप हो जायेगा।

३—यह आवश्यक है कि कला द्वारा ऐसे भावों का संचार किया जाय, जो सात्विक हों, और जिनसे संसार का कल्याण हो। कला का जीवन से गहरा सम्बन्ध है और उसका जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है।

४—चूंकि कला जीवन से सम्बद्ध है, अत: स्वतंत्र रूप से उसका कोई मूल्य नहीं है। विज्ञान के समान और उसके साथ कला भी मानव के जीवन एवं विकास का अभिन्न अंग है।

रिचर्ड्स का विचार है कि टॉलस्टाय का दृष्टिकोण संकुचित है।[3] इस सिद्धान्त का उदय जनजीवन की क्लेश और पीड़ा की पृष्ठ भूमि पर हुआ है, अत: इसे सर्वव्यापी नहीं कहा जा सकता।

(५) प्रतिष्ठित सौन्दर्य्यवाद[4]

प्रोफेसर इर्विंग बैबिट के अनुसार सौन्दर्य्य के शास्त्रीय आलोचक को चाहिये कि वह किसी ऐसे आदर्श के द्वारा कलाकृति का मूल्यांकन करे जो उसकी एवं कलाकार की स्वाभाविक प्रवृत्तियों से ऊंचा हो। उसकी अभिरुचि एवं निर्णय शक्ति तभी मान्य होगी जब वह रचनात्मक अभिव्यक्ति का (अथवा कलाकृति का) एवं अपने ऊपर पड़े हुये उसके प्रभाव का किसी प्रतिष्ठित मापदण्ड से मूल्यांकन करे।[1] प्रोफेसर बैबिट के अनुसार यह आदर्श उसे प्राचीनकाल की महान कला-कृतियों में, ग्रीक एवं रोमन साहित्य में, तथा चुने हुये अंग्रेजी एवं योरोपियन साहित्य में उपलब्ध होगा।

शास्त्रीय समालोचकों में टी० एस०ईलियट अग्रगण्य है। मैथ्यू आर्नल्ड के समान उसने अतीत के महान लेखकों (अर्थात डांटे, डन और शेक्सपीयर आदि) का पुन: मूल्यांकन किया है। अपनी पुस्तक "दी सेक्रेड वुड" में उसने कहा—'कविता भावनाओं का अनियंत्रित उद्रेक नहीं है, वह व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं है, व्यक्तित्व से मुक्ति है।'[2] जो प्रभाव एवं अनुभूति मानव के लिये महत्त्वपूर्ण है, सम्भव है कि कवि के लिये उनका कोई महत्त्व न हो, और जो प्रभाव एवं अनुभूति कवि के लिये परमावश्यक है, सम्भव है मानव के लिये (अथवा उसके व्यक्तित्व के लिये) उनका कोई मूल्य न हो। अत: कवि के व्यक्तित्व का उसकी कला से लगभग कोई सम्बन्ध नहीं होता।

टी० एस० ईलियट का विचार है कि कलाकृति का प्राथमिक सम्बन्ध परम्परा से होता है, अपने रचयिता से नहीं। समीक्षक का कार्य है कि वह वर्तमान के लिये

1—Tolstoy : "What is art" (O. U. P.), Page 7

2—Ibid.

3—I. A. Richards : "Principles of Literary Criticism–Page 66

4—Classical Aestheticism.

1—Millet, Mauly & Rickart : 'Contemporary British Literature' Page 103

2—Quoted by Herbert Read : "Collected Essays in Literary Criticism" Page 22

अतीत का निर्वचन करे, एवं अतीत के मापदण्ड से वर्तमान का निर्णय हो।[१]

साहित्य रचना के विषय में ईलियट का विचार है कि कला-रूप में भाव की अभिव्यक्ति का एकमात्र ढंग यह है कि उस वस्तु को अन्योन्याश्रित बनाया जाय,[२] अर्थात् किसी वस्तु-समूह, घटना अथवा घटना-क्रम को उस विशिष्ट भाव का सूत्र बनाया जाय। और यह कार्य इस प्रकार किया जाय कि जब कभी वह वाह्य वस्तु-समूह प्रस्तुत किये जांय, जिनके द्वारा सम्वेदनीय अनुभूति की उपलब्धि हो, तो उस मूल भाव का तुरन्त संचार हो जाय।[3]

आई० ए० रिचर्ड्स के समान ईलियट ने भी काव्य-कला-विन्यास[४] के सूक्ष्म विवेचन का प्रयत्न किया है। उसने समालोचकों का ध्यान अपने युग की सभ्यता और संस्कृति पर कवि की प्रतिक्रिया की ओर भी आकृष्ट किया है। वर्तमानवादी एवं भविष्यवादी समालोचना के तिर्यक प्रभाव में ईलियट का प्रतिष्ठित परम्परावाद टिक सकेगा या नहीं, इसमें सन्देह है।

(६) मनोविश्लेषणात्मक सौन्दर्यवाद

बीसवीं शताब्दी का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है—फ्रायड के मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों[१] पर आधारित साहित्यालोचन। इस वर्ग के आलोचकों ने कला-जनित अनुभूतियों का बड़ा विशद विवेचन किया है।

इस परम्परा के महान प्रवर्तक आई० ए० रिचर्ड्स का कथन है कि आधुनिक सौन्दर्य्य-शास्त्र की यह मान्यता कि सौन्दर्य्यानुभूति के समय मस्तिष्क में एक विशिष्ट क्रिया होती है, निराधार है, तथा यह भी भ्रांतिमूलक धारणा है कि कला-कृति द्वारा जिस आनन्द की उपलब्धि होती है, वह इन्द्रिय-जनित आनन्द से अथवा साधारण आनन्दमयी अनुभूतियों से भिन्न है। उसका कहना है कि मनोविज्ञान ऐसी कल्पना का समर्थन नहीं करता।[२] वर्नोन ली ने कहा था कि 'दृश्य-श्रव्य रूपों तथा कला-रसज्ञ के बीच में एक सम्पूर्णतः अनूठा सम्बन्ध विद्यमान रहता है तथा इस बात की पुष्टि इससे होती है कि कुछ विशेष अनुपात रूप, प्रतिकृतियाँ, तथा रचनायें ही कला-कृतियों में बार-बार प्रगट होती हैं।[३] रिचर्ड्स का विचार है कि इससे किसी अनूठी सौन्दर्य्यानुभूति का अस्तित्व स्थापित नहीं होता।

1—'Tradition & Experiment in Present day Literature (O. U. P.) Page 198.

2—"The only way of expressing emotion in the form of art is by finding an 'objective correlative'...." (T. S. Eliot's formula of the 'Objective correlative')

3—Edgell Rickword: Scrutinies Vol, II, Page 63.

4—'Poetic Mechanism'.

१—फ्रायड (Sigmund Freud) **का सिद्धांत है कि मानसिक जीवन चेतन एवं अचेतन पर आधारित है। चेतन ही मानसिक जीवन का मूल तत्व नहीं है। चेतन तो मानसिक क्रिया के अनेक अङ्गों में से केवल एक है। मानव मस्तिष्क कुण्ठाओं की युद्ध-भूमि है। मानव के मानसिक विकास में यौन-चेतना प्रत्येक स्थिति में (शैशव काल से ही) विद्यमान रहती है।**

2—I. A. Richards: Principles of Literary Criticism. Chapter II

3—'A relation entirely sui generis between visible and audible forms and ourselves' can be deduced from the fact 'that given proportion, shapes, patter 1 ompositions have a tendency to recur in art'—Vernon Lee 'Beauty & Ugliness, Page 10, as quoted by Richards.

रिचर्ड्स का कथन है कि कलाकृति-जनित सौन्दर्य्यानुभूति साधारण वस्तुओं एवं कृत्यों द्वारा प्राप्त सौन्दर्य्यानुभूति से भिन्न नहीं होती। यदि हम स्वतन्त्र सौन्दर्य्यानुभूति का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, तो हमें जीवन से असम्बद्ध-कला के मूल्यों को भी मानना पड़ेगा। यह विचार कि किसी कलाकृति के रसास्वादन के लिये हमें जीवन से कुछ नहीं लेना चाहिये, हमें जीवन के विचारों एवं कार्य-कलापों के ज्ञान की भी आवश्यकता नहीं है, हमारे लिये जीवन की अनुभूतियों से परिचित होना भी आवश्यक नहीं है, एक अत्यन्त भ्रांतिमूलक विचार है, क्योंकि यह कला को मानव-जीवन के अन्य स्वाभाविक व्यापारों से अलग कर देता है, और मनोविज्ञान इसे पुष्ट नहीं करता।

रिचर्ड्स मूलत: समवबोध[1] एवं मूल्यांकन की प्रक्रियाओं का विश्लेषण करता है। उसने समवबोध की इन्द्रिय-जनित, भाव-गत एवं बुद्धिपरक बाधाओं पर आश्चर्य्यजनक प्रकाश डाला है। अपने मूल्यांकन के सिद्धान्तों में उसने समस्त मूल्यों के समन्वय का समर्थन किया है, चाहे वे मूल्य सौन्दर्य्य-गत हों अथवा नैतिक पारिभाषिक हों अथवा बौद्धिक। रिचर्ड्स का मूल्यांकन सिद्धान्त अन्य समीक्षा सिद्धान्तों की भ्रांतियों का निवारण करता है। सौन्दर्य्यगत और नैतिक मूल्यों के समन्वय की समस्या प्लेटो के समय से आज तक साहित्यालोचन की जटिल समस्या बनी हुई थी। उसे सुलझाने का भी रिचर्ड्स ने प्रशंसनीय प्रयास किया है।

(७) अस्तित्ववाद[2]

युद्ध एवं युद्धोत्तर काल में अस्तित्ववाद का साहित्य पर प्रभाव पड़ा। जर्मन लेखक काफ़्का[3] के उपन्यासों में नये युग की चेतना थी। काफ़्का एक अद्भुत अतिविधिज्ञ था। उसने जन-साधारण की तथा अपने युग की वेदना को वाणी दी थी। अत: वह इस चिन्ता के युग का

1—'Comprehension'.
2—Existentialism.
3—Fraux Kafka.

प्रतिनिधि माना जाने लगा।[1] नये युग के इस निराशावाद का प्रभाव डेन्मार्क के लेखक कीर्कगार्ड[2] पर भी पड़ा। कीर्कगार्ड ने अनुभव किया कि जीवन के प्रेम-सम्बन्धी अथवा धर्म-सम्बन्धी अथवा अन्य महान संकटों में परम्परागत सिद्धान्त मानव का मार्ग प्रदर्शन नहीं करते। अत: उसने उन समस्त सिद्धान्तों को ठुकरा दिया और कहा कि सत्य प्रातीतिक है, वैषयिक नहीं। उसने कहा कि हमें अपने व्यावहारिक जीवन में छोटे-बड़े निर्णय करने पड़ते हैं। उन निर्णयों का हमारे व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। अत: सत्य हमारे व्यक्तित्व एवं सत्य की जो प्रतीति हमें होती है—इन दोनों पर आश्रित है।[3] यही अस्तित्ववाद का दार्शनिक सिद्धान्त है।

अतियथार्थवादियों[4] ने अवचेतन का तत्त्व-विवेचन एवं रहस्योद्घाटन किया था। उनका सिद्धान्त था कि कला एवं यथार्थवाद की एकमात्र स्थिति मानव के अयुक्तिक व्यक्तित्व'[5] में होती है। उनका कथन था कि उत्कृष्ट कला में स्वयं प्रेरित लेखन अथवा स्वप्नों का मूलानुगामी अंकन होना चाहिये, किन्तु यह लेखन एवं अंकन कल्पना द्वारा क्रम-बद्ध होना चाहिये।[6]

साहित्यिक अस्तित्ववाद इसी अतियथार्थवाद का विकसित रूप है। अस्तित्ववाद की भी यह मान्यता है कि मनुष्य अयुक्तिक शक्तियों का कोष है, किन्तु फिर भी जब अयुक्तिक विचार उसके समक्ष आते हैं, तो वह हतप्रभ हो जाता है और उन्हें तुरन्त स्वीकार नहीं कर

1—Isracs : 'An Assessment of Twentieth Century Literature' Page 65
2—Soren Kierkegaard.
3—John Drinkwater : 'The Outline of Literature.' Page 804
4—Surrealists.
5—'Irrational self'.
6—Allardyce Nicoll : 'World Drama.' Page 774

(शेष पृष्ठ ६६ पर)

पंडितराज जगन्नाथ की काव्य-सिद्धान्त को देन

प्रेमस्वरूप गुप्त एम० ए०, आचार्य

पंडितराज जगन्नाथ संस्कृत साहित्य-शास्त्र के अन्तिम, प्रतिभाशाली आचार्य थे। उनका समय १७ वीं शती का मध्य है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र उनसे लगभग ६ शतक पूर्व ही परिनिष्ठित रूप प्राप्त कर चुका था। आनन्द-वर्धन, अभिनव गुप्त जैसी प्रतिभायें सिद्धान्त निर्माण का कार्य समाप्त कर चुकी थीं। ११ वीं शताब्दी तक मम्मट के हाथों काव्यप्रकाश के रूप में एक व्यवस्थित काव्यशास्त्र निष्पन्न हो चुका था। मम्मट से जगन्नाथ तक सुदीर्घ ६०० वर्ष के काल में एक कुन्तल की ही उल्लेख-नीय प्रतिभा सामने आई। किंतु ध्वनिवादी मान्यतायें इतनी जड़ पकड़ चुकी थीं कि कुन्तल का विशेष रंग न जम सका। पण्डितराज जगन्नाथ भी एक ध्वनिवादी आचार्य हैं, अतः उनके काव्य सिद्धान्त ध्वनिवाद के ही सिद्धान्त हैं। नूतन पथ निर्माण की दृष्टि से पण्डितराज पण्डितराज नहीं हैं। उनकी मौलिकता का स्वरूप एवं महत्व भिन्न प्रकार का है।

भरत, आनन्दवर्धन, अभिनव, मम्मट आदि का अनुवर्तन करते हुये भी, प्रत्येक काव्याङ्ग पर एक अनूठे तर्क पूर्ण गम्भीर विवेचन द्वारा, उसमें एक नई चमक ला देना ही जगन्नाथ की मौलिकता है। वे उपर्युक्त आचार्यों की एक-एक मान्यता को उठाते हैं, तर्क की कसौटी पर कसते हैं, तब अपनाते हैं। जहाँ बात बुद्धि सङ्गत नहीं प्रतीत होती, वे उसका बड़ा ही शिष्ट तिरस्कार कर देते हैं। अप्पय्य को छोड़ उन्होंने किसी आचार्य के लिये अपमान की भावना नहीं रखी। गम्भीर समालोचना के लिये पद्य का सहारा छोड़ एक प्रौढ़ गद्य को अपनाकर उन्होंने एक नई दिशा अपनाई थी। अपने उदाहरणों के लिये उन्होंने स्वनिर्मित पद्य लिये, जिनमें उनका मनस्वी आचार्य एवं प्रौढ़ कवि दोनों ही मुखर हैं।

रस गंगाधर एक 'आकर' ग्रन्थ है। उसमें विवेचित सभी दृष्टिकोणों को संक्षेप में भी यहां प्रस्तुत करना सम्भव नहीं। हम कुछ विषय लेकर ही तत्सम्बन्धी मौलिक दृष्टिकोणों का परिचय एवं उनके आधार पर पण्डितराज का आनुमानिक मूल्याङ्कन भर कर सकते हैं।

काव्य की परिभाषा

'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्! रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनक ज्ञान गोचरता। लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभव साक्षिको जाति-विशेषः।

रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है।

काव्य हमें एक चमत्कारी आह्लाद देता है। आह्लाद हमें सांसारिक विषयों से भी मिलता है किन्तु वैषयिक आनन्द एवं काव्यानन्द में महान् अन्तर होता है। काव्यानन्द में एक विशेष 'चमत्कार' होता है। (यह चमत्कार वह नहीं, जिससे प्रायः आचार्य शुक्ल चिढ़ा करते थे, इसका सम्बन्ध काव्यानन्द के अनुभूति-पक्ष से है।) इसी चमत्कार के कारण काव्यानन्द लोकोत्तर है। काव्यार्थ की रमणीयता का ज्ञान ही इस अलौकिक आनंद की सृष्टि करता है।

आह्लाद के लिये सौन्दर्यज्ञान अपेक्षित है। हम किसी रमणीय दृश्य को देखकर मुग्ध होते हैं इसका यही अर्थ है कि हमारी नेत्रेन्द्रिय उस दृश्य के सौन्दर्य का ज्ञान करती है। उस ज्ञान से हमारी चित्तवृत्ति प्रभावित होती है। अनुभूति तथा विषय के बीच विषय-ज्ञान को डालना ही पड़ेगा; विषय चाहे लौकिक रूप में इन्द्रियों के द्वारा चित्तवृत्ति तक पहुँचे, चाहे काव्य शब्दों से कल्पना द्वारा।

रमणीयता या सौन्दर्य रमणीय वस्तु का धर्म है।

आह्लादानुभूति के लिये इसका ज्ञानगोचर होना इसके वैषयिक (Objective) तथा व्यक्तिपक्ष (Subjective) दोनों पक्षों को लिये हुये है। रमणीय काव्यार्थ का धर्म होना रमणीयता का विषय पक्ष है; आह्लाद की सृष्टि के लिये प्रमाता के ज्ञान में आना उसका व्यक्तिपक्ष। इस प्रकार पण्डितराज की मान्यता का सारांश यह है कि अर्थ सौन्दर्य हमें चमत्कारी आनन्द देता है, उस आनन्द का समर्पक मूल तत्व है सुन्दर अर्थ। यही काव्य की आत्मा है। इसी सुन्दर या रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है। मनुष्य न केवल आत्मा है, न केवल शरीर। आत्मा का अधिष्ठानभूत--आत्माधिष्ठित--शरीर ही मनुष्य है। न केवल रमणीय अर्थ ही काव्य है, न छूंछा शब्द ही। रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है।

हम देखते हैं कि इस काव्य परिभाषा में सौन्दर्य शास्त्र एवं मनोविज्ञान का पूर्ण मनोयोग है।

पण्डितराज को मम्मट का काव्य लक्षण उथला होने के कारण तथा विश्वनाथ का संकुचित होने के कारण मान्य नहीं हैं।

काव्य के भेद—

ध्वनिवाद काव्य के तीन भेद मानता है :—

(१) उत्तम—जब व्यंग्यार्थ की रमणीयता शब्द एवं अन्य अर्थों की रमणीयता से अनभिभूत होकर, प्रधान रूप में होती है। यह ध्वनि काव्य है।[1]

(२) मध्यम—जब व्यंग्यार्थ अन्य (शब्द, अर्थ) के सौन्दर्य से अभिभूत तो हो जाता है फिर भी चमत्कार का मुख्य आधार बना रहता है।

(३) अधम—जब व्यंग्यार्थ शब्दअर्थ (शब्दालंकार, अर्थालङ्कार) के चमत्कार भार से दब कर नगण्य हो जाता है।

पण्डितराज को यह वर्गीकरण मान्य है। किन्तु कुछ हेर-फेर के साथ। वे इस वर्गीकरण में दो परिवर्तन उपस्थित करना चाहते हैं :—

(१) अर्थालङ्कारों तथा शब्दालङ्कारों को एक ही कोटि में रखना सर्वथा अनुचित है। अर्थालङ्कार काव्यात्मा के अधिक समीप होते हैं। अत: उनके दो अलग वर्ग चाहिये।

(२) इस उपर्युक्त वर्गीकरण का आधार है व्यंग्यार्थ की स्थिति। सभी अर्थालङ्कारों में व्यंग्य की एक सी स्थिति नहीं है। पर्यायोक्ति, समासोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा जैसे अलंकारों में व्यंग्य उपमा, उत्प्रेक्षा अनन्वय जैसे अलंकारों से निस्सन्देह अधिक उभरा होता है। अत: पर्यायोक्ति जैसे अलंकार गुणीभूत व्यंग्य वाले दूसरे भेद में रखने चाहिये। शेष अलंकार तीसरे में। इस प्रकार वे काव्य के चार भेद मानते हैं:—

(१) उत्तमोत्तम—या ध्वनि जहाँ व्यंग्य सर्वत: प्रधान होता है।

(२) उत्तम—गुणीभूत व्यंग्य

(३) मध्यम—वे अर्थालङ्कार जहाँ वाच्यार्थ व्यंग्य से प्रधान है।

(४) अधम—जहाँ शब्द चमत्कार से व्यंग्य बहुत ही दबा हुआ हो।

निस्सन्देह यह वर्गीकरण प्राचीन आचार्यों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है। पंडितराज शब्दों की कोरी खनखनाहट को जहाँ, व्यंग्य का दूर का भी स्पर्श नहीं, काव्य कोटि में नहीं रखते।

ध्वनि के भेद और रस

व्यंग्यार्थ तक अभिधा तथा लक्षणा दोनों मार्गों से पहुँचा जा सकता है। अत: व्यंग्य दो प्रकार का होता है, अभिधामूलक तथा लक्षणामूलक। प्रथम में अर्थ सौन्दर्य पर ध्यान है तो द्वितीय में अभिव्यंजना पद्धति पर।

अभिधामूलक ध्वनि तीन प्रकार की होती है, रस, वस्तु, अलंकार। आधुनिक पदावली में हम कह सकते हैं कि इनमें भावात्मक, बौद्धिक एवं कल्पनामूलक त्रिविध अर्थ सौन्दर्य समा जाता है, जोकि भावात्मक,

---

१—यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।
ध्वन्यालोक।

बौद्धिक एवं काल्पनिक त्रिविध आनन्द की सृष्टि करता है। मूलत: आनन्द आत्मा का धर्म होने के कारण चाहे एक ही हो, किन्तु उसके अनुभूयमान स्वरूप में एवं उसकी अनुभूति प्रक्रिया में भेद स्वीकार करना ही पड़ेगा। लक्षण मूलक ध्वनि भी क्रमश: उपादान लक्षण एवं लक्षण-लक्षण (लक्षणा के दो आधारभूत भेदों) के आधार पर दो प्रकार की होती है अर्थान्तर संक्रमित वाच्य, अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य। दोनों में ही हम व्यंग्यार्थ तक लक्षण के माध्यम से पहुँचते हैं।

अत: ध्वनि के ये मुख्य ५ भेद हैं (१) रसध्वनि, (२) वस्तु ध्वनि (३) अलंकार ध्वनि (४) अर्थान्तर संक्रमित वाच्य (५) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य। रस ध्वनि इनमें से केवल एक भेद है जिसमें रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भाव सन्धि, भाव शान्ति, भाव शबलता—तात्पर्य यह कि समस्त व्यंजित भाव सौन्दर्य आ जाता है। रस (व्यंजित स्थायी भाव) इन समस्त ध्वनियों में से एक है जो सर्वत: हृदयस्पर्शी होने के कारण ध्वनियों में प्राणभूत है। ध्वनि सिद्धान्त रस को सर्वोत्कृष्ट मानते हुये भी उसके लिये कोई अलग स्थान निर्धारित नहीं करता। भावात्मक सौन्दर्य से कल्पनात्मक सौन्दर्य एवं बौद्धिक सौन्दर्य को हीन स्थान नहीं देता।

रस

समस्त ध्वनियों में सुन्दरतम है रस। रस विषय में पंडितराज को प्राय: अभिनव गुप्त की मान्यतायें स्वीकृत हैं। अभिनव के अनुसार व्यंजित रति आदि स्थायी भाव रस हैं। काव्य की साधारणीकृत सामग्री आत्म चैतन्य के अन्य आवरणों को हटा देती है। विभावादि के प्रतीति काल तक ही सही, चैतन्य भग्नावरण हो जाता है। उस स्वयं प्रकाशमान चैतन्य के प्रकाश से प्रकाशित रति आदि स्थायी भाव रस है। रति आदि का इसी रूप में प्रकाशित होना व्यंजित होता है। अभिनव की समस्त प्रक्रिया पंडितराज को स्वीकृत हुई किन्तु उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि उन्हें दुर्बल दीख पड़ी। रस तो चैतन्य का स्वरूप है। श्रुति का प्रमाण है 'रसो वै स:'। तब भग्नावरण चैतन्य से प्रकाशित या विशिष्ट रति आदि कैसे रस कहे जा सकते हैं। अत: इस बात को यों कहना चाहिये कि अन्य आवरणों से रहित चैतन्य, केवल रति आदि के आवरणों को स्वीकार करता हुआ, साहित्यिक रस है। दार्शनिक रस है शुद्ध निरुपाधिक चैतन्य। काव्यरस है स्थायी भावों की उपाधि से उपहित-सोपाधिक चैतन्य। अभिनवगुप्त तान्त्रिक मान्यताओं से प्रभावित होने के कारण रस को पूर्ण दार्शनिक पृष्ठभूमि नहीं दे सके थे। पंडितराज ने वेदान्त की दृष्टि से रस की व्याख्या करके उस कमी को दूर किया।

पंडितराज के रस भाव विवेचन में ऐसी ही अनेक सूक्ष्मताओं के संकेत मिलते हैं। इन सूक्ष्म विवेचनों में ही उनकी मौलिकता है, जो प्राचीन मान्यताओं को अक्षत रखते हुये भी नई दृष्टि देती हैं। उदाहरण रूप में हम यहाँ उनके कुछ संकेत उपस्थित करते हैं:—

(१) काव्यार्थ अनेक प्रकार का होता है। अत: सभी अर्थों की अनुभूति तथा अनुभूति की प्रक्रिया समान नहीं हो सकती। रस निष्पत्ति के ढंग पर ही समस्त अनुभूतियाँ नहीं चल सकती।

(२) रस अनेक काव्यार्थों में से एक है। साधारणीकरण और रस का अनिवार्य सम्बन्ध है। साधारणीकरण के अभाव में रसानुभूति नहीं होती अन्य प्रकार की भावानुभूति ही हो सकती है।

(३) एक भाव किसी अन्य भाव का संचारी ही नहीं आलम्बन विभाव एवं अनुभाव के रूप में भी आ सकता है। भावों के विषय में ऐसी ही व्यापक दृष्टि हिन्दी में केशव में भी पाई जाती है।

(४) अन्य आचार्य रस को असंलक्ष्य क्रम कहते हैं। अर्थात् विभावादि की उपस्थिति एवं भावोद्बोध की प्रक्रिया इतनी तीव्रगति से होती है कि उनका क्रम संलक्षित नहीं होता। पंडितराज की मान्यता है कि रसानुभूति असंलक्ष्य-क्रम एक में ही नहीं, संलक्ष्य क्रम रूप में भी होती है।

(५) साधारणीकरण के लिये औचित्य एक अनि-

वार्य तत्व है। औचित्य देशकाल सापेक्ष होता है। उसमें समाज का पूरा हाथ होता है। अत: औचित्य के मान दण्ड बदल सकते हैं।

(६) गुण रस के नित्य धर्म नहीं, जैसा कि मम्मट आदि मानते हैं। चित्त की तीन दशायें होती हैं–अद्रवत्व दीप्ति, विकास। इनकी प्रयोजक सामग्री क्रमश: मधुर, ओजस्वी एवं प्रसादपूर्ण कही जायगी। यह सामग्री रस ही क्यों—शब्द, अर्थ, रस, रचना सभी हो सकते हैं। अत: 'मधुर शब्द' और 'मधुर रचना' जैसे प्रयोग भी उतने ही ठीक हैं जितना कि 'मधुर रस' का प्रयोग। इनमें औपचारिकता नहीं जैसा कि मम्मटादि मानते हैं।

गुण दो रूप में समझा जा सकता है। एक—चित्त की द्रवत्व आदि अवस्थाओं के प्रयोजक धर्म के रूप में। दूसरे—किसी प्रयोजक सामग्री से होने वाली चित्त की द्रवत्व आदि दशाओं के रूप में।

इस प्रकार के अनेक मौलिक संकेत पंडितराज के विवेचन में भरे पड़े हैं। उन्होंने प्रत्येक प्राचीन मान्यता को नये आलोक में परखा है। पाश्चात्य साहित्य एवं साहित्य शास्त्र के सम्पर्क में आकर हमारी आधुनिक आलोचना का रूप बहुत परिवर्तित हो गया है। प्राचीन सिद्धान्तों एवं नवीन मान दण्डों के बीच एक चौड़ी खाई प्रतीत होती है। किन्तु पंडितराज में एक गजब की आधुनिकता दिखाई पड़ती है। वे उस खाई को पाटते दिखाई पड़ते हैं।

—:—:—
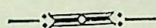
(पृष्ठ ६५ का शेषांश)

पाता। इसी कारण मानव जीवन में सदैव व्यंग्य एवं असद्धास निहित रहता है।[1]

प्रसिद्ध फ्रैंच नाटककार जीन पॉल सार्त्र[2] इस साहित्यिक विचारधारा का प्रवर्तक हैं। उसका सिद्धान्त है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में निर्णय करने पड़ते हैं। निर्णय के परिणाम-स्वरूप एक नई स्थिति का निर्माण होता है एवं निर्णय के परिणाम स्वरूप एक नया व्यक्ति उस नयी स्थिति का सामना करता है। यह स्वतन्त्रता ही मानव के अस्तित्व का परम नैतिक तत्त्व है। अपने साहित्य में उसने चित्रित किया है कि मानव समाज में प्राणी जीवन के महान अवसरों पर भी असम्बद्ध एवं अयुक्तियुक्त निर्णय करते हैं, फिर भी वे जीवित रहते हैं। वे बार बार ऐसे ही निर्णय करते रहते हैं, फिर भी उनका अस्तित्व शेष रहता है।

अस्तित्ववाद ने सौन्दर्य की परिभाषा ही बदल दी है। ऐनुइल्ह और कैमस[1] प्रभृति लेखकों ने मानव की विडम्बना, विषमता और वेदना को कलात्मक रूप देकर रिचर्ड्स के इस सिद्धान्त की पुष्टि की है कि सौन्दर्य्यानुभूति को जीवन की अन्य अनुभूतियों से अलग नहीं किया जा सकता। उन्होंने यह भी सिद्ध किया है कि सौन्दर्य्यानुभूति, सत्य के समान प्रातीतिक है, वस्तु-जगत की सुन्दरता एवं असुन्दरता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं।

आज का युग महान संकटों का युग है। आधुनिक दार्शनिकों, तत्त्व विवेवकों एवं साहित्यकारों के मस्तिष्क में उलझन है। वे युद्ध की सम्भावनाओं से भयभीत हैं, एवं मानव-सभ्यता के अस्तित्व तथा भविष्य की चिन्ता में ग्रस्त हैं। ऐसी स्थिति में साहित्यालोचन की क्या दशा होगी, सौन्दर्य शास्त्र का कोई सिद्धान्त टिक सकेगा या नहीं, अथवा सौन्दर्य्यानुभूति की नवीन धारायें क्या होंगी, यह अभी, बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के प्रारम्भ में, कह सकना सम्भव नहीं।

1—Allardyce Micoll : World Drama, Page 906

2—Jean Paul Sartre.

1—Anouilh और Camus.
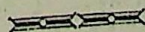
सौन्दर्य और रस

डा० द्वारिकाप्रसाद एम० ए०, पी-एच० डी०

यह सम्पूर्ण विश्व अनन्त सौन्दर्य का भडार है। उस सौन्दर्य-सृष्टा ने विश्व में ऐसे दिव्य सौन्दर्य की सृष्टि की है, जिसका आभास मानव को वन, पर्वत, नदी, निर्झर, पशु, पक्षी आदि में आदिकाल से ही मिलता चला आ रहा है। इसी कारण वह कभी उषा की राग-रंजित छवि में अनुरक्त हुआ है, तो कभी संध्या की स्वर्णिम छटा में आत्मविभोर हो उठा है। कभी वह शरद् के सुस्मित हास में मग्न हुआ है, तो कभी वसन्त-श्री की सौम्य सुषमा में अपनी सुध-बुध गंवा बैठा है। इसी तरह मानव ने नाना प्रकार के रंग-विरंगे पुष्पों, चित्र-विचित्र पशु-पक्षियों आदि में सौन्दर्य के दर्शन किए हैं। इस प्राकृतिक सौन्दर्य की भाँति ही मानव ने सुगठित, सुडौल एवं सहज आकर्षणपूर्ण मानव-आकृति, मानव-निर्मित सुरम्य चित्र एवं मूर्तियों में भी सौन्दर्य को देखा है और इस सौन्दर्य में अनुरक्त होकर कभी-कभी वह अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए भी तैयार हो गया है। किन्तु यह सौन्दर्य क्या है, इस प्रश्न पर विद्वानों ने बहुत विचार किया है और बड़े सुन्दर निष्कर्ष भी निकाले हैं, फिर भी यह प्रश्न अभी तक जटिल बना हुआ है।

यह तो निर्विवाद सत्य है कि सौन्दर्य में आकर्षण होता है। क्योंकि सभी प्राणी सौन्दर्य को देखकर आकृष्ट होते हैं; इस आकर्षण के कारण ही भ्रमर सुन्दर एवं सुगन्धित पुष्पों पर मंडराया करते हैं, तितलियाँ रंग-बिरंगे सुमनों पर क्रीड़ा किया करती हैं, कोयल वसन्त की दिव्य छटा देखकर मधुर वाणी में कूकने लगती है, पशु हरिततृणसंकुलित भूमि को देखकर आनन्द-विभोर हो उठते हैं और मानव-समुदाय सौम्य, सुडौल एवं सुरुचिपूर्ण आकृति, अनुपम आनन्द-विधायक कला-कृतियों तथा अन्य सौन्दर्यमयी वस्तुओं को देखकर उनकी ओर आकृष्ट होता है तथा उन्हें अपनाने के लिए लालायित हो उठता है। किन्तु सौन्दर्य में व्यापक आकर्षण होते हुए भी जिस तरह सभी देशों में सौन्दर्यमयी वस्तुएँ एक-सी नहीं होतीं, वैसे ही सभी देशों के व्यक्तियों में सौन्दर्य दर्शन की भावना में भी एकरूपता नहीं मिलती। जैसे पाश्चात्य देशों में लिली (Lily) पुष्प अधिक रमणीय माना जाता है, जबकि भारत में कमल को अधिक सुन्दर मानते हैं। पाश्चात्य देशों में नारी के स्वर्णिम केशों में अद्भुत सौन्दर्य दिखाई देता है, जबकि भारत में सहज श्याम एवं सुचिक्कण केशो में ही अनुपम सौन्दर्य की झाँकी मिलती है। अतः सौन्दर्य में सार्वदेशिक आकर्षण होते हुए भी रुचि-भेद रहता है। इसी कारण जो पदार्थ एक व्यक्ति को सुन्दर नहीं लगता, वह दूसरे को सुन्दर प्रतीत होता है। इतना ही नहीं, कोई सौन्दर्य का चाक्षुप प्रत्यक्ष होते ही अपना सर्वस्व गंवा बैठता है, तो कोई उसे देखकर किंचित् स्पन्दन का ही अनुभव करके शान्त हो जाता है। इसी रुचि-भेद को देखकर महाकवि बिहारी ने ठीक ही लिखा है—

> समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोय।
> जाकी रुचि जेती जितै, तित तेतौ सुन्दर होय॥

परन्तु यह रुचि हमारी परम्परागत संस्कृति की देन है, क्योंकि हमारे आचार-विचार एवं हमारी इच्छा का निर्माण हमारी सांस्कृतिक परम्परा द्वारा होता है। महाकवि जयशंकर प्रसाद ने भी लिखा है कि "सौन्दर्यानुभूति में जो मात्रा-भेद पाया जाता है, उसका मूल कारण हमारी संस्कृति है, क्योंकि संस्कृति ही हमारे सजातीय विचारों, रहन-सहन एवं मनोभावों को विकासोन्मुख बनाती है।"[१] इसी परम्परागत संस्कृति के कारण हमारे विचारों, भावों, मान्यताओं आदि में रुचि-

१ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—पृ० २७–२८

भेद उत्पन्न होता है, अन्यथा सौन्दर्य-बोध एवं सौन्दर्यानुभूति विश्व-व्यापी वस्तुएं हैं। सभी प्राणी सौन्दर्य की ओर आकृष्ट होते हैं और सभी के हृदय में सौन्दर्य अपना घर बना लेता है।

सौन्दर्य के विषय में सर्वाधिक चर्चा पाश्चात्य देशों में मिलती है। वहाँ पर सौन्दर्य दर्शन का एक अनिवार्य अङ्ग बन गया है और अनेकानेक विद्वानों ने अपने-अपने मतों द्वारा सौन्दर्य का स्पष्टीकरण किया है। उन विद्वानों में प्रमुख रूप से दो विचारधाराएं मिलती हैं। कुछ तो ऐसे विद्वान् हैं, जो सौन्दर्य को वस्तुगत या भौतिक (Objective) मानते हैं और बतलाते हैं कि सौन्दर्य किसी एक सुन्दर, सुगठित पदार्थ में ही विद्यमान रहता है, वह सबको समान रूप से प्रभावित करता है और वह भौतिक जगत् से परे किसी आध्यात्मिक जगत् की वस्तु नहीं है। दूसरे वे हैं जो सौन्दर्य को व्यक्तिगत या आध्यात्मिक (Subjective) मानते हैं तथा उसे भौतिक एवं पदार्थगत न मानकर पूर्णतया मानसिक एवं आध्यात्मिक जगत् की वस्तु सिद्ध करते हैं।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत सुकरात, अरस्तू, होगार्थ, लिबनिज, ह्यूम, लैसिंग, बर्क, हरबर्ट स्पेंसर, रूसी दार्शनिक कैनोविच आदि आते हैं, जिनमें से सुकरात का कथन है कि "जो सर्वथा अनुरूप हो, अभीष्ट परिणाम का उत्तर दे सके तथा जो प्रिय लगे वही सुन्दर होता है।"[1] अरस्तू ने सौन्दर्य की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "वह शिवत्व ही सुन्दर होता है, जो सुखदायक हो, क्योंकि वह मंगलमय होता है।"[1] ह्यूम ने लिखा है कि—अङ्गों की एक ऐसी क्रमिक एवं सुगठित रचना को सौंदर्य कहते हैं, जो हमारे परम्परागत स्वभाव, रीति-रिवाज या मनोभाव के द्वारा हमारी आत्मा को आनन्द एवं सन्तोष प्रदान करती है।" रूसी दार्शनिक कैनोविच का विचार है कि "सौन्दर्य प्रकृति की व्यापक भावना है, जिसकी प्रेरणा से (will to beauty) इसका उद्गम और विकास हुआ है। हमारे आकाश और इसके पिंडों का निर्माण, वनस्पति और जीव-जगत, यहाँ तक कि समाज में भी विकास द्वारा प्रकृति ने अधिकाधिक सौन्दर्य को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है।"[2] इसी तरह लिबनिज़ का मत है कि "सामंजस्य या सुडौलपन (harmony) की अभिव्यंजना को ही सौन्दर्य कहते हैं, यद्यपि उसमें प्रत्यक्षरूप से कुछ विरोधी बातों के समावेश की योग्यता रहती है।"[3] इस तरह इस वर्ग के विद्वानों ने सौन्दर्य को बाह्य पदार्थों में देखा है और अपने विचारों के अनुकूल ही सौन्दर्य-विधान के लिए बाह्य बातों को प्रधानता दी है। जैसे

1—Xenophone records the saying of Socrates that the beautiful is that which is fitting and answers to the end required. Elsewhere he says, it is that which is loved."

—Theory of Aesthetic, Historical Summery–p. 255

1—The beautiful is that good which is pleasent, because it is good.

—History of Aesthetic by B. Bosanquet, p. 63

2—Beauty is such an order and constitution of parts, as either by the primary constitution of our nature, by custom or by caprice, is fitted to give a pleasure and satisfaction to the soul.

—History of Aesthetic by Bosanquet–P–178

3—What is beautiful to feeling is ultimately an expression of harmony, though capable of including apparent contradiction.

—History of Aesthetic–p. 177

अरस्तू का मत है कि क्रम (Order), सममात्रा (Symmetry) तथा निश्चित विधान (Definite limitation) ही सौन्दर्य-विधान के लिए आवश्यक होते हैं।[१] लैसिंग का कहना है कि सामंजस्य या सुडौलपन (Harmony), क्रम (Order), विभिन्नता (Variety), अनुपात (Proportion) आदि सौंदर्य-निर्माण के आवश्यक अङ्ग हैं। ऐसे ही बर्क का विचार है कि आकार-सूक्ष्मता (Smallness of size), मसृणता (Smoothness), क्रमिक विकार (Gradual variation) कोमलता (Delicacy) वर्ण-दीप्ति (Brightness of colours) तथा शुद्धता (Purity) द्वारा सौंदर्य का विधान किया जाता है।[3] अत: इस वर्ग के विद्वानों ने सौंदर्य को वस्तु मानकर उसके निर्माण के लिए बाह्य आकार-प्रकार को अधिक महत्व दिया है।

दूसरे वर्ग में वे विद्वान् आते हैं, जो सौंदर्य को व्यक्तिगत या विषयीगत मानते हैं और सौदर्य का संबंध भौतिक जगत् की अपेक्षा मानसिक या आध्यात्मिक जगत् से स्थापित करते हैं। इस वर्ग के विद्वानों में से प्लेटो, प्लोटीनस, शैफ्टसबरी, बामगार्टन, आस्कर वाइल्ड, शैलिंग, कांट, हैगेल, क्रोचे, शॉपेन हॉवर, रस्किन, शैली, कोट्स आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें से प्लेटो का मत है कि सौंदर्य में सत्य, शिव तथा दैवीगुण विद्यमान रहते हैं।[४] शैफ्टसबरी का कथन है कि "विश्व के दैवी जीवन की अभिव्यजना को सौंदर्य कहते हैं।[१] शैलिंग का कहना है कि "अनन्त का सान्त में दर्शन ही सौंदर्य है।[२] कांट का विचार है कि 'वही वस्तु सुन्दर है, जो बिना किसी उपयोगिता के प्रसन्न करे।[3] हीगेल ने प्रत्यय (Idea) के भावात्मक प्रदर्शन को सौंदर्य कहा है[४] और क्रोचे ने सफल अभिव्यंजना को सौंदर्य माना है।[५] इस प्रकार दूसरे वर्ग के विद्वान् सौंदर्य को आध्यात्मिक और मानसिक जगत् की वस्तु मानते हुए उसे विषयीगत मानना ही समीचीन समझते हैं।

भारतीय विद्वानों में सौंदर्य के बारे में अधिक चर्चा तो नहीं मिलती, फिर भी यत्र-तत्र कुछ स्फुट विचार मिल जाते हैं। जैसे महाकवि कालिदास ने शकुन्तला के सौंदर्य का वर्णन करते हुए लिखा है कि "यह कोमलांगी इस वल्कल वस्त्र में भी अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होती है, क्योंकि मनोहर आकृति वालों के लिए कौनसी वस्तु शोभा विधायक नहीं होती ?"[६] इससे सिद्ध है कि सौंदर्य प्राकृतिक होता है और उसके लिए बाह्य

1—History of Aesthetic—p. 33

2–Theory of Aesthetic-Historical Summary p. 290

3—साहित्य और सौन्दर्य—डा० फतेहसिंह, पृ० १०४

4–He appears almost to confound the beautiful with the true, the good and the divine.

Theory of Aesthetic—Historical Summery–p. 255

1····Beauty to be an expression of the divine life of the world.

—History of Aesthetic–p. 177

2—Now the infinite represented in finite form is beauty."

—History of Aesthetic–p. 319

3–That is beautiful which pleases without interest.

Theory of Aesthetic—Historical Summery–p. 295

4–Theory of Aesthetic—Historical Summery–p. 306

5—वही पृ० १२६

6—इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी,
किमिव हि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम् ॥
—अभिज्ञान शाकुन्तलम् १।२०

अलंकरणों की आवश्यकता नहीं होती। कुमार-सम्भव में आपने लिखा है कि "सौंदर्य पाप-वृत्ति की ओर नहीं ले जाता।"[१] अतः आपके विचार से सौंदर्य सुडौल और सुगठित आकृति में होता है और वह सात्विक एवं दैवी गुणों से युक्त होता है। महाकवि माघ ने लिखा है कि "जो क्षण-क्षण में नवीनता धारण करे वही सौंदर्य है।"[२] इस कथन से भी यही ज्ञात होता है कि सौंदर्य वस्तुगत होता है। अतः उक्त दोनों विद्वान् वस्तुवादी या भौतिकवादी वर्ग में आते हैं। परन्तु महाकवि बिहारी ने मानव की रुचि को प्रधानता दी है और वस्तुगत सौंदर्य का निराकरण करते हुए लिखा है कि "कोई भी वस्तु सुन्दर या असुन्दर नहीं होती। समय-समय पर सभी वस्तुएं सुन्दर होती हैं। किन्तु जिस वस्तु में जिसकी जितनी रुचि होती है, वह उसे उतनी ही सुन्दर जान पड़ती है।"[३] इसके अतिरिक्त प्रसादजी ने भी सौंदर्य की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "चेतना के उज्ज्वल वरदान को सौंदर्य कहते हैं।"[४] अतः सौंदर्य का सम्बन्ध चेतना (Consciousness) से है और वह आध्यात्मिक जगत की वस्तु ठहरता है। इस तरह महाकवि बिहारी तथा प्रसाद दूसरे व्यक्तिवादी या अध्यात्मवादी वर्ग में आते हैं।

उक्त दोनों प्रकार की सौंदर्य सम्बन्धी विचार-धाराओं का अध्ययन करने पर यही ज्ञात होता है कि सौंदर्य उभयपक्षी होता है और इसका सम्बन्ध वस्तु

१—यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्य व्यभिचारि तद्वचः ॥
—कुमारसंभव ५।३६

२—क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ॥
—शिशुपालबध ४।१७

३—बिहारी-रत्नाकर-दोहा ४३२

४—उज्ज्वल वरदान चेतना का सौंदर्य जिसे सब कहते हैं।—
—कामायनी, लज्जासर्ग पृ० १२०

और व्यक्ति दोनों से है। क्योंकि एक ओर तो ऐसे रमणीय पदार्थ का होना अत्यावश्यक है, जो सामान्य रूप से सभी को आकर्षित करे और दूसरी ओर सौंदर्य के द्रष्टा की भी आवश्यकता होती है। संसार के किसी भी सौंदर्य पूर्ण पदार्थ में उस समय तक सौंदर्य का कोई मूल्य नहीं जब तक उसका द्रष्टा न हो। उदाहरण के लिए जंगल में खिला हुआ कमल या गुलाब किसी से न देखे जाने के कारण किसी के हृदय में सौंदर्यानुभूति उत्पन्न नहीं करता, जबकि एक असुन्दर पदार्थ द्रष्टा की रुचि के अनुकूल होने के कारण उसे आनन्दविभोर कर देता है। महाकवि बिहारी ने संभवतः इसी कारण सौंदर्य के उभय पक्ष का समर्थन करते हुए लिखा है:—

"रूप रिझावनहारु वह, ये नैना रिझवार"[१]

अर्थात् सौंदर्य रिझाने वाला होता है और नेत्र उस सौंदर्य पर रीझने वाले होते हैं। अतएव बिना दोनों का संयोग हुए सौंदर्य की सार्थकता सिद्ध नहीं होती। कवीन्द्र रवीन्द्र ने भी लिखा है कि "मनुष्य के मुख में केवल आकृति की सुन्दरता ही नहीं होती, उसमें चेतनता की दीप्ति, बुद्धि की स्फूर्ति और हृदय का लावण्य भी होता है।"[२] बहुधा यह देखा भी जाता है कि मानव को वे ही भौतिक वस्तुएं अपनी ओर अधिक आकृष्ट करती हैं, जिनमें सुडौलपन, दिव्यता, सौम्यता, अंगों की विकार-हीनता के साथ साथ हमारी रुचि की अनुकूलता अथवा हमारे भावों की प्रतिच्छाया विद्यमान रहती है। अतः सौंदर्य उभयपक्षी होता है और वे ही असाधारण कला-कृतियां सौंदर्यमयी मानी जाती हैं, जिनमें भौतिक एवं वस्तुगत सौंदर्य के साथ-साथ आध्यात्मिक एवं व्यक्तिगत सौंदर्य का भी एक स्थान पर ही समावेश होता है।

सौंदर्य का विवेचन करने के उपरान्त अब देखना यह है कि सौंदर्य और रस का क्या सम्बन्ध है। क्या जो सौंदर्यानुभूति है वही रसानुभूति कहलाती है अथवा दोनों में कुछ अन्तर है? ऊपर के विवेचन से यह तो

१—बिहारी-रत्नाकर-दोहा ६८२

२—साहित्य-पृ० ४४

निर्विवाद सत्य है कि पाश्चात्य देशों में सौंदर्य के बारे में अत्यधिक विचार हुआ है। परन्तु जिस तरह पाश्चात्य सौंदर्य-शास्त्रियों ने सौंदर्य का वर्णन करके उससे उत्पन्न होने वाली आनन्दानुभूति का वर्णन किया है, उसी तरह भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने रस का विवेचन करके तज्जन्य आनन्दानुभूति का उल्लेख किया है। क्रोचे ने सौंदर्य-जन्य आनन्द को दो भागों में विभक्त किया है—शुद्ध आनन्द और मिश्रित आनन्द। काव्य, चित्र आदि से शुद्ध आनन्द की प्राप्ति होती है और नाटकों से मिश्रित आनन्द मिलता है।[१] इससे सिद्ध है कि सौंदर्य का आनन्द और कला का आनन्द एक ही बात है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी लिखा है कि "चतुर शिल्पी जिस पाषाण खण्ड को अपने कौशल से छू देता है, वही सौंदर्य का प्रतीक बन जाता है और उसी में से रस का अक्षय स्रोत फूट निकलता है।"[२] इस तरह सौंदर्यजन्य आनन्दानुभूति तथा रस-जन्य आनन्दानुभूति में समानता दिखाई देती है। परन्तु सौंदर्य और रस की एक सी प्रकृति होने पर भी उनमें थोड़ा सा अन्तर है क्योंकि रस अपनी विभाव, अनुभाव, संचारीभाव आदि सामग्री पर आधारित है, जिनमें से विभाव पक्ष प्रमुख है। रस नौ माने गये हैं और उनमें से शृंगार को रसराज कहकर मुख्यता प्रदान की गई है, किन्तु अन्य रस भी अपना अपना महत्व रखते हैं और सभी से आनन्द की अनुभूति होती है। शृंगार रस का वर्णन करने वाले काव्यों में या शृंगार के आलम्बनों में प्रायः माधुर्यगुण की प्रधानता रहती है और भारतीय दृष्टि से माधुर्य ही सौंदर्य का परिचायक कहा जा सकता है। माधुर्य की परिभाषा करते हुए लिखा भी है, "जो गुण चित्त को द्रवीभूत करके आह्लादमय बनाता है, उसे माधुर्य कहते हैं।"[३] सौंदर्य में भी चित्त को द्रवीभूत करने या अपनी ओर आकृष्ट करके उसे आह्लादमय बनाने

१—Theory of Aesthetic, p. 131
२—कला और संस्कृति, पृ० २१९
३—साहित्यदर्पण, पृ० ५३५

का गुण रहता है। साथ ही शृंगार रस के स्थायी भाव रति में भी मन को उसके अनुकूल अर्थ में द्रवीभूत या प्रेमार्द्र होना बतलाया गया है।[१] इस तरह मन की अनुकूलता या चित्त के द्रवीभूत होने का जो लक्षण 'रति' में मिलता है, वही सौंदर्य या माधुर्य में भी मिल जाता है। अतः अन्य सभी रसों की अपेक्षा सौंदर्य का सम्बन्ध केवल शृंगार रस से ही प्रतीत होता है।

अब यदि गहराई के साथ विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि सौंदर्य का सम्बन्ध शृङ्गार के केवल आलम्बन विभाव से ही है, क्योंकि अनुपम रूप-सौंदर्य-मय नायिका या नायक ही शृङ्गार-रस के आलम्बन होते हैं और इनके सहारे ही मानव हृदय में रति आदि मनोविकार उत्पन्न होते हैं, जिनसे रस की निष्पत्ति होती है। इस तरह सौंदर्य का सम्बन्ध केवल शृङ्गार रस के आलम्बन विभाव से होने के कारण वह कला का बाह्य पक्ष सिद्ध होता है। वैसे प्रत्येक कला का सम्बन्ध रस से है और जो बात कला के लिए कही जा सकती है वही बात व्यापक सौंदर्य के लिए भी कही जा सकती है, जिसमें प्राकृतिक और मानसिक सौंदर्य भी आ जाते हैं। इतना होने पर सौंदर्य कला का बाह्य शरीर ही है और रस उसकी आत्मा है। सौन्दर्य में केवल नेत्रेन्द्रिय या श्रवणेन्द्रिय की सहायता ली जाती है, जबकि रस का सम्बन्ध हृदय से है। यदि सौंदर्य सुरभित सुमन है, तो रस उसका आह्लादमय सौरभ है। इतना होने पर भी पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि केवल बाह्य पक्ष की ओर ही गई है और इसी कारण उन्होंने उसके बाह्य रूप की छान-बीन करते हुए उस पर अपने-अपने विचार प्रकट किए हैं, जबकि भारतीय मनीषियों ने एक पग और आगे बढ़कर कला के अन्तःकरण में प्रवेश किया है तथा उसके वास्तविक स्वरूप को भी जानने की चेष्टा की है। यही कारण है कि पाश्चात्य सौंदर्यानुभूति एवं पौरस्त्य रसानुभूति में समानता-सी

(शेष पृष्ठ ७५ पर)

१—वही पृ० १७३

(धन-दौलत के दहेज के साथ-साथ विद्या का दहेज दो)

पुस्तकालयों के लिए हमारा स्थायी साहित्य

आलोचनात्मक व साहित्यिक

१—कुछ उथले कुछ गहरे बा० गुलाबराय ५)
२—निराला डा० रामविलास शर्मा ३)
३—सूर की झाँकी डा० सत्येन्द्र ६)

अमूल्य एतिहासिक ग्रन्थ

१—दिल्ली सल्तनत डा० आशीर्वादीलाल (७११-१५२६) द्वितीय संस्करण श्रीवास्तव ८)
२—मुगलकालीन भारत डा० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव १०) (१५२६-१८००) द्वितीय संस्करण
३—भारतीय संस्कृति का इतिहास डा० मथुरालाल शर्मा ६)
४—राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास श्री मन्मथनाथ गुप्त ६)
५—The Mughal Empire Dr. A. L. Srivastava ८) (1526–1803) Revised and enlarged 2nd Ed.
६—The Sultanate of Delhi Dr. A. L. Srivastava १०) (711–1526) Revised and enlarged 2nd Ed.
७—A Short History of Akbar the Great Dr. A. L. Srivastava ३॥)

राजनीति

१—द्वैत शासन से स्वराज्य की ओर डा० इकबाल नारायन ६)
२—आधुनिक संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन कुंजबिहारीलाल २।)
३—From Dyarchy to Self Govt. Dr. I. N. Srivastava ४)

जीवनियाँ

१—My Search for Truth Dr. S. Radhakrishnan १॥) (2nd Edition)
२—Netaji Ed. by Shri Ram Sharma २०)
(A Grand Souvenir Volume printed on art paper and contains nearly 100 rare photos on real art paper. Recommended for Libraries by the Governments of U. P., Punjab and Bombay.)

एतिहासिक अनुसंधान ग्रंथ

१—अवध के प्रथम दो नवाब डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव १२॥)
२—A Study in Maratha Diplomacy Dr. S. P. Verma १५)
३—Mewar & the Mughal Emperors Dr. G. N. Sharma १२॥)
४—The First two Nawabs of Awadh Dr. A. L. Srivastava १२॥)
५—Some Aspects of Society & Culture in Mughal Age. Dr. P. N. Chopra ८)
६—History and Administration of the North-Western Provinces (1303-1856) Dr. Dharma Bhanu १५)

शिक्षा

१—शिक्षा मनोविज्ञान की रूपरेखा लेखक—जेम्स एस० रौस अनुवादक—एम० एल० जैन ५)
२—शिक्षालय व्यवस्था एम० एल० जैन ३)
३—शिक्षा का माध्यम —श्रीमन्नारायण अग्रवाल १॥)

अर्थशास्त्र

गांधीवादी योजना—श्रीमन्नारायण अग्रवाल २॥) भूमिका लेखक महात्मा गांधी (तृतीय संस्करण)

गृह विज्ञान

सुव्यवस्थित गृह—श्रीमती एस० पी० सुखिया व श्रीमती जी० पी० शैरी २॥) (द्वितीय संस्करण)

नागरिक शास्त्र

१—नागरिक शास्त्र दर्शन विष्णुनरायन वर्मा व इकबाल नरायन ५) (तृतीय संस्करण)
२—हमारा संविधान तथा नागरिक जीवन इकबाल नरायन ५)
३—हमारा संविधान इकबाल नरायन ३॥)

दर्शन शास्त्र

१—Introduction to Philosophy Dr. K. S. Verma ४॥)
२—गांधी और गांधीवाद—डा० पट्टाभि सीतारमैया ५)

बाल साहित्य

१—देश की झांकी—डा० राजेन्द्रप्रसाद चतुर्वेदी ।।।)
२—नये राष्ट्र का जन्म—राजेन्द्रसिंह रघुवंशी ।।।)
३—हमारा निर्माण—डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी ।।।)
४—उनका पथ हमारा निर्माण—फूलचन्द सारंग ।।)

शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड

पुस्तक प्रकाशक तथा विक्रेता, आगरा।

शैव-दर्शन और सौन्दर्य-शास्त्र

प्रो० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

सर्व-प्रथम 'शैव-दर्शन' व "सौन्दर्य-शास्त्र" इन दो शब्दों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। शैव-दर्शन के अनेक भेद हैं। इस लेख में हम केवल शैव-दर्शन की काश्मीरी शाखा पर ही विचार करेंगे। काश्मीरी-शैव दार्शनिकों ने सौन्दर्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों का भी निर्माण किया है। आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक, अभिनवगुप्त का "लोचन" ('ध्वन्यालोक' की व्याख्या) तथा अभिनव भारती (भरत के नाट्यशास्त्र की व्याख्या) आदि ऐसे ही ग्रन्थ हैं। इस लेख में हम इन ग्रन्थों को आधार न बनाकर केवल अभिनवगुप्त के 'तंत्रालोक' में प्राप्त सौन्दर्य-शास्त्रीय तत्त्वों पर विचार करेंगे। 'तंत्रालोक' में प्राचीन आगमों तथा काश्मीरी-शैव-मत के अन्य ग्रन्थों को आधार मानकर शैव-दर्शन की व्याख्या की गई है, इस व्याख्या में सौन्दर्य-शास्त्र के लिए भी प्रकाश मिलता है।

'सौन्दर्य-शास्त्र' कला का दर्शन (Philosophy of Art) है।[1] कलाकारों का गुण दोष विवेचन (आलोचना—Art cirticism) इसका लक्ष्य नहीं है, अपितु कलाओं (काव्य, संगीत, चित्र, मूर्ति और स्थापत्य आदि) को सामग्री (Material) के रूप में स्वीकार करके कला, सौन्दर्य, कला-जन्य आनन्द, आदि पर 'सौन्दर्य-शास्त्र' सैद्धान्तिक विवेचन करता है, कला व सौन्दर्य की परिभाषा करता है, कलाकार की मानसिक स्थिति तथा कला-सृष्टि के क्षणों की प्रकिया का वैज्ञानिक विवेचन करके कुछ सिद्धान्त निश्चित करता है और इन सिद्धान्तों को अधिकाधिक तर्क-पूर्ण बनाता है, अतः आलोचना के क्षेत्र में जो अस्पष्टता (Vagueness) रहती है, वह सौन्दर्य-शास्त्र में नहीं मिलती। सौन्दर्य सम्बन्धी सिद्धान्तों से अपरिचित रहकर भी आलोचक या सहृदय कला का आनन्द प्राप्त कर सकता है परन्तु इन सिद्धान्तों से परिचित हो जाने पर आलोचना में स्पष्टता व निर्भ्रान्तिता अवश्य आती है, दूसरे उसकी दृष्टि सूक्ष्म व सक्षम हो जाती है, तीसरे वह साहित्य व कला के सम्बन्ध में अन्य आलोचकों, सौन्दर्य शास्त्रियों व कलाकारों के सिद्धान्तों में तर्क-विरोधी तत्त्वों को दूर करके आलोचना के सिद्धान्तों को अधिक वैज्ञानिक बना सकता है। चूंकि सौन्दर्य-शास्त्र सिद्धान्तों के

[1] बोसाँके ने अपने 'सौन्दर्य के इतिहास' में लिखा है कि सौन्दर्य-शास्त्र 'दर्शन' (philosophy) का एक अङ्ग है। केवल ज्ञान के प्रति अभिरुचि के कारण ही इस शास्त्र का अध्ययन होना चाहिए न कि इसलिए कि इसके पठन-पाठन से कला की सृष्टि में सहायता मिलेगी। सौन्दर्य-शास्त्री 'कलाकार' का अध्ययन अपनी जिज्ञासापूर्ति के लिए करता है, कलाकार के क्षेत्र में जाकर उसे कुछ सिखाने समझाने के लिए नहीं—History of Aesthetic-preface

(पृष्ठ ७४ का शेषांश)

दिखाई देने पर भी दोनों में पर्याप्त अन्तर है। क्योंकि पाश्चात्य सौंदर्यानुभूति रजोगुण प्रधान है, जबकि भारतीय रसानुभूति पूर्णतया सतोगुण प्रधान है। प्रथम में आनन्द की अनुभूति आनुषंगिक है, जबकि दूसरी स्वतः अखण्ड आनन्दस्वरूप है। इसी कारण पाश्चात्य सौंदर्यानुभूति में यत्किंचित् आध्यात्मिकता का समावेश होने पर भी उसे ब्रह्मानन्द के समकक्ष नहीं ठहराया जा सकता, जबकि भारतीय विद्वानों ने "रसो वै सः" कह कर रस को ब्रह्म मान लिया है और रसानुभूति भी यहाँ ब्रह्मानन्द की अनुभूति मानी गई है।
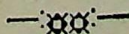
विवेचन पर अधिक ध्यान देता है। अतः वास्तविक स्थिति से दूर जाने का भय बराबर रहता है, वह अन्य सिद्धान्तों के दोष तो सुविधा से खोज लेता है परन्तु जब स्वयं सिद्धान्तों का निर्माण करता है तो उनमें वह "फार्मल" हो जाता है। आलोचक को सौन्दर्य-शास्त्र के अध्ययन से अपनी सैद्धान्तिक विवेचना को अधिक तर्क संगत और वास्तविक बनाने का अवसर मिलता है।[२]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सौन्दर्य-शास्त्र काव्य-शास्त्र या आलोचना -शास्त्र (Principles of Art or Poetics) का सहायक शास्त्र है, दोनों ही कलाओं को विवेचन का उपकरण (Material) बनाते हैं, अतः अलग होकर भी परस्पर सम्बद्ध हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र सम्बद्ध रूप में ही मिलते हैं। योरोप में जिस प्रकार काव्य-शास्त्र व सौन्दर्य शास्त्र अलग अलग दिखाई पड़ते हैं, उस रूप में यहाँ विकास नहीं हुआ। अतः शैव-दर्शन में भी सौन्दर्य शास्त्र व काव्य-शास्त्र दोनों के लिए प्रेरणाएं व प्रकाश है।

शैव-दर्शन जगत् की सृष्टि का विस्तार से वर्णन करता है, इस सृष्टि-प्रक्रिया में सौन्दर्य की सृष्टि-प्रक्रिया का रहस्य निहित है। जिस प्रकार जगत् में आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी आदि पंचभूतों और इनसे पर्वत, नदी, वृक्ष, पुष्प, पल्लव आदि नाना पदार्थों की सृष्टि होती है, उसी प्रकार कलाओं के क्षेत्र में अनेक रूपों की सृष्टि होती है। जगत् की सृष्टि की प्रक्रिया व कला की सृष्टि प्रक्रिया एक हैं क्योंकि जगत् की सृष्टि की कल्पना में स्वयं व्यक्ति की सृष्टि-प्रक्रिया ही प्रमाण है। पिंड व ब्रह्माण्ड की सारी प्रक्रियाएं समान हैं। अतः शैव दर्शन में बाह्य जगत् की सृष्टि का वर्णन कलाकार की सौन्दर्य-सृष्टि का ही वर्णन है, ऐसा मानना चाहिए।

शैव-दर्शन के अनुसार जगत् की इस सृष्टि का कारण एक चेतनतत्त्व है। इस चेतनतत्त्व का शास्त्रीय नाम है "परम शिव"।[१] यह चेतन तत्त्व सभी प्रकार के आन्दोलनों (Movements) से परे है, अतएव इसका वर्णन सम्भव नहीं है। यह सर्वथा भेद-रहित स्थिति है। इस स्थिति में सृष्टि सम्भव नहीं है।

---

(२) आर० जी० कालिंगवुड के अनुसार सौंदर्य शास्त्र का अध्ययन एक सीमा तक आवश्यक है। सौन्दर्य शास्त्री दो प्रकार के होते है 1 आलोचक-सौन्दर्य-शास्त्री 2 दार्शनिक-सौन्दर्य-शास्त्री । आलोचक यह बताते हैं कि कला किन किन तत्त्वों से बनती है, कला-पूर्ण और कला-हीन दोनों को वे अलग-अलग करते हैं । सौन्दर्य-शास्त्र एक कदम और आगे जाकर कला व सौन्दर्य की परिभाषा करता है, सृष्टि के क्षणों पर विचार करता है, वह आलोचक के अस्पष्ट और व्यवस्थाहीन सिद्धान्तों की जगह स्पष्ट, व्यवस्थित और तर्कसंगत विचार रखता है; अतः सौन्दर्य शास्त्र के अध्ययन से आलोचक को तर्क-संगत व व्यवस्थित होने का अवसर मिलता है तथा वह सौन्दर्य-शास्त्र की कोरी सिद्धान्तवादिता के ख़तरे से बचना सीखता है—

Philosopher's Aesthetic, not having a material criterion for the truth of theories in their relation to the facts, an only apply a formal criterion. It can detect logical flaws in a theory and therefor dismiss it as false, but it can never acclaim any theory as true. It is wholly uncoustructive............Yet the fugitive and cloistered virtue of academic aesthetic is not without its uses, negative though they are. Its dialectic is a school in which the artist-aesthetician or Critic can learn the lessons that will show him how to advance from Art-Criticism to aesthetic theory. (The Principles of Art- R. Y. Collingwood, Page--4)

(१) उपनिषद् में यही "परब्रह्म" कहलाता है ।

अर्थात् चेतना अपने आत्यन्तिक शुद्ध रूप में स्थित होकर सृष्टि से परे हो जाती है। इसीलिए सौन्दर्यानन्द को "ब्रह्मानन्द" नहीं कहा जाता क्योंकि सौन्दर्यानन्द, ब्रह्मानन्द से निम्न स्थिति है। प्रज्ञा के स्थिर हो जाने पर सृष्टि नहीं हो सकती है।

स्वच्छन्दतावाद—

शुद्ध चेतन तत्त्व में शैव दर्शन एक स्वतंत्र शक्ति की स्थिति मानता है। यदि यह प्रश्न हो कि परम शिव (ब्रह्म) में सृष्टि की इच्छा क्यों उत्पन्न होती है तो उसका उत्तर यह है कि ब्रह्म अपनी स्वतंत्र इच्छा शक्ति से सृष्टि करने को उन्मुख होता है। अतः सौन्दर्य-शास्त्र का प्रथम सिद्धान्त यह है कि कलाकार अपनी स्वतंत्र इच्छा शक्ति से सृष्टि करने के लिए उन्मुख होता है, यह स्रष्टा की स्वच्छन्द प्रवृत्ति है, बाह्य दबाव सृष्टि का कारण नहीं हो सकता। पुनः प्रश्न होगा कि अंततः कुछ तो सृष्टि-इच्छा का कारण होना ही चाहिए, तो उत्तर होगा कि सृष्टि करने में चेतना को आनन्द प्राप्त होता है।[1] अनुभव से ही आत्मा (चैतन्य) को आनन्द मिलता है यद्यपि आत्मा या चैतन्य स्वतः सत्-चित् आनन्दमय हैं, तथापि सृष्टि उसकी स्वानुभूति मात्र (Self realization) है। अन्य बाह्य उद्देश्य सृष्टि नहीं कर सकते।[2]

अतएव सृष्टि का कारण है, स्रष्टा की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति। यह इच्छा क्रीड़ाजन्य आनन्द-प्राप्ति की इच्छा है। जिस प्रकार क्रीड़ाशील बालक क्रीड़ा के बिना भी पूर्ण है परन्तु क्रीड़ा के द्वारा वह अपने ही आनन्द का भोग करता है, नाना पदार्थों की सृष्टि करके अपने आनन्द का विस्तार करता है, उसका अनुभव करता है, उसी प्रकार अपनी स्वतंत्र इच्छा शक्ति से परम-शिव जगत् की सृष्टि करता है और इसी प्रकार कलाकार अपनी स्वच्छन्द-इच्छा-शक्ति से आत्म-अनुभूति के लिए, आनन्द-विस्तार के लिए सृष्टि करता है।[1]

शुद्ध चेतन तत्त्व में यह स्वतंत्र इच्छा उत्पन्न होते ही उसमें पहले से ही विद्यमान शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं। ये शक्तियाँ चेतना के साथ एकाकार हैं परन्तु स्वतंत्र इच्छा शक्ति से सृष्टि का संकल्प उदय होते ही चेतना का यह अंश (शक्तितत्व) चेतना से भिन्न प्रतीत होने लगता है। इसे शैव-दर्शन में "शक्तितत्व" कहा गया है, और शक्ति के साथ एकाकार चेतना का दूसरा अंश शिवतत्त्व कहलाता है। इस प्रकार परम-शिव के दो रूप (Aspects) दिखाई पड़ते हैं, शिव तत्त्व और शक्ति तत्त्व। इनमें शक्तितत्त्व को विमर्षतत्त्व या क्रिया-तत्त्व भी कहा जाता है। यह शक्तितत्त्व ही सृष्टि में समर्थ है, दूसरे शब्दों में स्रष्टा (शिव) शक्ति द्वारा सृष्टि करता है। यह शक्तितत्त्व स्वतंत्र या स्वच्छन्द तत्त्व है क्योंकि चैतन्य का एक अंश या रूप होने पर भी यह जड़-तत्त्व की सृष्टि में समर्थ है। अतः जड़ जगत् शक्ति का एक रूप है (Aspect) है, वह वेदान्तियों के अनुसार "मिथ्या" नहीं है। इसलिए सृष्टि का आनन्द जो शिव या स्रष्टा को प्राप्त होता है, वह

(१) स्वात्मप्रच्छादनक्रीड़ा, पण्डितः परमेश्वरः– तन्त्रा० चतुर्थ आह्निक

(२) उपयोगी कला और शुद्ध कला का भेद यहाँ स्पष्ट हो जाता है। शुद्ध-कला केवल अपनी प्रेरणा, अपनी स्वच्छन्द-प्रक्रिया पर चलती है, उपयोगी कला या शिल्प (craft) में कोई बाह्य उद्देश्य रहता है, इसीलिए तुकबन्दी या समस्या पूर्ति को हमारे यहाँ ६४ शिल्प कलाओं में रखा गया है और काव्य या शुद्ध कला को शिल्प से अलग कर लिया गया है।

(१) इस 'स्वच्छन्दतावाद' में "कला कला के लिए है", "कला केवल आनन्द के लिए है" जैसे एकांगी सिद्धान्तों के लिए स्थान नहीं है क्योंकि शैवदर्शन में आनन्द, ज्ञान, क्रिया, इच्छा, इनको परस्पर सम्बद्ध माना गया है। ज्ञान, क्रिया व इच्छा इन सबके सामरस्य से ही सृष्टि होती है अतः शिवता और सत्य भी सौन्दर्य में सम्मिलित रहते हैं। भेदवादी दृष्टि ही एकांगिनी होती है। प्रधानता के कारण ही अलग नाम दिए जाते हैं न कि सारे अनुभवों से पूर्णतः विच्छिन्न और निरपेक्ष होने के कारण।

भ्रम-जन्य आनन्द नहीं है, वह अपनी ही शक्ति द्वारा शक्ति के ही रूप में प्राप्त आनन्द है। कलाकार (शिव) अपने रूप शक्तितत्त्व का विस्तार करके ही आनन्द पाता है।

आभासवाद—

शुद्ध चेतन तत्त्व का एक अंश द्वारा व्यक्त होना ही "बाह्याभास" है। सारी सृष्टि एक प्रतिविम्ब के समान है और यह प्रतिविम्ब चैतन्य में ही प्रतिष्ठित है। जैसे दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब आनन्ददायी होता है, वैसे ही सृष्टि शिव का ही प्रतिबिम्ब है। कलाकार अपनी सृष्टि में अपना ही प्रतिविम्ब देखता है और आनन्दित होता है। जैसे प्रतिविम्ब और विम्ब अलग होने पर भी अभिन्न होते हैं, वैसे ही कला व कलाकार भी, अलग प्रतीत होने पर भी एक और अभिन्न हैं। यह प्रतिविम्ब की प्रक्रिया शक्ति के माध्यम से व्यक्त होती है। शिव (कलाकार) अपनी ज्ञान, इच्छा व क्रिया द्वारा इस प्रक्रिया को पूर्ण करता है। माध्यम से भिन्न अभिव्यक्ति या सृष्टि की सत्ता नहीं है।[1]

आभास या प्रतिबिम्ब की प्रक्रिया इस प्रकार है। शिव पंच-शक्तियों द्वारा अपने को अभिव्यक्त करता है। चित्, आनन्द, ईषण, ज्ञान व क्रिया ये पांच शक्तियाँ ही सृष्टि करती हैं। शिव मूलतः पूर्ण होने पर भी स्वातंत्र्य शक्ति से, बाह्य रूप में प्रकट होने की इच्छा करता है और सर्वप्रथम वह "अहम्" (मैं हूँ) इस अनुभव को प्राप्त करता है, तत्पश्चात वह 'इदम' (यह है,) ऐसा अनुभव करता है किन्तु ये दोनों अनुभव अस्फुट रहते हैं। 'इदम्' यह ज्ञान बराबर "अहम्" इस ज्ञान से संयुक्त रहता है। ज्ञानशक्ति की प्रधानता इस अवस्था में स्पष्ट दिखाई पड़ती है। अहम् व इदम् यदि अस्फुट अवस्था में ही रहें और ज्ञान-शक्ति व आगे चलकर क्रिया-शक्ति का संयोग इनके साथ न हो तो सृष्टि नहीं हो सकती।[1] इसीलिए ज्ञान शक्ति के साथ जब अहम् व इदम् के अनुभवों का संयोग होता है तब शैव-दर्शन शिव की इस स्थिति को "ईश्वर" संज्ञा देता है। कलाकार को भी इसलिए ईश्वर या स्रष्टा कहा गया है। ईश्वरीय अवस्था में क्रिया-शक्ति कार्य करने लगती है। क्रिया-शक्ति के पूर्व सृष्टि कलाकार के मन में स्थित रहती है। क्रिया के द्वारा वह बाह्य रूप धारण करती है।

अहम् व इदम् के अनुभव को माया, कला, विद्या राग, काल व नियति ये तत्त्व शासित करते हैं, ये ही कंचुक या आवरण हैं, इनसे आवृत होकर ही शिव सृष्टि करता है। इनमें अहम् व इदम् का भेद करने वाली शक्ति 'माया' कहलाती है। इसी मायाशक्ति से शिव को 'जीव' संज्ञा प्राप्त होती है।

माया रूप का गोपन करती है अर्थात् जो पूर्ण

---

(१) अभिव्यक्ति के विवेचन में अलंकार, भाषा, छंद आदि के भेद करते हुए व्याख्या करना केवल बाह्य व्याख्या है, और मात्र व्यावहारिक है। वास्तविक दृष्टि से अभिव्यक्ति को अभिव्यक्ति की शक्ति या माध्यम से अथवा कलाकार की मानसिक शक्तियां से भिन्न नहीं किया जा सकता।

१ शैव-दर्शन का यह निर्णय सौन्दर्य-शास्त्र के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है। मनोवैज्ञानिक कला में 'अव-चेतन' मन को ही सर्वस्व मानते हैं, जो एक अतिवाद है। इसी प्रकार दिवास्वप्न या भ्रम-सृष्टि की इच्छा भी कला का मुख्य कारण नहीं है। कल्पना की अति-शयता में विश्वास करने वाले ज्ञान का महत्व कला में स्वीकार नहीं करते अतः यह सिद्धान्त भी अतिवादी है। कला-सृष्टि में ज्ञान (consciousness not intellect) शक्ति अनिवार्य रूप से रहती है। कॉलिंगवुड ने तो ऐन्द्रिक अनुभव (sensation) और विचार (thought) के मध्य में 'कल्पना' (imagination) को आवश्यक माना एन्द्रिक अनुभव को कल्पना में ज्ञानशक्ति ही परि-वर्तित करती है, बिना ज्ञानशक्ति के कल्पना एन्द्रिक अनुभवों को इच्छित रूप नहीं दे सकती। अतः कला में ज्ञानशक्ति मान्य होनी चाहिए, किन्तु ज्ञानशक्ति का बौद्धिक रूप जिसका प्रयोग विज्ञान के क्षेत्र में होता है, सृष्टि के लिए आवश्यक नहीं है।

चैतन्य है, उसे अंश रूप में प्रकट होने देती है। यही माया सृष्टि कारिणी होने से "कला" कहलाती है। यह 'कला' का दार्शनिक और विशेष अर्थ है। 'कला' से ही कर्म की ओर हम उन्मुख होते हैं और कर्म की ओर उन्मुख होने के लिए यह आवश्यक है कि शुद्ध चैतन्य जागृत हो, स्वरूप गोपन हो। इसीलिए प्रारम्भ में ही कहा गया है कि परम शिव की स्थिति में अर्थात् शुद्ध चैतन्य की स्थिति में सृष्टि सम्भव नहीं है। 'कला' का अर्थ क्या है? कला का अर्थ है—"किंचित्कर्त्तृत्व"—"कुछ करना" ही कला है। अतः केवल कविता लिखना या चित्रकारी ही कला नहीं है, अपितु प्रत्येक कार्य में कला-शक्ति कार्य करती है, और प्रत्येक कार्य में—प्रत्येक सृष्टि में वही आनन्द प्राप्त होना चाहिए जो कवि को काव्य-सृष्टि में मिलता है। प्रत्येक कर्म में कर्त्ता की मानसिक स्थिति वही होती है जो एक कलाकार की होती है। मिट्टी से छोटे-छोटे घर बनाने वाला बालक, खेत को तैयार करने वाला कृषक, गृहस्थी सँवारने वाली गृहिणी, ये सब कलाकार हैं; अन्तर केवल यह है कि काव्य, चित्र आदि के सृजन में कलाकार का स्वरूप-गोपन कुछ कम होता है और वह उस समय निकटतम लाभ की इच्छा से सृजन नहीं करता। यदि कृषक की मानसिक स्थिति भी यही रहे तो वह भी कलाकार कहा जा सकता है। इसीलिए शैव-दर्शन में कला के दो रूप स्वीकृत हैं। प्रथम अशुद्ध कला,—इसमें जड़ता प्रधान रहती है; जड़ता का अर्थ है, आंतरिक प्रकाश का किंचित् अभाव। ईर्ष्या, द्वेष, मोह, क्रोध आदि में शुद्ध कला की सृष्टि सम्भव नहीं है। द्वितीय, शुद्ध कला—इसमें जड़ता दूर हो जाती है, आंतरिक प्रकाश या चैतन्य का उदय होता है, इसीलिए गीत, काव्यादि में आनन्द उत्पन्न होता है। उदासीनता के दूर होने से व्यक्तिगत जड़ता के नाश से और शुद्ध चैतन्य की अनजान में झलक पड़ने से शुद्ध कला का जन्म होता है। सुन्दर से सुन्दर शब्दों और उक्ति-वैचित्र्य का घनघोर प्रयोग करने पर भी यदि स्रष्टा की चेतना शुद्ध नहीं है, यदि वह निजी क्रोध व ईर्ष्या आदि से पीड़ित है तो शुद्ध कला का जन्म असम्भव है। शिल्प व जादू (वाक् चातुर्य) को 'कला' नहीं कह सकते यद्यपि इनकी सहायता कला में आवश्यक है। कला में आत्म-परामर्श, स्वरूप-गोपन, विकल्प, ज्ञान व बाह्य रूप में अपने को उल्लसित करने की इच्छा, ये पाँच तत्त्व अनिवार्य हैं। शुद्ध चैतन्यतत्त्व स्वयं अपने को जागृत करके कला के रूप में अभिव्यक्त होता है।

जिस प्रकार बीज में सर्व प्रथम उच्छूनता (swelling) उत्पन्न होती है, वैसे ही कर्त्ता में यह कला उत्पन्न होती है। ज्ञान, इच्छा व क्रिया द्वारा यह कला-शक्ति स्वयं प्रेरिका बनकर स्रष्टा से सृष्टि कराती है। कला द्वारा सृष्टि करके स्रष्टा अपने को सार्थक मानता है। अपने को कर्त्ता मानने से उसे एक विशेष आनन्द प्राप्त होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार शिव को सृष्टि का आभासन करने से आनन्द होता है। अतः कला द्वारा कर्त्ता अपनी कर्त्तृता (करने की शक्ति) की अभिव्यंजना करता है। कला द्वारा ही कर्त्ता का भोग उसे आनन्द देता है।[1]

कला ज्ञान के अभाव में अधः पतन की ओर भी ले जाती है। कला को मात्र मनोरंजन समझने वालों के लिए यह महत्त्व पूर्ण है। ज्ञान के पूर्व कला "दोषालया" है। और ज्ञान के बाद "शुभा"। यही कला का "मर्म" है। कला का मर्म समझ लेने से निर्लिप्तता आती है। स्रष्टा विवेकहीन होने पर दोषपूर्ण कला को जन्म देगा और श्रोता या दर्शक भी ज्ञान के अभाव में शुद्ध कला से भी अधः पतन को प्राप्त होगा, यह निश्चय है। विवेक क्या है? अकर्त्तृत्व का अनुभव ही विवेक है। इसके बिना स्रष्टा अहंकार के कारण विकास नहीं कर सकता और पाठक या दर्शक आसक्ति के कारण कला को केवल

---

(१) कर्तृ शक्ति व्यनक्त्यस्य कला सातः प्रयोजिका।

ततः कलासमायुक्तो, भागेऽणुः कर्तृकारकम्-तंत्रालोक-नवम आह्निक

वासना-पूर्ति का साधन समझ बैठेगा। विवेक के उत्पन्न होने पर न केवल कविता, चित्र आदि अपितु जगत् का प्रत्येक अनुभव, प्रत्येक कार्यकलाप, प्रत्येक दृश्य आनन्द का सृजन करता है और सुख-दुःख सब में चेतना का क्षोभ उसकी आंतरिक शांति को नष्ट नहीं कर पाता। चेतना के बाह्यस्तरों (मन व इन्द्रिय जगत्) को क्षुब्ध करके जो कलाकार आंतरिक रूप से स्वस्थ और तटस्थ नहीं रह सकता, वह कलाकार नहीं है, मानसिक रोगी है। इसीलिए कला का जन्म सात्विक अवस्था में सम्भव है। 'तामस् व रजस्' की स्थिति में कला का जन्म नहीं होता, शिल्प और शोक का जन्म होता है। 'ध्वन्यालोक', 'अभिनव भारती' व 'काव्य प्रकाश' में इस सात्विक स्थिति का विस्तार से वर्णन किया गया है। कला के लिए सात्विकता अनिवार्य है। सात्विक स्थिति में, ज्ञान-शक्ति की सहायता से 'राग' की व्यंजना ही 'कला' कहलाती है।

इस प्रकार विद्या से विषय का चयन, राग से निश्चित विषय के प्रति तल्लीनता तथा कला से रूपों की सृष्टि होने पर ही सृष्टि होती है। यह सृष्टि काल-विशेष में ही होती है, अतः काल भी सहायक तत्त्व है। नियति तत्त्व से सृष्टि या कर्म विशेष करने की प्रेरणा होती है, अतः माया, कला, विद्या, राग, काल व नियति ये कंचुक सृष्टि के लिए अनिवार्य हैं। इनमें 'काल' को छोड़कर सभी मानसिक प्रेरणाएं या स्थितियां हैं। नियति ईश्वरीय प्रेरणा है अतः उसे हम छोड़ सकते हैं। विद्या ज्ञान का ही एक रूप है, बुद्धि भी ज्ञान का ही एक रूप है जो इन सभी कंचुकों से होने वाली सृष्टि से उत्पन्न "अहम्" का मनन कराती है। इसी बुद्धि में शुद्ध चैतन्य प्रतिविम्बित होता है, अतः बुद्धि द्वारा अहं का मनन या परामर्श वस्तुतः स्वयं चैतन्य का ही परामर्श है। इस प्रकार उपर्युक्त सृष्टि की सारी प्रक्रिया चैतन्य के द्वारा एक 'आभास' या प्रतिबिम्ब की प्रक्रिया है। आत्मा की भित्ति पर ही, आत्मा की स्वतंत्र इच्छा शक्ति से ही यह सारी क्रीड़ा हो रही है और इस क्रीड़ा के द्वारा स्रष्टा आनन्द में निमग्न रहता है।

आनन्दवाद—

अविद्या या माया के कारण आनन्दरस से पूर्ण यह जगत् जो शिव की कला है, दुःख रूप प्रतीत होता है। माया के कारण भेद-बुद्धि उत्पन्न होती है और कर्त्ता जगत् को अपने से भिन्न समझ बैठता है। वह आंतरिक प्रकाश या विवेक के अभाव में कल्याणी सृष्टि को अपने अज्ञान से उत्पन्न दुःख के कारण दुःखमयी मान लेता है, परन्तु यह उदासीनता या अवसाद कला के मर्म को न समझ पाने के कारण है। जगत् सूक्ष्म चेतना का ही व्यक्त रूप है, यह ज्ञान हो जाने पर अपरिमित आनन्द उत्पन्न होता है। यह स्फुरणा चेतना का "हृदय" कहलाती है।[1] इससे युक्त व्यक्ति "सहृदय" कहलाता है और तब दुःखादि भावनाओं में भी वह आनन्दमय रहता है। शोक व वीभत्स के वर्णन में आनन्द इसीलिए मिलता है कि उस समय सहृदय सात्विक स्थिति में होने पर निजी राग व द्वेष से ऊपर उठ जाता है। उस समय विभाव, अनुभाव, संचारी भावों आदि के वर्णन या दर्शन से 'सहृदय' अपनी चेतना के शुद्ध रूप की झलक पा जाता है और उस शुद्ध चेतना के ऊपरी स्तरों—सुख-दुःखादि भावों का जो कि साधारणीकृत हो जाते हैं, भोग करता है। इस प्रकार कला द्वारा सहृदय अपने भावों का भोग करता है। कला का सौन्दर्य 'सहृदय' की इस मानसिक अवस्था के उद्दीप्त करने में है। कला द्वारा वर्णित विषय 'सहृदय' की स्फुरणा को जागृत कर देते हैं, और तब सहृदय अपने ही आनन्द की "चर्वणा" करता है। यहाँ विषयी-सौन्दर्य व विषयगत सौन्दर्य दोनों मिलकर एक हो जाते हैं, यही "रसावस्था" है। रस की अवस्था में, चेतना में प्रति-बिम्बित होने वाले सुख-दुःखादि वासनाओं का भोग

---

(१) सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्टिनः।
तथाहि मधुरेगीते, स्पर्शे वा चन्दनायिके।
माध्यस्थविमेगयासौ हृदये स्पन्दमानता,—आनन्द शक्तिः सैवोक्ता—यतःसहृदयोजनः—तं०आ० तृतीय आह्निक

आनन्द देता है जबकि शुद्ध चेतना के सुप्त रहने पर, निजी सुख दुःख के अनुभव के समय मोह व शोक होता है। जिस प्रकार दर्पण में भूमि जलादि प्रतिबिम्बित होते हैं और साथ ही वे दर्पण से अभिन्न भी रहते हैं, उसी प्रकार रसावस्था में शुद्ध चेतना के जागृत हो जाने पर अर्थात् विगलितवेद्य होने पर (निजता, परतादि का ज्ञान न रहने पर) सुख-दुःखादि भावनाओं का वर्णन, चित्रण या प्रदर्शन आनन्ददायी होता है।

यह सारा विश्व चैतन्य से संलग्न होकर ही आभासित हो रहा है। अतः चैतन्य स्वच्छ है। उसमें सर्व विश्व प्रकाशित है। यदि संवित् या चैतन्य स्वच्छ नहीं है तो उसमें पदार्थ का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। प्रतिबिम्ब रूप का ही क्यों दिखाई पड़ता है? क्योंकि रूप तेज का साथी है अतः नेत्र को केवल रूप का ही प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है, स्पर्श आदि का नहीं किन्तु ज्ञान स्पर्श आदि का भी होता है, अतः रूप का प्रतिबिम्ब प्रधान होने से कला के क्षेत्र में रूप की ही महिमा है, यद्यपि शब्द, स्पर्श, रस और गंध भी आनंददायक हैं। रूप ही स्पर्शादि की ओर बढ़ने के लिए उत्तेजित करता है। यथा कामिनी के रूप को देखकर ही स्पर्शादि की इच्छा कामुक करता है। वैसे ही रूपों के प्रतिबिम्ब से हम क्रमशः जगत् के मूल में स्थित चेतना की ओर बढ़ते हैं। रूप, रस, गंध आदि का बार बार भोग करके भी हम तृप्त नहीं होते क्योंकि इन आभासों के पीछे शुद्ध चेतना की प्राप्ति जब तक नहीं होती, तब तक ये रूपरसादि क्षोभकर ही रहते हैं[१] किंतु आनंद के मूल स्रोत को प्राप्त कर लेने पर रूप, रस, गंधादि क्षोभकर नहीं होते, अपितु ये शांति के सहायक हो जाते हैं। अतः रसावस्था में चेतना का आवरण एक सीमा तक उतर जाने पर रूप, रस, गंध, सुख, दुःखादि सब आनन्द के सहायक हो जाते हैं। अतः जगत् में जो

(१) प्रच्छन्न रागिणीकान्त - प्रतिबिम्बितसुन्दरम्
दर्पणं कुचकुम्भ्यां, स्पृशन्त्यपि न तृप्यति–तंत्रा० तृतीय आह्निक

कोई आह्लादकारी पदार्थ हैं, रूप हैं, वे सब आनन्द के मूलस्रोत से संलग्न कर देने पर पूजा के उपकरण बन जाते हैं।[१] इसीलिए भारतीय काव्य और कला रहस्यात्मक और संकेतात्मक है, व्यंजना का इसीलिए हमारे यहाँ आदर है। केवल भोग की लालसा को कला द्वारा व्यक्त करना हमारे यहाँ इसीलिए पाप माना गया है। इस लालसा को शैव-दर्शन 'लोलिका' कहता है। 'लोलिका' में अपूर्णता का अनुभव रहता है, अतः लालसा-प्रधान कला विनाशकारिणी है। मनोविज्ञान की भाषा में कहें तो यह कला हमारा उदात्तीकरण नहीं करती अथवा कॉलिङ्गवुड की शब्दावली का प्रयोग करें तो उसमें भावनाओं और प्रवृत्तियों का domestication नहीं होता।

निष्कर्ष—शैव-दर्शन से प्रथम शिक्षा यह मिलती है कि कला स्वतः स्फूर्त चेतना का उच्छलन है। चेतना का "स्वरूप" ही ऐसा है कि उसमें अपने को प्रकाशित करने की इच्छा रहती है, अतः इस दृष्टि से इस सिद्धान्त को "स्वरूपवाद" कहा जा सकता है।

(२) स्रष्टा व सृष्टि एक और अभिन्न हैं, सृष्टि में स्रष्टा अपने शक्ति रूप से रूपान्तरित हो जाता है, अतः स्रष्टा व सृजन में आत्यन्तिक एकता है। जिस सृजन में कलाकार के 'स्व' पर प्रकाश नहीं पड़ता,

(१) यत्किंचिन्मानसाह्लादि, यत्रक्वापीन्द्रियस्थितौ।
योज्यते ब्रह्म सद्धाम्नि–पूजोपकारणं हित त्–तंत्रा० चतु० आ०

तांत्रिकों व वैष्णवों ने इसीलिए इन्द्रिय व मानस जगत् को—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, इच्छा, आशा रति आदि को पूजा का उपकरण स्वीकार किया था और केवल भगवान को इनका लक्ष्य बनाकर—लीला-वर्णन द्वारा कला और साहित्य के क्षेत्र में अद्भुत सृष्टि की थी। किसी महान लक्ष्य के लिए यदि एन्द्रिक जगत् व मानसिक जगत् को उपकरण न बनाया जाएगा तो कला भ्रष्ट हो जाएगी।

उसके व्यक्तित्व का अंश व्यक्त नहीं होता, वह कला हीन हो जाती है।

(३) कला का आनन्द स्वतः अपने में पूर्ण होता है, वह शिवत्व या सत्य का विरोधी नहीं है परन्तु ये तत्व अप्रत्यक्ष रूप से ही कला को प्रभावित करते हैं। कांट जिसे "उद्देश्यहीन उद्देश्य" (Purposiveness without purpose) कहता है, वही वस्तुतः सुन्दर सृष्टि का उद्देश्य होता है।

(४) 'सुन्दर' किसे कहते हैं, कोई पदार्थ सुन्दर क्यों लगता है? आदि प्रश्नों के उत्तर में निवेदन यह है कि शैव जगत् के सभी पदार्थों को सुन्दर मानते हैं, जो पदार्थ अधिक सुन्दर प्रतीत होते हैं, उनमें ब्रह्मतेज अधिक व्यक्त हो रहा है, ऐसा उनका विश्वास है। 'ज्यामित' के आधार पर सौन्दर्य के बाह्य-कारणों की मीमांसा इस दर्शन में नहीं मिलती, परन्तु अंतर्मुख-सौन्दर्य (Subjective beauty) की व्याख्या अवश्य मिलती है। सुन्दर या असुन्दर—यह अनुभव हमारी वासना पर निर्भर करता है। देश, जाति, काल, पात्र के भेद से सौन्दर्य के अनेक स्तर व मापदंड बन गए हैं परन्तु चेतना के साथ सम्पृक्त हो जाने पर असुन्दर पदार्थ भी सुन्दर प्रतीत होने लगते हैं। शिवत्व व सत्य का ज्ञान हो जाने पर ही सौन्दर्य का वास्तविक ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः सौन्दर्य का शिव व सत्य से अभिन्न सम्बन्ध है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सौन्दर्य-सृष्टि स्थूल नैतिकता व दर्शन शास्त्र से निर्णीत सत्य का दस्तावेज़ है। शिव व सत्य अप्रत्यक्ष रूप से कलाकार की चेतना में स्फूर्ति उत्पन्न करते हैं, अतः आत्म-स्फुरण की अभिव्यक्ति कला है और "आत्म" का निर्माण शिव व सत्य के ज्ञान से पूर्ण होता है, बाह्य जगत् व समाज आदि सभी का ज्ञान "शिव-सत्य" में सम्मिलित है।

(५) पारमार्थिक दृष्टिकोण से सौन्दर्य-सृष्टि के ये सिद्धान्त हीगेल से सादृश्य रखते हैं। एक सत्य या विचार (idea) ही कला में व्यक्त होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार एक ब्रह्म जगत् के द्वारा व्यक्त हो रहा है।[1]

(६) सृजन-क्षणों में ज्ञान-शक्ति, कल्पना (इच्छा का एक रूप)[2] राग आदि वृत्तियों में पूर्ण सामञ्जस्य की आवश्यकता है। "वृत्ति-सामरस्य" ही तादात्म्य' की सृष्टि करता है। बिना 'तादात्म्य' के आनन्द की सर्जना नहीं हो सकती। अतः कला की सफलता 'सामरस्य' पर आधारित है। किंचित् संतुलन के अभाव में ही कला विकलांग हो जाती है। उदाहरण के लिए 'कामायनी' में ज्ञानशक्ति व रागतत्त्व का सामञ्जस्य पूर्ण मात्रा में नहीं हो सका, उसमें बुद्धि तत्त्व किन्हीं सर्गों में अधिक व्यक्त हुआ है। परन्तु यह स्मरणीय है कि 'कामायनी' में आधुनिक किसी भी

(शेष पृष्ठ ८४ पर)

In Art, reality shines as beauty through a medium, which may be directly presented as in the cases of a statue, a building, or strain of music or in sensuous imagery as in poetry. (History of Modern Philosophy—W. K. Wright on Hegel)

(१) 'कल्पना' शब्द का प्रयोग शैव-शासन में नहीं मिलता, किंतु इसे इच्छा का एक रूप माना गया है। कुछ लोग इसे "प्रातिभ-ज्ञान" यह नाम देना चाहते हैं, जो गलत है क्योंकि 'प्रातिभ-ज्ञान' स्वतः प्रकाश्य ज्ञान (intuition) है, जबकि 'इच्छा' या कल्पना में ज्ञान-शक्ति की जागरूकता स्पष्ट दिखाई पड़ती है, प्रातिभ-ज्ञान अकस्मात् उदित होता है।

(२) 'कल्पना' शब्द का प्रयोग शैव-शासन में नहीं मिलता, किन्तु इसे इच्छा का एक रूप माना गया है। कुछ लोग इसे "प्रातिभ-ज्ञान" यह नाम देना चाहते हैं, जो ग़लत है क्योंकि 'प्रातिभ-ज्ञान' स्वतः प्रकाश्य-ज्ञान (intuition) है, जबकि 'इच्छा' या कल्पना में ज्ञानशक्ति की जागरूकता स्पष्ट दिखाई पड़ती है, प्रातिभ-ज्ञान अकस्मात् उदित होता है।

साहित्य में सौन्दर्य-तत्त्व

डा० हरद्वारीलाल शर्मा

'सुन्दर' की परिभाषा करना कठिन है; और वह परिभाषा सर्वमान्य भी हो, यह असम्भव सा प्रतीत होता है। परिभाषा न कर सकने के दो कारण मुख्यत: होते हैं; एक यह कि वस्तु अत्यन्त सरल है, इतनी सरल कि विश्लेषण नहीं किया जा सकता, जैसे मिठास, सुख-दु:ख प्रेम-द्वेष आदि। दूसरे, पदार्थ इतना जटिल हो कि विश्लेषण असम्भव हो जाय, जैसे संस्कृति, सभ्यता, विकास आदि की परिभाषा। अत्यन्त सरल अथवा जटिल होना किसी पदार्थ की परिभाषा की दो सीमाएं हैं। हमारे मत में 'सुन्दर' परिभाषा की सीमा से इसलिये बाहर है कि वह हमारी सरलतम और निकटतम अनुभूति है। वह विरल और विचित्र नहीं अपितु सरल और साधारण है। इस मत की पुष्टि करने का यह निबन्ध अवसर नहीं है। फिर भी, इसका एक पोषक प्रमाण यह है कि 'रस' की स्पष्टतम और तीव्रतम अनुभूति मन की सरल और 'आदिम' अवस्था में जितनी होती है उतनी 'संस्कृति' द्वारा 'विकृत' अवस्था में नहीं जब मन विधि-निषेध और न जाने कितनी मीमांसाओं में उलझ जाता है।

सौभाग्य से प्रस्तुत विषय के लिये 'सुन्दर' की परिभाषा आवश्यक भी नहीं है। जिस प्रकार ग्राफ कागज पर किसी बिन्दु की स्थिति दूसरी अक्ष रेखाओं और बिन्दुओं की सहायता से निश्चित की जा सकती है, उसी प्रकार अन्य अनुभवों के सम्बन्ध से 'सुन्दर' का स्वरूप-बोध किया जा सकता है। संक्षेप में, कोई 'वस्तु' सुन्दर होती है; 'सौंदर्य' उसका गुण है। सुन्दर वस्तु के सन्निकर्ष से 'रस' की अनुभूति जाग्रत होती है। यह अनुभूति सरल और सामान्य होने के साथ ही पोषक होने के कारण मूल्यवान भी है। इसको उत्पन्न करने में 'वस्तु' का इतना ही हाथ है जितना विद्युत् प्रकाश को लाने के लिए 'स्विच' का होता है। जिस प्रकार जल पृथ्वी के हृदय से भी झरता है और आकाश के बादलों से भी जिनसे मिलकर स्रोतस्विनी का जन्म होता है, उसी प्रकार 'सुन्दर' वस्तु और रसिक की आत्मा दोनों से ही रसानुभूति का उदय होता है। हम 'आनन्द' की अपेक्षा 'रस' शब्द को उपयुक्त समझते हैं क्योंकि 'आनन्द' और साधारण सुख में अन्तर करना भाषा के प्रयोग में कठिन प्रतीत होता है जब कि 'रसानुभूति' 'सुख' से भी अधिक 'दु:ख' से जाग्रत और पुष्ट होती है।

रसानुभूति क्या है ? यह 'आत्मा' की वह स्वकीय और सरलतम अवस्था है जो अवस्था 'व्यक्तित्व' के उदय होने से पूर्व उसकी थी। व्यक्तित्व का केन्द्र 'अहं' की भावना है। इसके चारों ओर व्यक्ति की विशेष परिस्थितियां परिधि का निर्माण करती हैं। केन्द्र तथा परिधि के मध्य प्रदेश में उनके स्वकीय अनुभवों का ताना बाना रहता है। मनोविज्ञान की भाषा में, व्यक्तित्व अनुभूतियों का वह सक्रिय संस्थान अथवा व्यवस्था है जो किसी व्यक्ति के व्यवहार, विचार-धारा, मनोवेगों का आधार व संचालक है। आत्मा अनन्त है, व्यक्तित्व उस पर तैरती हुई नौका है; आत्मा अमेय आकाश है, व्यक्तित्व उसमें उड़ता हुआ अभ्र-खण्ड है; आत्मा अनिमिष ज्योति है, व्यक्तित्व उससे निस्रत स्फुलिङ्ग है। व्यक्तित्व व्यवहार व जीवन के लिये आवश्यक है, किन्तु रसानुभूति के लिये तो इसका 'विलय', 'निर्गलन', 'भंग' अनिवार्य है। इस स्थान पर अनेक प्रश्न खड़े होते हैं जिनके उत्तर देने में यदि हम उलझ गए तो प्रस्तुत विषय से दूर हो जायेंगे। अत: इतना कह कर हम आगे चलें : सौन्दर्य का प्रभाव व्यक्ति को गलाकर आत्मा को उसकी आदिम, स्वकीय

व सरल अवस्था में ले आता है। "रसो वै सः" वह आत्मा स्वयं रस है, जीवन है, चिन्मय और व्याख्या से बाहर है। स्यात्, आप कहें—'उपनिषदों के रहस्य में न जाइये। विज्ञान की बात कीजिये।' परन्तु सामयिक मनोविज्ञान भी तो 'मन' को अनन्त और अमेय मानता है जिसके व्यवस्थापन से 'व्यक्ति' का निर्माण होता है। और भी, विज्ञान की अपनी सीमाएं हैं। एक सीमा यह है कि वह सरलतम पदार्थ का निर्वचन नहीं कर सकता जिसका विश्लेषण न हो सके। रसानुभूति का विश्लेषण न सम्भव है न उचित। अस्तु, रस आत्मा की सरलतम और स्वकीय अनुभूति है और 'सुन्दर' वस्तु के 'सौन्दर्य' गुण से उदित होती है। हम इस मत की स्थापना अन्यत्र करेंगे। प्रकृत विषय के लिये पाठक से निवेदन है कि वह इसे स्वीकार कर ले।

प्रकृत विषय पर आने से पहले एक अन्य प्रश्न स्पष्ट करना होगा। 'कला' और 'सुन्दर' में क्या सम्बन्ध है? सौन्दर्य का वास्तविक स्रोत और आधार प्रकृति है। मनुष्य जब अपनी प्रतिभा से सौन्दर्य का सृजन करता है तो वह कलाकार होता है। कला जिस सौन्दर्य को जन्म देती है उसमें दो विशेष गुण रहते हैं; एक यह कि मानव-माध्यम से उत्पन्न होने के कारण उसमें 'मानवता' या 'मार्मिकता' रहती है। प्रकृति के 'दिव्य' सौंदर्य से कला का मानव-सौंदर्य अधिक मार्मिक होता है। दूसरे, कला-सृष्ट सौंदर्य में 'अर्थ' की अभिव्यक्ति अवश्य ही होती है। कला के माध्यम से मनुष्य की चेतन और अचेतन वेदना मुखर होती है। अतएव कला अवश्य ही मार्मिक, मानव और वेदना गम्य 'अर्थों' की अनुभूति उपस्थित करती है। किन्तु जैसा हम पहले कह चुके हैं कि सौंदर्य आत्मा की सरलतम अनुभूति है, वह अपनी ही चरम और सरल अवस्था का अनुभव है। इसलिए जहाँ यह अनुभूति कला द्वारा जागरित होती है वहाँ एक ओर हमारी साधारण 'व्यक्ति-ग्रन्थियों'

(पृष्ठ ८२ का शेषांश)

अच्छी कृति से सामरस्य अधिक है। पंतजी के नूतन काव्य में बुद्धितत्त्व बहुत अधिक है, अतः काव्य घोषणा में परिवर्तित हो गया है। यद्यपि उसमें यत्र-तत्र बिखरा हुआ काव्य-वैभव अवश्य मिलता है। 'सामरस्य' का अत्यधिक अभाव 'प्रयोगवादी' काव्य में मिलता है। इसमें संवेदन की अस्थिरता के क्षणों में ही अभिव्यक्ति होती है, अतः विचार-सूत्र कहीं बहुत क्षीण, कहीं अव्यवस्थित और कहीं विकृत रूप में (कुंठा में) व्यक्त होता है। अनास्था, उल्लासहीनता, आशा का अभाव तथा प्रेरणा के संचार का अभाव इसका अवश्यम्भावी परिणाम है। रागतत्त्व के उलझे हुए तार; संगतिहीन संगीत को जन्म देते हैं, प्रयोग काव्य की भी यही स्थिति है। आज की चित्र-कला में भी 'सामरस्य' का अभाव है। सृजन के समय यदि मानसिक-स्थिति सूत्र-हीन होगी तो सृष्टि के पश्चात्—मानसिक-स्थिति बदल जाने पर कला का समझ लेना दुःसाध्य होगा। साधारणीकरण के अभाव का यही कारण है। सामरस्य जिस अंश में कम होगा, साधारणीकरण उसी अंश में कम हो जाएगा, यह शैव-शासन का महान् संदेश है। प्राचीन कला में भी गहन और सूक्ष्म मानसिक स्थितियों का अलग-अलग और सामूहिक रूप में भी व्यक्तीकरण हुआ है परन्तु उनका साधारणीकरण होता है क्योंकि इनमें ज्ञान, इच्छा व क्रिया का सामञ्जस्य है। प्रयोग-काव्य का साधारणीकरण इसलिए नहीं होता कि ये कलाकार वृत्तियों में तथा अभिव्यक्ति में सामञ्जस्य नहीं ला पाते। प्रगतिवादी काव्य व कला में भी सामञ्जस्य की कमी खटकती है। कला में सत्य व शिव अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्त होता है, यह सिद्धान्त प्रगतिवादी कवि भूल जाते हैं।

इस प्रकार शैव-दर्शन में हमारे लिए बहुत से उपयोगी सिद्धान्त और सुझाव मिल सकते हैं।

—०००—

का निर्गलन होता है ('भिद्यते हृदय-ग्रन्थि:'), दूसरी ओर कला अपने गुण के प्रभावों से रसिक के लिये एक नूतन, अननुभूत, अपूर्व विश्व का चित्र प्रस्तुत करती है। कला की यह द्विविध क्रिया है: एक ओर अपने गुण-प्रभाव से सामान्य विश्व का रूपान्तरण अथवा यों कहिये—एक नूतन संसार का सृजन जिसमें हमारे दैनिक संसार से भिन्न विधान रहते हैं, जहाँ काल, दिशा, विधि-निषेध, प्रामाण्य आदि के मापदण्ड विचित्र हो जाते हैं (जैसे, नाट्य में सीता-राम के अभिनय से रसानुभव) और जहाँ हमारी सत्यासत्य की मीमाँसा भी असाधारण हो जाती है। दूसरी ओर, कला अपनी शक्ति से आत्मा के स्वसंवेद्य चित् प्रकाश के ऊपर जाल के आवरण की भाँति छाये हुए 'व्यक्तित्व' को, क्षणिक ही सही, भंग कर देती है (चिदावरण भंग से रस निष्पत्ति—पण्डितराज जगन्नाथ)। कला अपने अङ्ग-प्रत्यङ्गों और सम्पूर्ण साधनों से एक ओर 'अपूर्व' का सृजन और दूसरी ओर 'पूर्व' का विसृजन रसानुभूति के क्षण में उपस्थित करती है। यह क्षण 'सुन्दर' के अनुभव का क्षण होता है।

(२)

ऊपर के कथन में अनेक शङ्कास्पद बातें होगी। किन्तु प्रस्तुत विषय में अग्रसर होने के लिए हमें इन्हें छोड़कर आगे चलना होगा।

साहित्य और साहित्य-कला में क्या अन्तर है? वास्तव में, जहाँ शब्द रहता है वहाँ अर्थ भी रहता है। शब्द आधार है, अर्थ आधेय है; शब्द शरीर है अर्थ आत्मा है; शब्द व्यक्त है, अर्थ अव्यक्त है; वाक् और अर्थ सम्पृक्त हैं पार्वती और परमेश्वर की भाँति। व्यक्त और अव्यक्त का यह अपूर्व संयोग साहित्य को उत्पन्न करता है। इस दृष्टि से सभी अर्थमय अभिव्यक्तियाँ साहित्य हैं। रंग और रेखा द्वारा चित्र, गति और लय द्वारा नृत्य, ध्वनि और ताल द्वारा संगीत तथा अन्याय प्रकारों से सभी कलाएँ अनेक अर्थों का उद्घाटन करती हैं और सभी 'साहित्य' के अन्तर्गत आ सकती हैं। परन्तु यह दृष्टि सत्य होने पर भी अत्यन्त सामान्य होने के कारण हमें ग्राह्य नहीं। अतएव हमें साहित्य के स्थान पर साहित्य-कला की, संकुचित ही सही, परिभाषा करनी चाहिये। शब्द और अर्थ का 'साहित्य' (सहित होना) तो सर्वत्र है, किन्तु जहाँ यह 'साहित्य' कला के उद्देश्यों को पूरा करता है अर्थात् जहाँ शब्दार्थ के माध्यम द्वारा रसमय जगत् का आविर्भाव रसिक के लिए होता है, जहाँ शब्द और अर्थ दोनों अपने आपको रसानुभूति के अधीन कर देते हैं और अपने लय, गति, ताल और सौष्ठव आदि गुणों द्वारा 'नूतन' का निर्माण करते हैं, वहाँ साहित्य कला की भूमिका को ग्रहण करता है। प्रस्तुत विषय साहित्य-कला में सौंदर्य के स्वरूप का विवेचन करने के लिये है।

वास्तव में प्रश्न यह है: शब्द और अर्थ पृथक और सहित रह कर किस प्रकार रस-सष्टि करते हैं? इनके कौन और कैसे प्रभाव हैं जिनके द्वारा आत्मा को रस का अनुभव होता है? साहित्यिक कलाकार किन उपायों, योग और योजनाओं द्वारा वह 'प्रभाव' शब्दार्थ द्वारा प्रकट करता है जिसे 'रस' कहा जाता है और जिसकी निष्पत्ति अन्यान्य कलाएँ अपने-अपने साधनों से करती हैं? साहित्य-कला के इन प्रयत्नों और उपायों का संक्षिप्त विवेचन ही यहाँ किया जा सकता है।

बिना अर्थ के भी शब्द में स्वकीय कलात्मक शक्ति है जिसके द्वारा वह रस-निष्पत्ति में समर्थ होता है। शब्द नाद का विशेष रूप है। अतएव नाद के समान ही श्रुति और स्वरों के आरोह-अवरोह से निष्पन्न गीत की भाँति शब्द में संगीत का 'सर्वस्व' सार अनुभव किया जा सकता है। संगीत की लयात्मक गति उसका मुख्य गुण है। इसके प्रभाव से श्रोता के मन की साधारण, साँसारिक गति 'लय' का रूप धारण करती है जिसका प्रथम स्फुरण उस स्थिति में होता है जब श्रोता 'गत' और 'अनागत' रूपी समय-प्रवाह को भूलकर एक निष्पन्द, सतत 'काल' का अनुभव करता है। इस स्थिति को 'आत्म-विस्मृति' साधारणतया कहते हैं। वस्तुत: काल-पाश और अनुभवों के जाल से निर्मित मनुष्य के सांसारिक 'व्यक्तित्व' के अनावरण से 'आत्मानुभूति'

का यह विशेष क्षण होता है। संगीत की पहली झनक, नाद का प्रथम प्रहार, यदि 'लय' अर्थात् व्यक्तित्व का 'विलय', 'आत्मानुभूति' बनाम आत्म-विस्मृति उत्पन्न नहीं करते तो रसिक या संगीत में कहीं दोष अवश्य है। साहित्य शब्दों के द्वारा संगीत के इस मार्मिक गुण का उपयोग करता है। इसी गुण से साहित्य-कला में मात्रा, छन्द, तुक, नियमित गति आदि का आविर्भाव हुआ है। उच्चकोटि की कला में कितना साहित्य है और कितना संगीत, बताना कठिन होता है। वस्तुत: साहित्य शब्द-निर्मित संगीत है और संगीत स्वरों का साहित्य।

पदों की योजना से 'शब्दों का संगीत' बनाम साहित्य उत्पन्न होता है। परन्तु प्रत्येक पृथक् शब्द में, अर्थ को ध्यान में न लाकर भी, श्रव्य, दृश्य, स्पर्श तथा दूसरे ज्ञानेन्द्रियों के गुण भी रहते हैं। रूप के अनन्तर शब्द का अनुभव मनुष्य के लिये 'सुव्यक्त' हुआ है। शब्दों के संसार में विचरने वालों का अनुभव है कि कुछ शब्द 'कोमल', कुछ 'कठोर', कुछ आयास उत्पन्न करने वाले, अन्य 'विश्रान्ति' देने वाले, कुछ भारी, कुछ हल्के, कुछ कटु और दूसरे मृदु, कुछ मधुर और दूसरे तिक्त, आदि न जाने कितने मनोभावों को जाग्रत करने वाले होते हैं। प्रत्येक अनुभव को व्यक्त करने के लिए शब्द हैं। शब्द को प्रकट करने के लिये 'रूप' हो या न हो, परन्तु प्रत्येक रूप का व्यंजक शब्द मिलेगा। इस प्रकार शब्दों का संसार पूर्ण है; उसमें अखिल रूप और अर्थ विद्यमान रहते हैं। जब कोई नूतन 'अनुभव' जन्मता है उसे शब्द ही शरीर प्रदान करते हैं। इसीलिए शब्दों से निर्मित सृष्टि बनाम साहित्य में यदि अखिल विश्व के अखिल गुण मौजूद हों तो आश्चर्य ही क्या?

शब्दों की परस्पर संगति एक विशेष चमत्कार उत्पन्न करती है। 'संगति' का अर्थ है: अनेक तत्त्वों का ऐसा सम्वाद और सामंजस्य कि वे परस्पर अन्योन्य के प्रभाव को बढ़ावें और एक सजीव 'एकता' उत्पन्न करें। साहित्य-कला में शब्दों की संगति न केवल 'अर्थ' की एकता व सामंजस्य में प्रकट होती है, अपितु ध्वनि की 'एक-वाक्यता' को भी उत्पन्न करती है। एक दूसरे से सटा कर शब्द रखने से वाक्य या संगति उत्पन्न नहीं होते। शब्द-संगति का जन्म कलाकार की उस कलात्मक प्रतिभा से होता है जिससे स्रोत् की भाँति स्वयमेव सम्पूर्ण सौंदर्य का सृजन होता है। इसके लिए कलाकार का 'पृथक प्रयत्न' आवश्यक नहीं। इसीलिए कलात्मक साहित्य में शब्द-योजना में अपूर्व स्वाभाविकता और सहज गुण विद्यमान रहते हैं जिन्हें अधपके साहित्यकार कृत्रिम और चेतन प्रयत्नों से उत्पन्न नहीं कर सकते।

शब्द अर्थ का **वैखरी** या 'प्रकट' रूप है और अर्थ शब्द का 'परा' या 'अप्रकट' मूल है। 'परा' साक्षात् आत्मा है जो अविभक्त आलोक या चेतना के रूप में हमारे अस्तित्व का उद्गम है किसी अज्ञेय कारण से, ठीक उसी कारण से जिससे बीज अंकुर के रूप में परिणत होने के लिए प्रवृत्त होता है, उस अनन्त चेतना-लोक में स्पन्द होता है और वह 'आलोक' व्यक्त होने के लिए उन्मुख हो जाता है। यह वाणी का 'पश्यन्ती' रूप है। परन्तु यह अखण्ड आलोक शनैः शनैः 'नाद' का रूप धारण करता है। यह 'मध्यमा' वाणी है। और अन्त में वह अखण्ड-आलोक नाद में परिवर्तित होकर खण्डश: विभक्त रूपों में शब्दों के द्वारा प्रकट हो जाता है। शब्द चेतना के खण्ड हैं, आलोक के कण हैं, आत्मा की सजीव, स्पन्दन करने वाली अभिव्यक्तियाँ हैं। फलत: शब्द में शक्ति रहती है। नाद रूप में व्यक्त हुआ शब्द अव्यक्त आत्मा से सम्बद्ध है। वह शब्द हमें 'आत्मानुभूति' तक ले जा सकता है जो कला की अनुभूति है। शक्तिशाली शब्द का प्रयोग प्रकाश के लोक का उद्घाटन कर सकता है। साहित्य के लिए यह प्रयोग इसका प्राण है क्योंकि हम अपने कला के अनुभव में '**वैखरी**' स्तर पर ही नहीं रुकना चाहते। शब्दों का सुप्रयोग हमें कहाँ तक 'श्रुत' से 'अश्रुत' की ओर, **वैखरी से** 'मध्यमा', 'पश्यन्ती' और 'परा' के अचिन्त्य आलोक की ओर, सीमित से असीम की ओर ले जाता है—यह साहित्य की परख के लिये अच्छी कसौटी है। यदि हम शब्द की इस केन्द्रोमुखी

और केन्द्रविमुखी गति को समझ सकें, शब्द कैसे जन्मता है, इसे जान सकें तो हमें निश्चय ही अध्यात्म-रहस्य को समझने की कुंजी मिल जाये।

अर्थ मूल है, शब्द उसके अंकुरित पुष्प और पल्लव। अर्थ अपनी अभिव्यक्ति के लिये शब्द की ओर, बीज जैसे अंकुरण के लिये, गमन करता है और शब्द अपने आस्तित्व के लिये, शरीर जैसे प्राणन के लिये अर्थ की ओर चलता है। शब्द और अर्थ के बीच की यह गति वास्तव में साहित्य का रहस्य है। स्यात्, यह मानव के अस्तित्व का रहस्य भी है।

वैदिक साहित्य में शब्दार्थ के इस रहस्य को समझने के लिये वाणी को 'गौ', 'वृषभ' आदि से उपमित किया है। किन्तु सबसे सुन्दर उपमा वाणी को 'उषसी, सुवासा' अर्थात् सुन्दर वस्त्रों से सजी प्रियतमा युवती के समान कह कर दी हैं। सकामा युवती का 'अभिप्राय' है, किन्तु वह उसे 'प्रियतम' पर ही प्रकट कर सकती है। यह 'अभिप्राय का उद्घाटन' कैसे हो? क्या निर्लज्ज होकर कहे? शालीनता की हानि होगी। क्या रूठकर अवगुंठन में मुँह छिपाले? यह विषम आचरण होगा। उसका चीर कितना झीना हो कि प्रियतम उसके मनोहर अंगों को निहार कर स्वमेव मुग्ध हो आत्म-निवेदन करे। यदि अत्यन्त झीना हुआ तो जुगुप्सा का भाव उत्पन्न हो सकता है। भय है प्रियतम विमुख न हो जाये। और, यदि संवरण अधिक गाढ़ा हुआ तो सारा प्रयत्न ही विफल हो जाये। साहित्य से वाणी का प्रयत्न उस सुवासित विलासिनी के प्रयत्न की भाँति है जो अपनी शालीनता की रक्षा करती हुई अपने मनोगत भाव को व्यक्त करती है।

इसी उपमा को थोड़ा और लीजिये। सुन्दरी के रूप के अनुसार वस्त्र और भूषा होनी चाहिये (Consent of sound and sense) इससे उसका सौन्दर्य बढ़ेगा। अलंकार हों, किन्तु कृत्रिमता नहीं, आडम्बर नहीं। नवीनता और विविधता हो, किन्तु आश्चर्य चकित करके 'प्रियतम' को मूढ बनाने के लिये प्रदर्शन नहीं। सजा‍ ‍ो, किन्तु सरलता और स्वाभाविकता का ह्रास न करे। और, इतनी ऋजु और 'निगूढ-भावा' भी न हो कि अपना मन्तव्य प्रकट भी न कर सके। इस प्रकार की 'विकट' वाणी कालिदास, और अनेक कवि व लेखकों की है जो ओज, प्रसाद और माधुर्य गुणों से ओत-प्रोत होती है। यह शब्द-शरीरा वाणी अपने झीने चीर में से अंगों को दिखाती हुई भी अपनी शालीनता, अभिजन और गाम्भीर्य की रक्षा करती है, कुल-वधू की भाँति, वार-विलासिनी के समान नहीं।

(३)

'अर्थ' साहित्य की आत्मा है। शब्द के माध्यम से अर्थ की अभिव्यक्ति और अनुभूति 'साहित्य' है तथा शब्दार्थ के माध्यम से सौन्दर्य की अभिव्यक्ति और रसानुभूति 'साहित्य-कला' है जो हमारा मन्तव्य विषय है। किन्तु जैसा कि पहले प्रतिपादन किया जा चुका है शब्द और अर्थ का 'साहित्य' अखण्ड है, अतएव शब्द के द्वारा जिस सौन्दर्य का सृजन होता है वह अर्थहीन नहीं हो सकता और न इसका विपरीत ही सम्भव है। फिर भी यह मानना होगा कि शब्द इन्द्रिय गम्य, व्यक्त पदार्थ है जिसमें खण्ड या अन्तर हो सकते हैं और 'अर्थ' बुद्धिगम्य, आन्तरिक वस्तु है जो अखंड प्रवाह के रूप में ही अनुभूत होता है। प्रस्तुत अंश में हम 'अर्थ' के माध्यम से स्पष्ट सौन्दर्य पर विचार करेंगे।

'सुन्दर' वस्तु, चाहे वह राग हो या चित्र, मूर्ति हो या भवन, उपन्यास हो या काव्य, पूर्ण और अखण्ड होती है। खण्डित और अपूर्ण वस्तु हमें ग्राह्य नहीं होती। इसलिये 'सुन्दर' वस्तु में अवयवों का विन्यास स्वाभाविक और सहज होता है जिससे उसकी सम्पूर्णता निर्बाध रहे। किसी मूर्त्ति, भवन, राग या चित्र को लीजिये। यदि वह कलाकार की सौन्दर्यावगाहिनी प्रतिभा की उपज है और उसमें 'प्रसव' की भाँति पल कर प्रसूत हुई है तो वह अपने अंग-प्रत्यंगों से पुष्ट व पूर्ण होगी। विकलाङ्ग कला-कृति परिपक्व प्रतिभा की प्रसूति नहीं मानी जाती। साहित्य-कला-कृतियों में तो इस गुण की रक्षा के लिये अरस्तू आदि पाश्चात्य

विचारकों ने देश, काल और घटना की एकताओं का आविष्कार किया है, यद्यपि इनकी संकुचित परिभाषा करना उचित नहीं। वास्तव में कला-कृति 'एक' और 'सम्पूर्ण' होती है तो एक में एकता लाने का प्रश्न ही क्या। देश, काल और घटनाओं में व्यवधान से भी यदि काव्य के पूर्ण और पुष्टाङ्ग होने में बाधा न हो तो एकताओं की अपेक्षा व्यर्थ है। अब हमारे लिये दो प्रश्न उपस्थित हैं। एक साहित्य-कला में जिन्हें हम काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि नामों से पुकारते हैं वे मूर्त्त 'अर्थ' हैं या 'अर्थ-मूर्त्तियाँ' हैं या अर्थ-सामग्री से निर्मित भाँति-भाँति के 'भवन' हैं। या, संगीत की भाँति काल-क्रम में स्वरों के आरोह-अवरोह से रचित ये कृतियाँ अर्थों के आरोह-अवरोह से निर्मित भाँति-भाँति के राग और रागनियाँ हैं। चाहे इन्हें जिस रूप में देखिये, हमें पूछना है कि ये 'अर्थ-मूर्त्तियाँ' किस प्रकार कलाकार के आध्यात्म-लोक से प्रकट होकर रसिक तक आती हैं और किस प्रकार इनके सन्ध्यान (Contemplation) से वह उन मूर्त्तियों के साक्षात्कार से रस का अनुभव करता है? दूसरा, वे कौन से अर्थ हैं जिनके द्वारा साहित्यिक कलाकार इनका निर्माण करता है? इस स्थल पर अन्य अनेक प्रश्न भी उठते हैं, जैसे : ये आध्यात्म-लोक के निवासी 'अर्थ' किस प्रकार शब्दों का शरीर धारण कर हमारे मानुष-लोक में उतरते हैं? कौन सी अर्थ-निर्मितियाँ सुन्दर होती हैं और क्यों? इत्यादि। हम इनका उत्तर यहाँ न दे सकेंगे। परन्तु उत्तर देने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि साधारणजन का यह विचार कि कलाकार जगत् का अनुकरण करता है और प्रकृति और समाज से अनुभव द्वारा सामग्री बटोर कर कला का निर्माण करता है—निर्भ्रान्त नहीं है। वास्तव में कलाकार अन्तर्मुखी, अनुध्यान-परायण होकर ही अर्थों के द्वारा अपनी कृति को गर्भ के रूप में रखकर ही प्रसव देता है। यदि बाहर से प्राप्त सामग्री से कला का निर्माण होता तो सभी कलाकार एक ही वस्तु को देखकर समान रूप से उसका वर्णन करते। वस्तुतः 'अर्थों' का उद्गम अन्तरालोक है, बाह्य-जगत् उस 'आलोक' को रूप, स्थान और आधार प्रदान करता है। और, यही विज्ञान और कला में अन्तर का आधार भी है।

दूसरे प्रश्न का उत्तर पहले देंगे। हमने पहले ही कहा है कि मनुष्य का एक 'स्व' या व्यक्तित्व' होता है जो उसके जीवन की परिस्थितियों से बना हुआ जाल या आवरण है और उसके आध्यात्म-तत्त्व को ढंके रहता है। यह 'स्व' आकस्मिक होते हुए भी कार्य-कलाप के लिये जितना आवश्यक है उतना ही 'रस' की अनुभूति के लिये आवश्यक। अतएव जिन-जिन अर्थों के सन्ध्यान से 'स्व' का निगलन और 'परालोक' का उद्घाटन होता है, जिनके प्रभाव से सामयिक, आकस्मिक व्यक्तित्व का निराकरण होकर 'सनातन' और 'चिरन्तन' का अनुभव जगता है, उन्हीं अर्थों के माध्यम से कलाकार कला की रचना करता है। सबसे पहले ये अर्थ दिव्य और भव्य भाव हैं जो हमें 'समय' और 'सीमा' के बन्धन से मुक्त करते हैं, जैसे समुद्र, गिरि-शिखर, विशाल वन, अछोर आकाश, पवन, अग्नि, गगन-चारी प्रकाश-पिण्ड, ज्योति, जल-स्रोत, उषा और सन्ध्या, हिम-राशि। इनका चिन्तन हमें मानुषिक-सीमाओं से विमुक्त करता है। मनुष्य के आदि काव्य इन्हीं दिव्य भावों पर केन्द्रित हैं। यदि साहित्य-कला में से इन्हें निकाल दिया जाय तो इसका रसोत्पादक या कलात्मक प्रभाव अवश्य ही आधा रह जायगा। इसके अनन्तर वे पदार्थ हैं जो दिव्य तो हैं साथ ही इनका दर्शन चमत्कार और चर्वणा को जगाता है, जैसे, पुष्प, कमल और कमल-वन, सरित्, सरोवर, लता, वृक्ष, पल्लव, मंजरी, भ्रमर और पक्षी तथा उनका कलरव आदि। वे काव्य-सृष्टि के सजीव प्राणी हैं। यह न समझना चाहिये कि कलाकार ने इन्हें ज्यों का त्यों बाहर से उठा लिया है—क्योंकि कवि या चित्रकार या मूर्तिकार का 'कमल' अनेक दिव्य और कलात्मक भावों से ओत-प्रोत होने के कारण साधारण कीचड़ के कमल से भिन्न है। ये दिव्य भाव वे अर्थ हैं जिन्हें केन्द्र बना-

कर विश्व-साहित्य का बड़ा अंश निर्मित हुआ है।

परन्तु मनुष्य 'दिव्य' में चिरकाल तक टिकने के बाद आगे बढ़ा। उसके सम्मुख 'मानुष' भाव प्रकट हुए। सम्भवत: वैदिक काव्यों के अनन्तर वाल्मीकि ने सर्व-प्रथम 'मानुष' अर्थ को काव्य में स्थान देकर आदि कवि का पद पाया। वैदिक काव्य में अग्नि-ज्वाला, जल-स्रोत, ज्योति का उदयास्त, आकाश में बादलों की दौड़ और न जाने कितनी दिव्य घटनाओं की अर्थ-मूर्त्तियाँ हैं जिनमें हमारा साधारण 'स्व' विस्मृत हो जाता है। परन्तु वाल्मीकि-काव्य में दिव्य-अर्थ के गर्भ में से प्रेम, करुणा और वीरता के 'मानुष' भाव प्रगट होते से दिखाई पड़ते हैं। ये मानुष-लोक के सनातन भाव हैं और साहित्य-कला के कलेवर में प्राण की भाँति ओतप्रोत हैं, जीवन की नाईं जगमग जगते हैं। स्यात्, अन्य भाव इन्हीं के चारों ओर ग्रह-उपग्रहों की भाँति घूमते हैं। स्यात्, प्रेम ही मूल-भूत अर्थ है और करुणा और वीरता जल-वीचि के समान इसीके परि-स्थिति-वश परिणाम और विकार हैं। प्रेम जो कला में शृङ्गार का नाम ग्रहण करता है मनुष्य का मौलिक अनुभव और प्रेरणा है। प्रेम का मूल-स्रोत आध्यात्म-लोक है। जब यह व्यक्त होता है तो अनेक 'वेदनाओं' का रूप ग्रहण करता है, अनेक-विधि अनुभूतियों को जगाता है और अनगिन घटनाओं को प्रेरित करता है। समाज का सृजन करता है यह प्रेम; धर्म और अधर्म, पुण्य और पाप, विधि और निषेध के व्यापक विचारों को जन्म देता है। साहित्य-कला और अन्य कलाओं में दिव्य भावों के अनन्तर यही 'मानुष' भाव हैं जो इसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का निर्माण करते हैं। यदि इन्हीं 'वेदनाओं' को सरल स्वरूप में व्यक्त किया जाता है तो ये उत्तम रस-काव्य (Lyrics) हो जाते हैं। परन्तु कलात्मक प्रतिभा की 'शरीरीकरण' स्वाभाविक प्रवृत्ति है जिस कारण ये वेदनाएं घटना-चक्र और अभिव्यंजक 'प्रतीकों' (Symbols) को जन्म देती हैं। 'घटना' वेदना का स्वाभाविक शरीर है। घटना काल से घटित होती है और 'काल' और 'स्थान' या 'स्थिति' प्रदान करती है, किन्तु 'वेदना' 'घटना' या 'स्थान' को 'आरोह अवरोह' रूप, 'गति', विकास' उच्छ्वास' प्रदान करता है। 'कला' और 'स्थान' का यह सम्बन्ध व्यक्त और अव्यक्त, बीज और अंकुर का सम्बन्ध है। 'घटना' काल का क्रम ग्रहण कर अपने लिये जीवन और जगत् का माध्यम ढूँढ़ती है और अभिव्यंजक सामग्री को। यह सामग्री 'प्रतीकों' के रूप में होती है। 'प्रतीक' किसी अव्यक्त वेदना या मानुष 'अर्थ' या 'आत्मलोक' के लिये प्रकट पदार्थ हैं। कला में ये प्रतीक ही दृष्टि-गोचर होते हैं। 'राम' और 'सीता', चाहे ऐतिहासिक व्यक्ति हों या न हों, सभी कलाओं के लिये अनेक भावों, वेदनाओं और अर्थों के 'प्रतीक' हैं, उनके जीवन की एक एक घटना महान् 'अर्थ' की अभिव्यक्ति है। इति-हास के 'राम' इस कवि-प्रतिभा-सृजित 'राम' की फीकी परछाईं हैं। 'राम' की भाँति ही, कवियों ने अनेक वीर और वीराङ्गनाओं के प्रतीकों को अपने अन्तरात्मा के आलोक से गढ़ा। ये प्रतीक ऐतिहासिक या अर्द्ध-ऐतिहासिक भी हुए। इतिहास ने स्यात् किसी चौराहे पर लगे हुए दिशा-सूचक बाण का काम दिया हो। परन्तु कला ने जिस प्रतीक का आविष्कार किया, उसके सम्मुख इतिहास का 'पुरुष' न केवल प्रेत की छाया की भाँति दिखाई पड़ता है, वह असत्य, धुँधला और 'अपराधी' सा प्रतीत होता है। कौन स्वीकार करेगा राम-कथा के इतिहास को (यदि वह मिल सका तो भी) वाल्मीकि और तुलसी के मानस-लोक में जन्मी हुई राम-कथा के सामने ? इसी प्रकार विश्व-साहित्य में असंख्य प्रतीक कला-सृष्टि में हमारी वास्तविक कही जाने वाली सृष्टि से भी अधिक सत्य, सजीव होकर जगमगाते रहे हैं। वस्तुत: कलाकार की मौलिक प्रतिभा की पहचान ही यह है कि वह अपने अन्तराल से 'अर्थालोक' को लेकर ज्योति और जीवन से जगमग करते 'प्रतीकों' का सृजन करे। उच्छिष्टभोजी कवि पूर्व-निर्मित प्रतीकों का प्रयोग करते हैं।

इनके अतिरिक्त कवि-प्रतिभा ने दिव्य और मानुष अर्थों को वहन करने के लिये दूसरे 'प्रतीकों' का

आविर्भाव किया है। एक ऐसा प्रतीक 'नियति' या 'दैव' (Fate, Destiny) है। विश्व-साहित्य में यह 'प्रतीक' कितना व्यापक है, हम इसे यहाँ न ले सकेंगे। आशा और निराशा, वैभव और विपत्ति, शक्ति और दैन्य, जय और पराजय, त्याग और परिग्रह, आदि अनेक 'अर्थ' हैं जो साहित्य में ओत-प्रोत हैं। हमने इन्हें 'द्वन्द्व' के रूप में इसलिये लिया है कि ये दोनों एक ही भाव के दो छोर हैं। आशा एक छोर निराशा दूसरा छोर। एक ही शक्ति एक छोर से दूसरे छोर तक लहरें मारती है। कला के लिये ये जीवित प्रतीक अत्यन्त महत्त्व रखते हैं। ये मानस लोक की घटनाएं हैं। हमारे स्थूल जगत में व्यक्त होने के लिये इन्हें स्थूल-शरीर चाहिये। अतएव दीपक, स्रोत, पक्षी, पुष्प, तारा-नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र आदि का उदय और अस्त, ऋतुएं, तट, तरनी, शस्य, और न जाने क्या क्या वस्तुएं हमारे मनोभावों के वहन करने वाले स्थूल प्रतीक हैं। प्रकृति को केवल सजा या पृष्ठभूमि-प्रभाव के लिये मानने वाले सम्भवत: साहित्य की उद्गम-भूमि को नहीं समझते। परन्तु समुद्र की भाँति साहित्य में विस्तार है और गाम्भीर्य भी। हम यहाँ विस्तार और गाम्भीर्य दोनों का ही विवेचन कर रहे हैं, न कि केवल विस्तार का।

आगे चलने से पूर्व एक बात और स्पष्ट हो जानी चाहिये; साहित्य शब्दार्थ-मूर्ति है। 'अर्थ' घटना का रूप धारण करके काल-क्रम से आरोह-अवरोह करता है, ठीक संगीत में 'मूर्च्छना' की भाँति। परन्तु साहित्य को छोड़कर 'अर्थ' किसी कला में नहीं रहता। पाठक अधीर न हों। संगीत स्वरों का विस्तार है। स्वरों का वैभव संगीत का शुद्ध 'रस' है। यदि वह प्रेम, द्वेष या किसी अन्य भाव को व्यक्त करता है तो स्वरों के माध्यम से 'अर्थ' को ही व्यक्त करता है और उस दशा में वह 'साहित्य' हो जाता है। संगीत का स्वकीय गुण 'अर्थ' नहीं है, यद्यपि संगीत और साहित्य व्यवहार में अलग नहीं किये जाते। इसी प्रकार रंग और रेखा से कहानी कही जा सकती है, मूर्त्ति और भवन अनेक मन्तव्यों को प्रकट कर सकते हैं और करते हैं। किन्तु इन कलाओं का आत्मीय रूप अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं है। उदाहरणार्थ, चित्रकला में, रेखा की गति और लय, रंगों का उदार वैभव, छाया और प्रकाश का परस्पर सन्निपात और समानुपात, उनका सन्तुलन और वेग, उनकी अनेक भावों की ओर ले जाने वाली शक्ति, यही 'चित्र' का शुद्ध 'आनन्द' है। स्पष्ट है कि साहित्य का मुख्य उद्देश्य अर्थाभिव्यक्ति है यद्यपि उसमें संगीत, चित्र, मूर्त्ति और स्थापत्य के सभी गुण गौण रूप से प्रधान उद्देश्य की वृद्धि और गौरव के लिये विद्यमान रहते हैं, और सभी कलाओं में साहित्य का प्रधान गुण—अर्थात् अर्थ—उनके अपने अपने लक्ष्यों की पूर्ति में सहायक होता है।

प्रश्न यह भी है। साहित्य में जो अर्थ मूर्त्त होते हैं, क्या वे केवल मनोवेग (Emotions) ही हैं या तर्क और बुद्धि जन्य 'विचार' (Thought) के लिये भी स्थान है? क्या दर्शन और विज्ञान भी साहित्य-कला में 'रस' उत्पन्न कर सकते हैं? उत्तर यह है। जो भी पदार्थ जीवन की भाँति तरल, गतिमय, घटना चक्र में 'फिट' हो जाने वाला, और 'रसनीय' हो सकता है वह साहित्य का विषय भी हो सकता है। दर्शन और विज्ञान का विकास, विशेषत: पश्चिम में, जीवन की भूमि से उत्तरोत्तर अलग होकर हुआ है। इसी-लिये उसके शुद्ध तर्कों में पत्थरों का सा भार तो है परन्तु जीवन की रसमय तरलता और उर्वरता नहीं। इसके अनेक लाभ भी हैं जिनसे हमें इंकार नहीं। परन्तु साहित्य-कला के लिये नदी में किनारे पर पड़े हुए प्रस्तर-खण्डों की भाँति ये भारी पदार्थ हैं; आवश्यक तो हैं क्योंकि नदी को किनारे आवश्यक हैं और 'तल' की भी आवश्यकता है। अतएव दर्शन और विज्ञान साहित्य-स्रोत में तट और तल बांधने का काम देते हैं। संक्षेप में, कोई तर्क या युक्ति जीवन से (जो भाव-भूमि है) सम्बद्ध होकर ही साहित्य-कला में प्रवेश पाते हैं, अन्यथा नहीं।

साहित्य-कला में 'शब्दार्थ' जमी हुई जड़ हिमानी की भांति पिघल कर बहने योग्य हो जाता है। इसका उद्घाटन, विकास और विस्तार होता है। साहित्य-मूर्ति अर्थों का द्रव-प्रवाह है। कलाकार अनेक विधियों से इस प्रवाह को सजीव बनाता है। अन्तर्द्वन्द्व (Conflict), संकट (Crisis), चरमान्त(Climax) संघर्ष (Love triangle) आदि अनेक उपाय हैं जिनके द्वारा 'अर्थ' को अधिक समर्थ बनाया जाता है जिससे इसका प्रभाव हमारे संकुचित 'व्यक्तित्व' को चीर कर 'आत्मानुभूति' यानी 'रसानुभूति' तक हमें ले जा सके। इसका 'निर्वाह' (Conclusion या denouement महत्त्वपूर्ण होता है। किसी ने इसे स्वादु भोजन के उपरान्त शेष 'स्मृति' के समान ठहराया है या राग सुनने के बाद इसके अनुरणन या गुंजन की भाँति। साहित्य को मूर्त प्रवाह मानकर इसके 'निर्वाह' को हम स्रोतस्विनी के अनन्त समुद्र में मिल जाने की भाँति मान सकते हैं। साहित्य में 'व्यक्त' हुआ 'अर्थ' किसी अव्यक्त, अनन्त और आन्तरिक जीवन की वेदना में मिल जाये। अव्यक्त से व्यक्त की ओर, और फिर अव्यक्त में विलीन हो जाना) अव्यक्तादीनि भूतानि-व्यक्त मध्यानि भारत-इत्यादि या 'अदर्शनादापतित: पुनश्चादर्शनं गत:) अर्थात् जो जीवन के उदय से अस्त, अदर्शन से अदर्शन, रहस्य से दूसरे रहस्य, पूर्व छाया से पश्चिम छाया, का मार्ग है वही साहित्यकला में प्रथम भूमिका से लेकर निर्वाह तक का मार्ग हैं। कला के लिए जितने 'प्रकाश' और अभिव्यक्ति की आवश्यकता है उससे भी अधिक 'तिमिर' और रहस्य की। कला में 'अप्रकट' और 'अनभिव्यक्त' ही उसका सार है : वह निर्वचन और व्याख्या की सीमा से पार होने पर भी हृदय-ग्राह्य होता है; बुद्धि से न समझे जाने पर, तर्क से न पकड़े जाने पर भी, जीवन और अपने ही 'आत्मा' की भाँति, हमें स्वीकार्य होता है। यह कला का तत्त्व सौन्दर्य-बोध का प्राण है, और साहित्य में 'प्रवेश' और 'निर्वाह' के अवसरों पर इसकी अनुभूति तीव्र हो उठती है।

(४)

अन्य कलाओं की भाँति, साहित्य-कला कुछ उपायों का उपयोग करती है जिनसे इसका शब्दार्थ-जन्य सौंदर्य-तत्त्व अधिकाधिक समर्थ हो सके। उचित शब्दों के अभाव में हम इनको 'कला-योग' कहेंगे।

हमने स्वीकार किया है कि कला एक इङ्गित है 'प्रकट' से 'अप्रकट' की ओर, व्यक्त से अव्यक्त की ओर इत्यादि। यह मान्यता कला-योगों का आधार है। कलाकार का तात्कालिक सम्बन्ध शब्द, अर्थ, रंग, रेखा आदि से रहता है। कृति के काल में वह इसी तत्त्व को लेकर कला का गठन करता है। उसके मनोभावों का व्यक्त कृति में 'अनुवाद' कला के रहस्यों में से एक है। रसिक भी इसी व्यक्त तत्त्व का अनुभव करता है। वह रूप, रंग, ध्वनि, स्वर आदि को मन सहित इन्द्रियों से ग्रहण करता है। परन्तु वह 'प्रकट' तत्त्व किसी 'अप्रकट' की ओर संकेत है। सुन्दर वस्तु की सफलता की माप इस 'प्रकट' और 'अप्रकट' दोनों में सजीव और गतिमय सम्बन्ध पर निर्भर है। स्थापत्य की अपेक्षा मूर्ति में और मूर्ति की अपेक्षा चित्र में, तथा इसी प्रकार अपेक्षा कृत संगीत में और सर्वाधिक साहित्य में, यह गतिमान सक्रिय सम्बन्ध रहता है। शब्द और शब्द-मूर्त्तियों की ओर से अर्थ की ओर और अर्थ से अर्थ के आधार आत्मालोक की ओर, यह अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी पुन: पुन: होने वाला व्यापार, साहित्य में रसास्वादन का रहस्य है। साहित्य-मर्मज्ञ आनन्दवर्द्धन ने इसको 'सरस्वती का निष्पन्द' कहा है। वास्तव में, यह गति 'चर्वणा' को जन्म देती है जिससे 'चमत्कार' या रस का साक्षात्कार होता है। गतिहीन काव्य निर्बल होता है और असुन्दर।

ध्वनि या स्फोट सबसे पहला कला-योग है। जिस प्रकार वीणा के एक तार को एक बार छेड़ देने पर भी वह देर तक झनझनाहट करता है, उसी प्रकार साहित्य में एक पद, या पद-समूह, या कोई लय, छन्द, गीति, अर्थ या वाक्य, एक बार प्रयुक्त होने पर, आलोक और भावों का कुछ काल तक टिकने वाला 'स्पन्दन' प्रारम्भ

कर देता है। इसे ही 'ध्वनि' कहा गया है। अर्थालोक के अकस्मात् और अप्रत्याशित क्षण में फूट उठने के कारण इसे वैयाकरण स्फोट भी कहते हैं। कुछ भी कहा जाय, काव्यकला में 'व्यक्त' से 'अव्यक्त' का अकस्मात् उद्घाटन, जैसे चिनगारी से विशाल ज्वाला का उत्थान, या झरोखे से झांकने पर विस्तृत दृश्य का वितान, उसके सौन्दर्य का बीज है। ध्वनि साहित्य में एक विरोधाभास (Paradox) का आधार है। कविता या साहित्य का कोई रूपक कितनी बात कहता है और कितनी बात अनकही छोड़ देता है? यदि सब कुछ कह दिया तो अनुचित; यदि कुछ न कहा तो कहने से ही क्या? कवि कितना कहे, कितना न कहे, और कैसे थोड़ा कहने से ही बहुत सा 'अनकहा' अर्थ रसिक तक पहुँच जाये? कहे से अनकहे तक और 'श्रुत' से 'अश्रुत' तक पहुँचने का मार्ग और विधि 'ध्वनि' के द्वारा समझ में आता है।

क्योंकि 'ध्वनि' कला और विशेषत: साहित्य-कला का बीज है, इसलिये इसमें 'प्रस्तुत' और 'प्रकृत' की अपेक्षा 'अप्रस्तुत' और 'अप्रकृत' का अधिक जोर रहता है। 'अप्रस्तुत' के द्वारा 'प्रस्तुत' का प्रस्ताव साहित्य में महत्वपूर्ण कला-योग (artistic device) है। सामान्यत: यह योग वक्रोक्ति और अलंकार का मूल-स्रोत है। साधर्म्य और सादृश्य अलंकार का सार होता है (उपमैका शैलूषी इत्यादि)। सादृश्य रखने वाले दो पदार्थों में अप्रस्तुत (उपमान) के द्वारा प्रस्तुत (उपमेय) को दिव्य, भव्य और लोकोत्तर बनाया जाता है, कल्पना को उदार और तीव्र किया जाता है और अनेक अविद्यमान भावों से भरा जाता है। न जाने क्यों 'अलंकार' का अर्थ साहित्य में 'सजावट' किया गया। सजावट शरीर और आत्मा का अभिन्न भाग नहीं, किंतु साहित्य में 'अलङ्कार' का एक विशेष और अनिवार्य कार्य है। साहित्य अलङ्कार के बिना असम्भव है, क्योंकि इसके द्वारा ही 'प्रत्यक्ष' और 'प्रस्तुत' को 'अप्रत्यक्ष' और 'अप्रस्तुत' के ऊँचे धरातल पर उठाया जाता है। अलङ्कार कला का प्रधान साधन है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण महाभारत काव्य में मिलता है जिसमें महाकवि ने अठारह दिन में होने वाले कल्पनातीत और भयकर जन-क्रंदन को अलङ्कार की शक्ति द्वारा हृदयहारी उदार दृश्यों में रूपान्तरित कर दिया है। प्रस्तुत का रूपान्तरण (Transformation of Nature) कला के मन्तव्यों में से एक है। अलङ्कार क्रिया और वक्रोक्ति के द्वारा यह पूरा होता है। यह क्रिया (Metaphoric activity) कवि-प्रतिभा का प्रथम प्रसव है।

नवोन्मेष को जगाने वाले प्रतीकों का सृजन साहित्य में अन्य कला-योग है।

कला-शक्ति का उपयोग हम सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा अन्य उद्देश्यों के लिये करते हैं; यदि उद्देश्य उचित है तो इसका उपयोग अनुचित भी नहीं। किन्तु कला स्वयं यथार्थवादी हो ही नहीं सकती। वह तो 'यथार्थ' और 'वास्तविक' के द्वारा हमें 'आदर्श' और 'अ-वास्तविक' भावों की ओर ले ही जायगी। 'चित्राश्व न्याय' कला को मान्य है, अर्थात् चित्र से वास्तविक अश्व हो ही नहीं सकता। वहाँ तो रंग और रेखाओं, प्रकाश और छाया की खेला है। इनकी शक्ति कल्पना को जगाती है और उस अवास्तविक तत्त्व की ओर ले जाती है जिसका स्थान और काल नहीं परन्तु जो भावों के रूप में रसिक के अन्तरालोक से ग्रहण किया जा रहा है। वह 'यथार्थ' नहीं, पर हम उसे अस्वीकार नहीं कर सकते। शाहनामे के 'सोहराब और रुस्तम' इतिहास की 'वस्तु' नहीं पर क्या हमने इस हृदयहारी कथानक को कभी अस्वीकार किया है? कभी 'नाइटिंगेल' और 'स्काई लार्क' बोले नहीं, परन्तु जब कवि ने उन्हें बुलाया तो हमसे उसे माने बिना न रहा गया। जरथुस्त्र, फौस्ट, आदम, राम और कृष्ण, जो साहित्य में ज्योति-पुंजों से जगमगा रहे हैं वे कहाँ हैं? परन्तु हृदय एक क्षण भी उनके 'न होने' पर विश्वास नहीं कर सकता। साहित्य-कला 'वास्तविक', 'सत्य', 'यथार्थ' या 'इतिहास' की सामान्य परिभाषा स्वीकार नहीं कर सकती।

साहित्य-कला के दूसरे योगों का संक्षेप में ही वर्णन

कर सकते हैं। जैसे, साहित्य में पुरातन और सुदूर इतिवृत्तों का ग्रहण, असाधारण और आश्चर्यजनक चरित्रों का चित्रण, कथा, पुराण, (Legends & myths) परी और पशुओं की कथाएं (Fairy Tales & Animal Stories) का वर्णन। जहाँ 'यथार्थ' का भी चित्रण किया जाता है, वहाँ भी उद्देश्य रसिक के मन में कल्पना को जगाने का ही प्रयत्न रहता है। उस 'यथार्थ' को 'रसनीय' बनाकर ही प्रस्तुत किया जाता है और, 'यथार्थ' में से भी 'विलक्षण' को ही ग्रहण किया जाता है।

भाषा के स्तर पर 'समस्यन्त' पदों का प्रयोग 'अर्थ' के प्रकाश को अधिक प्रवल बनाने का एक योग है। केवल 'संक्षेप' के लिये ही 'समास' का आविष्कार नहीं हुआ, बल्कि समास के द्वारा, शब्दों के मित प्रयोग के द्वारा, अमित अर्थ को वाहर फेंकने के लिये, चर्वणा को तीव्र बनाने के लिये, इसका साहित्य में उपयोग हुआ। पदों में नृत्य सी गति, वीणा आदि वाद्यों की झंकार, पवन, स्रोत आदि जैसा वेग, अनेक गन्ध और वर्णों का सौष्ठव, मूर्तियों जैसा मूर्त्तत्व और भवनों जैसा भव्य-विन्यास सभी रहते हैं, तभी तो साहित्य-कला में विश्व का सम्पूर्ण वैभव, हृदय के अखिल भाव, आत्मा का सारा प्रकाश, बुद्धि के सारे विलास और मन की गम्भीर वेदना सभी तो यथावत् उतर आते हैं। साहित्य में 'सृजन' और 'रस' की सीमाएं नहीं हैं।

(५)

अन्त में, साहित्य अपने शब्दार्थ रूप माध्यम और अन्य योगसाधनों द्वारा रसिक को परिस्थितियों के आकस्मिक जालों से बुने हुए, समय और सीमा के बन्धनों से आबद्ध 'व्यक्तित्व' से मुक्त कर उसे उदार अर्थों के प्रकाश में ले जाता है। यह अर्थों का आलोक रसिक के स्वकीय आत्मा का आलोक है। रसास्वादन की क्रिया में जितना 'स्व' को खाली किया जाता है उतना ही वह 'प्रकाश' और 'आनन्द' से भरता है। वास्तव में, 'सौंदर्य' कोई ठोस वस्तु नहीं है, उसका तत्त्व रसास्वादन की क्रिया है। वह क्रिया एक ओर आत्मा के आवरण को अनेक 'युक्तियों' से 'भंग' करती है (जिसका हमने ऊपर वर्णन किया है) दूसरी ओर अनेक रस-स्त्रोतों से जिनमें अर्थ की आलोक किरणें स्पन्दन करती हैं वेग से भर देती है। यह रसास्वादन की क्रिया ही साहित्य कला में सौंदर्य का सार है।
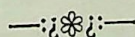
संस्कृत साहित्य में सौन्दर्य की कल्पनाएँ

डा० रा० ग० हर्षे, डी० लिट् (पेरिस)

वर्तमान भारतीय भाषा में सौन्दर्य शास्त्र Aesthetics का प्रतिशब्द बनाया गया है। मूलत: Aesthetic ग्रीक aisthetikas से आया है और उसका अर्थ देखना, समझना, इन्द्रियों से और मन से ग्रहण करना ऐसा समझा जाता है। इसका सम्बन्ध सौन्दर्य शास्त्र से वस्तुत: नहीं है, किन्तु अध्यात्मान्तर्गत मनोविज्ञान शास्त्र का वह एक भाग है। इन्द्रिय संनिकर्ष द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह किस अवस्था में और किस प्रकार से होता है इतनी ही उसकी मर्यादा समझी गयी थी। किन्तु जर्मन पण्डित बौमगार्टन ने इस शब्द का प्रथम उपयोग सौन्दर्य की वैज्ञानिक उपपत्ति के बारे में किया। भावना-जन्य ज्ञान का सौन्दर्य दृष्टि से विश्लेषण, कलात्मक वस्तुओं के दर्शन से प्राप्त होने वाला प्रतिक्रिया रूप आनन्द तथा सुख का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण और सदभिरुचि का विवेचन ऐसे सौन्दर्य शास्त्र के तीन प्रधान अंग बन रहे हैं।

नव भारत में सौन्दर्य शास्त्र की चर्चा अभी तक स्वतंत्र ढंग से कम हुई है। अंग्रेजी ग्रन्थों के द्वारा जो कुछ अभ्यास चल रहा है उसके आधार पर अपने शास्त्र की रचना करना अनुचित है। क्योंकि संस्कृत साहित्य में इस शास्त्र को बनाने के लिए काफी सामग्री विद्यमान है और इसका विचार प्रथम होना चाहिए। विद्वन्मान्य ग्रन्थों का अनुवाद सर्व साधारण की ज्ञानवृद्धि के लिए आवश्यक होगा किन्तु केवल अनुवाद से बौद्धिक स्वातन्त्र्य की हानि हो रही है। राजकीय स्वातन्त्र्य के समान बौद्धिक स्वातन्त्र्य की रक्षा करना भारतीय विद्वानों का सर्व प्रथम कर्तव्य है।

बर्नार्ड बोसांके ने सौन्दर्य शास्त्र का जो इतिहास लिखा है उसमें उन्होंने केवल युरोपीय साहित्य में और कलात्मक वस्तुओं के विषय में जो कुछ शुरू से लिखा गया था, उसका परामर्श लिया है। किन्तु भारतीय, फारसी, चीनी और दूसरे किन्हीं पौरत्स्य देशों में इस विषय पर जो कुछ हो उसका विचार उन्होंने छोड़ दिया है। इसलिये यहाँ संस्कृत साहित्य में किस तरह की सामग्री मिल सकती है इसका विचार प्रस्तुत करना आवश्यक है।

भारतीय संस्कृत साहित्य में खास तौर से सौन्दर्य शास्त्र का विवेचन आधुनिक ढंग से नहीं किया गया किन्तु सौन्दर्य शास्त्र बनाने का पर्याप्त साधन यहाँ उपलब्ध है इसमें कुछ संदेह नहीं है।

वस्तुत: वर्तमान काल में सौन्दर्य शास्त्र तत्त्व ज्ञान (Philosophy) का एक महत्त्वपूर्ण विभाग बन गया है। इसलिये तत्त्वज्ञान के अन्य सिद्धान्तों के साथ इसका विचार किया जाता है। लेकिन पाश्चात्य तत्वज्ञान ग्रीक तत्त्वज्ञ (Philosophers) के समय से उत्क्रान्त हो गया है और उसकी ऐतिहासिक कारण परम्परा भी दी जा सकती है। परन्तु भारतीय तत्वज्ञान के बीजभूत सिद्धान्त वेदों में ही उपलब्ध होते हैं और उनका दार्शनिक विवरण भाष्यकारों ने जगह जगह सैद्धान्तिक पद्धति से किया है। सौन्दर्य विषयक कल्पनाओं के अनुसंधान में वेदों से ही आरम्भ करना समुचित होगा किन्तु इसका सूत्र विस्तार करने की आवश्यकता होगी और इस प्रकार का विवेचन संभवत: विवाद्य होने पर साधक बाधक चर्चा करने को अवसर भी होना चाहिये। इसलिए थोड़े अवकाश में जो कुछ कल्पनाएं संस्कृत साहित्य में इधर उधर मिलती हैं उनका सुसूत्र विवरण देना समुचित होगा।

सौन्दर्य विविध प्रकार का होता है। निसर्ग-सौन्दर्य, जिसमें वनश्री, उष: काल, चन्द्रप्रभा, तारों की जगमगाहट इत्यादि दृश्यों का समावेश है। प्राणिमात्रों का सौन्दर्य

पशु, पक्षी, बालक, पुरुष या स्त्री में प्रतीत होता है। मनुष्यकृत कलाविलास का सौन्दर्य शिल्प, नाट्य, संगीत, काव्य आदि रूपों में परिणति पाता है।

सौन्दर्य का अनुभव पञ्चज्ञानेन्द्रियों से ही होता है। नेत्र से आप निसर्ग और मनुष्यकृत सुन्दर वस्तु देख सकते हैं। कर्ण से सुमधुर संगीत श्रवण करते हैं। नासिका का उपयोग सुवास ग्रहण करने के लिए होता है। और जिह्वा से विविध रस का अनुभव किया जाता है। सुखमय स्पर्श की संभावना त्वगिन्द्रिय से होती है यह सब लोक जानते हैं।

पञ्च ज्ञानेन्द्रियों से सौन्दर्य-ग्रहण करने वाली बुद्धि और तज्जन्य संस्कार मन में असंख्य भावलहरियाँ उत्पन्न करते हैं जिसका तात्कालिक और चिरंतन परिणाम मनुष्य प्राणियों के ऊपर होता है। इसलिए सौन्दर्य वस्तु चिरंतन आनन्द देने वाली है ऐसा कहा जाता है। "A thing of beauty is a joy for ever." सौन्दर्य का इतना प्रभाव है कि सौन्दर्य ग्रहण होने पर मनोमयकोश में बुद्धिचक्र शुरू होता है और उससे उद्भूत होने वाले कल्पना तरंग भावना को प्रक्षुब्ध करते हैं। सद्विचार, सत्कल्पना और सद्भावना से सौन्दर्य का निरुपम सुखास्वाद मनुष्य ले सकता है। 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' भारतीय कला की परिसीमा हो गई है। सौन्दर्य शास्त्र में इन्द्रिय, बुद्धि, कल्पना और भावना इन सबका विचार साथ ही साथ करने की आवश्यकता है और उनके पारस्परिक सम्बन्ध का सुनिश्चित रूप से कथन करना मनोविज्ञान शास्त्र का एक मनोरंजक भाग हुआ है।

सौन्दर्य का अनुभव किसी एक मर्यादा तक हर एक मनुष्य को प्राप्त होता है। किन्तु सौन्दर्य का अनुभव होने पर भी उससे प्राप्त होने वाला आनन्द का विश्लेषण सौन्दर्यशास्त्र ही कर सकता है। विविध सौन्दर्यवस्तुओं का अभ्यास करने से सौन्दर्याभिरुचि पैदा होती है और सौन्दर्य विज्ञान से इस विषय में सूक्ष्मता भी आती है। सौन्दर्यानन्द के विश्लेषण से अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं और इनका विचार करना आवश्यक है।

सौन्दर्य की अनेक प्रकार की व्याख्या बोझांके ने अपने ग्रन्थ में दी है। उदाहरण—(१) सब सौन्दर्य मन के द्वारा ग्रहण करने में और कल्पना में होता है ("All beauty is in perception or imagination") (२) सौभाग्य का सन्तोषप्रद प्रगटन ("The pleasant expression of the good"—श्लेगेल) (३) काल्पनिक और इन्द्रिय द्वारा विविधता में जो एकता प्रतीत होती है इसमें सौन्दर्य रहता है। ("Beauty consists in the imaginative or sensuous expression of unity in diversity") (४) केवल और दैवी वास्तवता का मानवी माध्यम से किया हुआ अत्युच्च प्रगटन ही सौन्दर्य है। ("Beauty is a supreme expression of the absolute or divine reality as uttering itself through man"—Schelling.) (५) सौन्दर्य इन्द्रियों को दिखाई देने वाली कल्पना है। ("Beauty is the Idea as it shows itself to sense"—Hegel) इन सब व्याख्याओं से विभिन्न व्याख्या संस्कृत में मिलती है—"प्रतिक्षणं यन्नवतामुपैति तदैव रूपं रमणीयतायाः" (प्रतिक्षण जो नवीनता का आभास देता रहता है वह रमणीयता का स्वरूप)। इसमें सौन्दर्य की दो प्रकार की वृत्ति उपलक्षित है; एक सौन्दर्य की स्पष्ट रूप से ग्रहण करने की असाध्यता। चांचल्य, चैतन्य और मायाविता का मनोहर मिश्रण जिस से प्रतिक्षण नवीनता का अनुभव आता है। ज्ञानेश्वर ने 'गीतातत्त्व' के विषय में एक सुन्दर दृष्टान्त दिया है जिसका तात्पर्य यह ही है—"हरु ह्मणे देवी नेणिजे। जैसें कां स्वरूप तुझें। तैसें हें नित्य नूतन देखिजे। गीतातत्त्व" (शंकर पार्वती से कहते हैं—"देवी, तुम्हारा रूप नित्य नूतन होने के कारण कितना सुन्दर और कैसा है इसे कोई नहीं समझ सकता, वैसा ही गीतातत्त्व है।" कालिदास ने ही मालविकाग्निमित्र में ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। नाट्याचार्य गणदास जब अग्निमित्र महाराज से मिलने जाता है तब वह कहते

हैं :—"नच न परिचितो न चाप्यगम्यः चकित मुपैमि तथापि पार्श्वमस्य। सलिलनिधिरिव प्रतिक्षणं मे भवति स एव नवो नवोऽयमक्ष्णोः" (यह राजा मेरा परिचित नहीं ऐसा तो नहीं, और उसके सामने मैं नहीं जा सकता ऐसा भी नहीं। लेकिन इसके समीप में आश्चर्य युक्त होकर जाता हूं। सागर के समान मेरे नयनों को प्रतिक्षण यह नया नया मालूम होता है) दूसरी वृत्तिः—सौन्दर्य वस्तुओं के दर्शन में अतृप्ति। सौन्दर्य शास्त्र के सर्वप्रश्न इन दोनों वृत्तियों में अन्तर्भूत हैं। किन्तु इन दोनों लक्षणों की चर्चा मुझे पाश्चात्य पण्डितों के सौन्दर्य शास्त्र के इतिहास में नहीं मिली।

सौन्दर्य वस्तु के याथातथ्य वर्णन की और विश्लेषण की असंभाव्यता यह सार्वजनीन अनुभव है। कितना ही वर्णन किया जाय तो भी अधूरा ही रहता है और परब्रह्म के समान "नेति, नेति" ऐसा कहते कहते "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" यही लक्षण बताना आवश्यक हो जाता है। परिपूर्ण का वर्णन अपूर्ण माध्यम से नहीं हो सकता। इसलिये ईशावास्योपनिषद् में ही पूर्णता का वर्णन करते समय "ओ३म् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णं मुदच्यते। पूर्णस्य पूर्ण मादाय पूर्णमेवावशिष्यते" ऐसा कहना आवश्यक हो गया है। सौन्दर्य की पूर्णावस्था और सर्वोत्तमता पाश्चात्य पंडितों को भी मान्य है। सौन्दर्य का सर्वोत्तम वर्णन करने में भवभूति ने ही असफल प्रयत्न किया है। 'मालती माधव' में माधव ने मालती का रूप वर्णन करते समय सौन्दर्य उत्पन्न करके वाली सब साधन-सम्पत्ति इकट्ठी की है किन्तु इससे भी उसकी अन्तरात्मा संतुष्ट हुई थी ऐसा नहीं प्रतीत होता ! देखिये—

'सा रामणीय निधेरधि देवता वा। सौन्दर्यसार-समुदायनिकेतनं वा ॥ तस्याः सखे नियतमिन्दु सुधा मृणाल ज्योत्स्नादि कारणमभून्मदनश्च वेधाः' (यह (मालती) सौन्दर्य संपत्ति की अधिष्ठात्री देवी-जिसके पास सौन्दर्य की कमी होने की संभावना नहीं है और सौन्दर्य का जो आन्तररस और अर्क (essence) होता है उसके निधि का भाण्डागार सी मालूम होती है। इसको निर्माण करने में निश्चित रूप से इन्दु, सुधा, मृणाल, ज्योत्स्ना, कमल इत्यादि सौन्दर्य की वस्तुओं का उपयोग किया गया होगा और सौन्दर्य का परमोच्च आदर्श मदन ही इसका निर्माता हुआ है।) सर्वोत्तम वस्तुओं का संग्रह किये बिना सौन्दर्य की पूर्णता नहीं हो सकती यह कल्पना भी संस्कृत वाङ्मय में है। कुमार सम्भव में कालिदास ने कहा है—"सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथा प्रदेशं विनिवेशितेन। सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्ना देकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयैव" सर्व प्रकार का उपमा देने योग्य द्रव्यों का समूह लाकर और उनको सुयोग्य स्थान पर रखकर जग उत्पन्न करने वाले ब्रह्मा ने इस पार्वती को यत्नपूर्वक निर्माण किया है जिससे वह एक ही स्थान में सब सौन्दर्य देख सकें। आदर्श सौन्दर्य में कुछ न्यूनता और निंद्यता नहीं होनी चाहिये, इसलिये—"सर्वावस्थासु चारुता शोभान्तर पुष्णाति" और "सर्वस्थानानवद्यता रूप विशेषस्य।"

वास्तव में सौन्दर्य किसी वस्तु में नहीं किन्तु सौंदर्य की भावना देखने वालों के हृदय में और कल्पना में होती है। ("Beauty is subjective; it exists in and for a percipient and not otherwise"—Kant) इस विचार का प्रत्यय अपने को 'तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः' इसमें मिल सकता है। सुस्पष्ट रूप में—'तस्य तदेव मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम्।' ऐसी ही विचार-धारा है।

सुन्दर वस्तु देखने में जो अतृप्ति की भावना रहती है इससे अभिलाषा की भावना होना स्वाभाविक है। किन्तु सुन्दर वस्तुओं का प्रथम दर्शन केवल आदर की भावना उत्पन्न करता है। 'आकृति विशेषेषु आदरः पदं करोति।' बाद में जब उससे तन्मयता पाकर भी अतृप्ति की भावना शेष रहती है और सुदूर होने से बार-बार प्राप्ति की आशंका होने के कारण स्वाधीनता के लिये अभिलाषा करते हैं। इस दृष्टि से "ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते। संगात्संजायते कामः" यह गीता का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त सत्य है। साधारण लोगों के विषय में यह सामान्य अनुभव है। किन्तु

व्यक्तिगत आकर्षण के सम्बन्ध में दूसरा एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त भवभूति ने बताया है—"व्यतिषजति पदार्थान् आन्तर: कोऽपि हेतुर्न खलु बहिरुपाधीन्प्रीतय: संश्रयन्ते।" इस आध्यात्मिक प्रयोजन का स्पष्टीकरण कालिदास के "भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि" उस उक्ति में मिल जाता है। सर्व काल, सर्व देशों में स्त्री-सौन्दर्य अपूर्व मोह की वस्तु है और इस विषय में बहुत ही लिखा गया है किन्तु इसका प्रपंच-विस्तार करने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु एक विशेष विचार यहाँ उल्लेखनीय है।

स्त्री सौन्दर्य से निर्मित हुई प्रेम भावना मूलभूत आदर के कारण केवल वैषयिकता के निम्न स्तर में नहीं रहती। इसमें आध्यात्मिक उदात्तता का उच्चतम दर्शन मानवों को प्राप्त होता है। इसलिये मनुष्य अखिल संसार का त्याग भी कर सकते हैं। न केवल धन संपत्ति किन्तु जीवित का त्याग भी इस भावना का पर्याप्त मूल्य न होगा ऐसी भावना प्रेमी मानव के हृदय में रहती है। सौन्दर्य-जन्य प्रेम का प्रभाव ऐसा इतना तीव्र होता है। भवभूति ने कहा है—"लीनेव प्रतिबिम्बितेव लिखितेवोत्कीर्णरूपेव च। प्रत्युत्पेव च वज्रलेपघटितेवान्तर्निखातेव च। सा नश्चतोसि कीलितेव विशिखैश्चेतोभुव: पञ्चभिश्चिन्तासन्ततितन्तुजालनिबिड-स्यूतेव लग्ना प्रिया।" इससे अधिक समर्पक वर्णन नहीं हो सकता। प्रेम रूप की तन्मयता से मानव को एक आश्चर्य कारक अद्वैत सिद्धि का अभिनव प्रत्यय होता है। इसलिये कहा गया है—"सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवाद: ?"

शिल्प के सौन्दर्य के विषय में भारतीय शिल्प कलाकृति अखिल संसार में सर्वोत्कृष्ट है इसमें कुछ संदेह नहीं है। औचित्य, प्रमाणबद्धता, समन्वय, सुकुमारता, कोमलता, सजीवता, वास्तवता, व्यञ्जकता और प्रतीकमयता इन सब सौन्दर्य तत्त्वों का विचार भारतीय शिल्प ग्रंथों में है। और असंख्य शिल्पकृतियाँ उनके साक्षात् मूर्तिमंत उदाहरण भी हैं। उन सौन्दर्य तत्त्वों का पाश्चात्य ढंग से सौन्दर्य शास्त्रीय विवरण का अभाव है!

नाट्य के विषय में भारतीय नाट्य शास्त्र में जितना सूक्ष्म विचार किया गया है उतना संसार में अन्यत्र नहीं पाया जाता है। नाट्य तत्त्व का जीवित रस और अभिनय ही है। संस्कृत साहित्य शास्त्र के रस सिद्धान्त की रचना में सर्व मानवीय भावनाओं का पूर्णतया समावेश है। 'उत्कटत्वेन आस्वाद्यमानता' यह रस का लक्षण होने पर स्थायी भावों के साथ साथ व्यभिचारी भावों को भी रसत्व प्रदान करने की सुविधा हो सकती है और आधुनिक कलाकृतियों में क्षणजीवी भाव दर्शन का ही प्राचुर्य है तो भी इसका स्पष्टीकरण भारतीय साहित्य-शास्त्र के अनुसार किया जा सकता है। किन्तु सूत्र रूप में कहने का भारतीय शास्त्रकारों का स्वभाव होने के कारण आधुनिक पद्धति से विस्तृत विवरण करने की आवश्यकता है। अभिनय के बारे में इतने सूक्ष्म नियम भरत मुनि ने दिए हैं कि इसमें कुछ अविशेष रहा ही नहीं। स्वभाव गुण, भूमिका से एक रूपता इन मामूली बातों का विचार तो है ही, किन्तु सूक्ष्मदर्शी प्राश्निकों को भी संतुष्ट करने के लिये शरीराभिनय, हस्ताभिनय, भावव्यञ्जन, वागाभिनय, भाषा विधान आदि विभिन्न दृष्टियों से ही इस विषय की चर्चा नाट्य शास्त्र में की गई है। तात्पर्य, एवं गुणविशिष्ट नटों के द्वारा नाटककारों ने अपनी कृतियों में प्रदर्शित किये हुए भाव का जो समुचित प्रकटन किया है उससे कितना आनन्द हो सकता है उसकी कल्पना ही की जा सकती है। "सिद्धिव्यंजक" अध्याय से नटों की और नाट्य प्रयोगों की कसौटी कितनी कठिन होती थी इसका ज्ञान होता है।

नृत्य कला भारत में अभी तक विद्यमान है और लोकाभिरुचि होने पर इसका उत्कर्ष भी हो रहा है। किन्तु प्राचीन नृत्त और नृत्य शास्त्र का पुनरुज्जीवन करने की नितान्त आवश्यकता है। ग्रीक नृत्य के बारे में एक अंग्रेज महिला ने सात वर्ष तक ग्रीस में घूम घूम कर ग्रीक नृत्य का पुनरुज्जीवन किया और उसके ऊपर सचित्र ग्रन्थ भी लिखा है। ऐसा ही प्राचीन भारतीय नृत्य के

बारे में करना आवश्यक है । "नृत्य" को "देवानां कान्तं क्रतुं चाक्षुषं" कहा गया है । इतनी इसकी योग्यता है और मूकाभिनय, लास्य और ताण्डव के सम्बन्ध में पर्याप्त सूचनाएं भरत मुनी ने दी हैं । वर्णन पढ़ने से ही उनकी सौन्दर्य प्रतीति होती है लेकिन प्रत्यक्ष-दर्शन का अवसर मिले तो कितने हर्ष की बात होगी ?

भारतीय संगीत ही बहुत उन्नत अवस्था में पहुँचा था किन्तु ग्रन्थोक्त प्राचीन संगीत का अनुभव करने में प्रायोगिक सुविधा हुई नहीं और प्रयोग करने वाले संगीतज्ञ ही हमारे यहां नहीं हैं । किन्तु भारतीय संगीत में जो राग व्यवस्था है और विविध रागों के सम्बन्ध में जो आख्यायिकायें चल रहीं हैं उससे ज्ञात होता है कि लोगों ने संगीत की जादू का अनुभव किया है । वाद्यवृन्द युरोपीय संगीत की विशेषता है किन्तु केवल वाद्यवृन्द के वजाने से रंगमंच पर कौन व्यक्ति आ रहा है यह जानने की सुविधा भारतीय नाट्य शास्त्र में ही बताई गई है ।

काव्य क्षेत्र में जिसको अंग्रेजी में (Higher Criticism) कहते हैं वह संस्कृत साहित्य में ध्वनि का एक प्रकार है । कवी ने हेतु पूर्वक और निर्हेतु पूर्वक अपने काव्य में जो व्यंग्यार्थ सूचित किया जाता है उसका विवरण सौन्दर्य शास्त्र में अन्तर्भूक्त होता है । क्योंकि व्यंग्यार्थ प्रतीति से एक प्रकार के उच्च निरतिशय आनन्द की संप्राप्ति होती है और इसको रसिक जानकार चाहते हैं । कभी कभी ऐसा भी होता है कि रसिकों द्वारा दिये हुए अर्थ कवि के मन में होने वाले अर्थ से भिन्न ही होते हैं । कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सम्बन्ध में ऐसी कथाएं बहुत प्रचलित हैं । काव्य पंक्ति के अतिरिक्त वृत्त के विषय में क्षेमेन्द्र ने ही कुछ इस प्रकार की चर्चा अपने 'सुवृत्ततिलकम्' में की है । किन्तु संकलित रूप में काव्य-विमर्शन की अपने यहाँ बहुत ही कमी होने के कारण और मुद्रण सुविधा न होने के कारण युरोपीय साहित्य समालोचन शास्त्र ने जितनी प्रगति की है उतनी भारत में नहीं हुई । किन्तु इस क्षेत्र में बहुत कुछ करने की संभावना है ।

भवभूति के दो श्लोक उदाहरण के लिये लेकर उनमें अन्गूढ़ काव्य सौन्दर्य का विवरण इस प्रकार दिया सकता है—

"त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं । त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे"—सीता के सम्बन्ध में राम का जो कहना है इसमें एक विशिष्ट अनुक्रम है: १ त्वं जीवितं (तुम मेरा प्राण हो) २ त्वं मे द्वितीयं हृदयमसि (तुम मेरा दूसरा हृदय हो) ३ त्वं नयनयो: कौमुदी (तुम मेरे आंखों की चन्द्रिका हो) ४ त्वमङ्गे अमृतं (तुम मेरे शरीर के लिए अमृत के समान हो) इस अनुक्रम से कवि ने राम के प्रेम भावना की सोपान पंक्ति दी है और उसकी श्रेणियाँ उत्तरोत्तर बढ़ रहीं हैं । प्रथम जीवित । जीवित की कल्पना अमूर्त है । इससे उसका समाधान नहीं हुआ । 'तुम मेरा हृदय हो' यह तो गलत बात है क्योंकि उसका हृदय उसके पास है ही । इसलिये 'हृदयं द्वितीयं'— दूसरा हृदय कहा ! किन्तु यह भी केवल कल्पना है । मेरे आंखों की चन्द्रिका कहने में प्रत्यक्ष अनुभव है । किन्तु चन्द्रिका चन्द्र के पास है और सिर्फ इसका आनन्द आप ले सकते हैं । अन्त में "अमृतं त्वमङ्गे" कहने में वह आनन्द का और सुख का अटूट आनन्द उपभोगने की क्षमता पा सकता है, ऐसा नितान्त मधुर अर्थ इन दोनों चरणों में व्यक्त किया गया है ।

इस विशेषानुक्रम की दूसरी सुन्दर रचना भवभूति के "प्रेयो मित्रं बन्धुता वा समग्रा । सर्वेकामा: शेवधिर्जीवितं वा" इस पद्यार्थ में मिलती है । पत्नी ने पती को और पती ने पत्नी को कैसे समझना चाहिए इसका उपदेश कामन्दकी ने मालती को और माधव को उनके विवाह समय इस पद्यार्थ में किया है । यहाँ सब प्रियवस्तु लेकर उनका इस सम्बन्ध में जो यथार्थ अनुक्रम है जो कवी ने दर्शित किया है । इसमें भी एक अपूर्व सुन्दरता है । आपने अपने पत्नी को प्रिय मित्र समझना चाहिए । किन्तु कितना हि प्रिय मित्र हो आपके निकटवर्ति रिश्तेदार की योग्यता आप उसको नहीं दे सकते । इस-

(शेष पृष्ठ १०८ पर)

मराठी भाषा में सौन्दर्य-शास्त्र का विकास

श्रीयुत बारलिंगे

सौन्दर्य-शास्त्र का विचार करते समय दो मूलभूत प्रश्न हमारे सामने खड़े हो जाते हैं। एक तो 'सौंदर्य' का अर्थ क्या है? उसका स्वरूप क्या है? दूसरा प्रश्न है, सौंदर्य किस वस्तु में है? कला-स्वरूप का विचार इसी दूसरे प्रश्न से सम्बन्धित है।

वैसे यदि देखा जाय तो किसी भी भाषा का किसी भी शास्त्र से अव्यभिचारी सम्बन्ध नहीं होता। फिर भी यदि किसी शास्त्र का विचार किसी भाषा-माध्यम से किया जाता है तो उससे भाषा सम्पन्न होती है। 'मराठी भाषा में सौन्दर्य-शास्त्र का विकास' इस शीर्षक से ही मुझे यह ज्ञात हुआ। मराठा भाषा-भाषी पण्डितों ने भी सौन्दर्य-शास्त्र पर अपने विचार मराठी भाषा में प्रकट किये हैं।

"सौन्दर्य-शास्त्र" की कल्पना केवल मराठी भाषा-भाषियों के लिये ही नहीं अपितु हिन्दी साहित्य के लिये भी आधुनिक है क्योंकि "सौन्दर्यशास्त्र" पाश्चात्य विद्या द्वारा हमें मिला है। इसका मतलब यह नहीं है कि जिसको हम आज 'सुन्दर' इस विशेषण से सम्बोधित करते हैं वैसे वस्तु-प्रकार हमारे देश में नहीं थे। केवल महाराष्ट्र का ही उदाहरण लिया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि महाराष्ट्र में कई प्रकार से ललित कलाओं की वृद्धि हुई है। अजन्ता और एलोरा के चित्र और शिल्प कला और एलिफेन्टा की बौद्ध गुफा, पुराने अन्य मन्दिर और जगह-जगह बिखरे हुए दुर्गों के परकोटे इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि वास्तु कला, चित्र या शिल्प कला मराठी लोगों को अज्ञात नहीं थी। हिन्दुस्थानी संगीतपद्धति की प्रथम रचना भी एक देवगिरि (दौलताबाद) निवासी मराठी ब्राह्मण ने की थी, यह भी एक सत्य घटना है। महाराष्ट्र के बाहर तो सुन्दर सुन्दर मूर्तियाँ, कुतुबमीनार और कीर्तिस्तम्भ जैसे सुन्दर स्तम्भ, सांची और पारसनाथ जैसे भव्य और रमणीय स्तूप, आबू और श्रीरंगम् मदुरा और रामेश्वरम् के भव्य और सुन्दर मन्दिर तथा विश्व को विस्मित करने वाला ताजमहल इसकी साक्षी देते हैं कि हमारे देशवासियों में सौन्दर्य की दृष्टि निश्चित रूप से थी। जब हमारे कवि सुन्दर स्त्री के मुख में चन्द्रमा का दर्शन पाते हैं या उसके नयन में हरिणनयन को देखते हैं या उसके दांतों में दाड़िम और कुन्द के फूल प्राप्त करते हैं तो क्या यह सब सौन्दर्य-दृष्टि के बिना ही हो सकता है। श्री कालिदास के—

> 'इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी ।
> किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥

या पण्डितराज जगन्नाथ के 'रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द: काव्यम्' काव्य की इस व्याख्या द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है। भरत का नाट्यशास्त्र और उसका साहित्य-शास्त्र में विकास भी इसी चीज को बार-बार दुहरायेगा। सौंदर्य-दृष्टि के बिना कला विकसित ही नहीं हो सकती। श्री अभिनव गुप्त के तंत्रालोक का एकादश आह्निक यदि कोई पढ़े तो स्पष्ट हो सकता है कि भारतीय सौन्दर्य-दृष्टि कितनी उन्नत थी।

फिर भी हमारे देश में 'सौन्दर्य' का अर्थ क्या है इस प्रश्न का कभी विचार ही नहीं हुआ है। रमणीय-मनोज्ञ इत्यादि शब्दों से यही ज्ञात होता है कि हम लोग 'सुन्दर' इस विशेषण से 'सुखदायक' (Pleasing) इतना ही अर्थ समझते थे। एक कला या वस्तु को सुन्दर होने के लिये उसमें कुछ गुण जो अन्य कला या वस्तु से 'साधारण' होंगे, होने चाहिए या नहीं, यह प्रश्न कभी हमारे सामने उत्पन्न ही नहीं हुआ। यद्यपि हमारे देश में 'सुन्दर' कला या नैसर्गिक वस्तुओं का आविष्कार नित्य

हो रहा था फिर भी हमने सारा समीक्षाशास्त्र 'आनन्द सिद्धान्त' के ऊपर आधारित किया और सुन्दर अर्थात् आनन्ददायक इसी कल्पना से कला और साहित्य-शास्त्र की नींव रखी। हमने अद्वैत और विज्ञानवादी तत्त्व-ज्ञान से 'आनन्द' का भी सर्व सामान्य अर्थ छोड़कर उसका केवल दार्शनिक अर्थ लिया और रस व आनंद को एक ही समझ कर 'रस' को आस्वाद रूप बनाकर उसे ब्रह्मपद दे दिया। मेरे विचार में मराठी भाषा में इस विचार-धारा का प्रभाव दो प्रकार से—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से पड़ा। ब्रह्म को जीवन का सबसे ऊँचा तत्त्व मानने से साहित्य या कला-शास्त्र में भी सौंदर्य से 'परतत्त्व' का महत्त्व विशेष रूप से प्रकट हुआ जैसा कि श्री ज्ञानेश्वर जी ने कहा है—

'गये बरवे कवित्व । कवित्वी बरवे रसिकत्व ।।
रसिकत्वी परतत्त्व । स्पर्शु जैसा ।।

इसका मतलब यह है कि रस तत्त्व से (सामान्य दृष्टि से आनन्द या सौंदर्य तत्त्व से) परतत्त्व (ब्रह्मतत्त्व) श्रेष्ठ है। इसीलिये सारी कला या साहित्य इसी तत्त्व पर अधिष्ठित होना चाहिये। श्री ज्ञानेश्वर जी की यह विचार-सरणि श्री एकनाथ, श्री तुकाराम, श्री मोरोपन्त आदि सब ही श्रेष्ठ मराठी साहित्य निर्माताओं को स्वीकृत हुई। हमारे साहित्य की वेदान्त दर्शनों के एकमेव निष्कर्ष पर परीक्षा होने लगी। सौन्दर्य का स्वतन्त्र विचार न होने से प्रकृति में भी सौन्दर्य-दर्शन होता है इसकी भी विस्मृति होगई और कला या साहित्य के एक सामान्य निष्कर्ष के नाते हम सौन्दर्य तत्त्व को अपनाने लगे।

वेदान्त तत्त्व को संस्कृत साहित्य-शास्त्रियों द्वारा स्वीकृति मिल जाने से मराठी साहित्य शास्त्र पर भी उसका प्रभाव विशेष रूप से पड़ा। विशेषत: मम्मटाचार्य और श्री विश्वनाथ इन्होंने अपने ग्रन्थों में उपरि निर्दिष्ट तत्त्व को स्वीकार किया था। इनके ग्रन्थों का—'काव्य प्रकाश' और 'साहित्य दर्पण' का—मराठी पण्डितों में विशेष प्रभाव था। नाट्य शास्त्र पर लिखे हुए अभिनव गुप्त से पूर्व टीकाग्रन्थ नाम मात्र को ही थे।

वामन, दण्डी और भामह आदि लोगों का प्रभाव बहुत कम था। ध्वन्यालोक भी लोचन टीका के साथ पढ़ा जाता था और जगन्नाथ का भी अभ्यास बहुत कम लोग करते थे। इसीलिये रस सिद्धान्त केवल काव्य का ही नहीं, सब कला का ही प्राण समझा गया और इस सिद्धान्त को परतत्त्व या समाधि (मधुमती भूमिका) से एकाकार कर दिया गया। बीसवीं शताब्दी के लगभग दूसरे दशक तक यही स्थिति रही। काव्यशास्त्र का विचार संस्कृत के रस सिद्धान्त में ही सीमित हो गया।

इस स्थिति के कारण सौंदर्य-शास्त्र का स्वतंत्र अभ्यास मराठी भाषा में दिखाई नहीं देता। साहित्य-शास्त्र के पीछे-पीछे ही सौन्दर्यशास्त्र जा रहा था। ऐसी स्थिति में धीरे-धीरे पाश्चात्य कला और तत्त्वज्ञान भी मराठी लोगों पर अपना प्रभाव डाल रहे थे। पाश्चात्य चित्रकारों के चित्रों से, कला से प्रभावित बनाये हुए राजा रविवर्मा के चित्रों से, एक नया सौन्दर्य विषयक विचार पण्डितों में उत्पन्न हुआ। हमारे देश में बिखरे हुए शिल्प का भी श्री आनन्दकुमार स्वामी और श्रीहंवेल द्वारा किए गये अभ्यास से भी 'सौन्दर्य' के अभ्यास की एक नयी दृष्टि निर्मित हुई। इसी समय Truth, Beauty and Goodness सत्यं, शिवं सुन्दरम् इस त्रिमूर्ति का भी मराठी में आविष्कार हुआ। 'A thing of beauty is a joy for ever' यह Keats सरीखे सौन्दर्यवादी कवि का प्रभाव भी मराठी साहित्य पर पड़ना असम्भव नहीं था। कालिदास जैसे प्राचीन संस्कृत कवि के भी अभ्यास ने यही गीत फिर से दुहराया।

काँट, हेगेल, हर्बर्ट स्पेन्सर, ब्रैडले, बोसान्के, क्रोसे, बर्गसा, रिचर्डस् आदि पाश्चात्य दर्शनकारों की विचार-धारा से भी सौन्दर्य-शास्त्र के अभ्यास के लिये मराठी में नया वायु मण्डल निर्मित हो गया। फिर भी सौन्दर्य-शास्त्र के शास्त्रीय और व्यवस्थित वाङ्मय की अभी तक मराठी भाषा में बहुत कमी है।

पाश्चात्य और पौरस्त्य विचार-धारा का भय न करते हुए सौंदर्य शास्त्र का अभ्यास मराठी पण्डितों ने

किया नहीं ऐसा तो नहीं, किन्तु ऐसा अभ्यास करने के बाद भी बहुत कम लोगों ने मराठी में सौन्दर्य-शास्त्र पर विचार प्रगट किये। मराठी के सर्वश्रेष्ठ सौंदर्यशास्त्रज्ञ श्री मर्ढेकरजी की प्रमुख रचना भी अंग्रेजी में है (The Arts and the Man, और Two Lectures on Aesthetics)।

ऐसी परिस्थिति में भी मराठी भाषा में सौंदर्य-शास्त्र पर जो विचार प्रगट किए गए हैं वे निम्नलिखित हैं। जिसे सौंदर्य-शास्त्र का विचार कह सकते हैं ऐसी दो पुस्तिकायें १९२५ के लगभग मराठी में प्रकाशित हुई। उनमें से एक श्री आपटे जी ने लिखी थी और दूसरी प्रि० भाटे जी ने। श्री भाटे जी की पुस्तिका छोटी होने के बावजूद भी बहुत मूल्यवान है।

सांगली के महाराज के आश्रम में उनके ललित कला पर दिये हुए व्याख्यान 'ललित कला मीमांसा' नामक पुस्तक में एकत्रित किये गए हैं। इस पुस्तक में ललित कला के स्वरूप पर विचार करते हुए उन्होंने कला कैसे उत्पन्न होती है और उसका और सौंदर्य का सम्बन्ध किस प्रकार रहता है, इसका भी विचार किया है। श्री भाटे जी लिखते हैं—"यद्यपि भिन्न-भिन्न कलाएं कितनी ही विभिन्न क्यों न हों सब की आत्मा एक ही है और वह है सौंदर्यप्रत्यय। इसीलिये सौंदर्य क्या वस्तु है इसका विवेचन करना जरूरी होगा किंतु यह काम जितना आसान दिखाई देता है, उतना आसान नहीं है। 'सुन्दर' इस शब्द की व्याख्या करना कठिन है। वस्तु का सौंदर्य किस पर अवलम्बित है, इसका उत्तर देना बहुत ही कठिन है।" इस विवेचन द्वारा श्री भाटे जी **सौंदर्य** उपयोगिता से और सौंदर्य-दायकत्व से भिन्न हैं इस नतीजे पर आते हैं और 'सौंदर्य' केवल वस्तु का ही गुण नहीं वरन् उसका सम्बन्ध मन से भी है इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। सुन्दर वस्तु का अंतरंग और हमारी आत्मा का अंतरंग एक समान होने के कारण ही सुंदर वस्तु से आत्मा को आनंद मिलता है। इस प्रकार श्री भाटे जी ने सौंदर्य के स्वरूप का निरूपण किया है। और इसके आधार पर ललित कलाओं का विवेचन किया है।

डा० केतकर बामुके मराठी भाषा के एक बहुत श्रेष्ठ पण्डित हो गये हैं। मराठी भाषा के ज्ञान-कोष (Encyclopaedia) निर्माण के लिये आपका नाम अतीव प्रसिद्ध है। सौंदर्य और सौन्दर्यशास्त्र के स्वरूप का प्रश्न भी आपकी दृष्टि में नहीं छूटा। ज्ञान-कोष में सौंदर्य के स्वरूप के बारे में आपका अति सुंदर निरूपण है।

मराठी साहित्य के दूसरे श्रेष्ठ विद्वान् श्री वामन मल्हार जोशी जी ने भी अपने साहित्य में कला और सौंदर्य का मौलिक विचार किया है। आपका एक छोटा सा प्रबंध अतीव विचार परिप्लुत है। फिर भी खास करके सौंदर्य-शास्त्र की ही स्वतंत्र चर्चा जिसमें हो ऐसा कोई प्रबंध आपके कर-कमलों द्वारा नहीं लिखा गया।

मराठी भाषा में "सौंदर्य-शास्त्र का इतिहास" खास करके साहित्य-शास्त्र में ही सम्मिलित है यह मैंने पहले ही कहा है। इसीलिये सौन्दर्य-शास्त्र का विचार करते समय साहित्य सम्राट नरसिंह चिंतामणि केलकर, डा० वाटवे, डा० रा० श्री जोग और प्राध्यापक द० के केलकर जैसे अधिकारी व्यक्तियों का उल्लेख किये बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते। सौंदर्यतत्त्व का अधिष्ठान मानते हुए आपने रसतत्त्व का मंडन किया। रस और आनंद तथा आनंद और आत्मतत्त्व एक ही हैं। ऐसी उपर्निर्दिष्ट विद्वानों की सामान्य विचार प्रणाली है। इन विद्वानों में इस विषय पर कुछ मतभेद भी हैं। जैसे श्री न० चि० केलकर जी रस का स्वरूप सविकल्प समाधि है ऐसा मानते हैं। तथा डॉ० वाटवे जी, मैक्डूनल्ड आदि सहज प्रवृत्ति (Instincts) और (Sentiments) को ही रस और भाव का सिद्धांत स्पष्ट करने के काम लाते हैं। डॉ० रा० श्री जोग का 'सौंदर्यशोध और आनंदबोध' इस संदर्भ में बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रंथ है। सौंदर्य और आनंद के बारे में आपने मराठी में पहली बार कुछ सिद्धांतों का

निरूपण किया है । यद्यपि श्री जोग के सिद्धांत से मैं सहमत नहीं हूँ और मेरे मत से श्री जोगजी सौंदर्य शब्द का कभी कभी आनंद के अर्थ में उपयोग करते हैं तथापि श्री जोग की विद्वत्ता और उनके ग्रंथ का महत्त्व है ।

डॉ० वालिंबे का नाम भी मराठी के सौंदर्यशास्त्र के इतिहास में वहुत ही महत्त्व का है।'साहित्य के संप्रदाय', 'ज्ञानेश्वरी की विदग्ध रसवृत्ति' और 'साहित्य मीमांसा' यह तीन सुन्दर ग्रंथ लिखकर अप्रत्यक्ष रीति से आपने सौंदर्य-शास्त्र को भी संपन्न बनाया है। श्री प्रभाकर पाध्येयजी का 'कला की क्षितिजे', श्री के. नारखेडेजी का 'काव्य-कला का अंतरंग', श्री द्रोणाचार्य जी के (वा. ना. देशपांडे) कला विषयक महत्त्वपूर्ण लेख और डा. भा. गो. देशमुख जी का मराठी का साहित्य-शास्त्र का भी उल्लेख मराठी सौंदर्य-शास्त्र के इतिहास में आना जरूरी है ।

दो और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ मराठी सौंदर्य-शास्त्र के इतिहास की संपत्ति हैं। एक है कै. श्री. दा. भालेराव जी का 'कला और कलास्वाद' नामक ग्रंथ और दूसरा है प्रा० ग० देशपांडे का 'संस्कृत साहित्य और सौंदर्य शास्त्र' पर लिखा हुआ ग्रंथ । ये दोनों ग्रंथ भी मराठी सौंदर्य-शास्त्र में खास स्थान रखते हैं।

लेकिन इन सब साहित्य सेवकों ने सौंदर्यशास्त्र की जो सेवा की है वह अप्रत्यक्ष है। उनकी विचार पद्धति पारंपरिक है। सौंदर्यतत्त्व का विचार न करते हुए ही इन व्यक्तियों ने उसका उपयोग किया है। इस दृष्टि से इस पारंपरिक विचारसरणि के विरुद्ध पहला क्रांतिकारी कदम श्री मर्ढेकर जी ने उठाया। सौंदर्यशास्त्र की मूलभूत समस्या का स्वरूप समझाने का पहला प्रयत्न यदि किसी ने किया होगा तो उन्होंने ही। इसीलिये प्रस्तुत लेखक ने श्री मर्ढेकरजी के "सौंदर्य और साहित्य" नामक ग्रंथ को मराठी साहित्य शास्त्र की गंगोत्री है ऐसा लिखा है।

श्री मर्ढेकरजी ने (Arts and the man) और (Two lectures on Aesthetics) यह पुस्तकें अंग्रेजी में लिखीं और "सौंदर्य और साहित्य" और 'वाङ्मयीन महात्मता' यह ग्रंथ मराठी में लिखे हैं। आपके अंग्रेजी ग्रंथों का अनुवाद भी अभी मराठी में हुआ है। यह सभी ग्रंथ बहुत ही अनमोल हैं। श्री मर्ढेकरजी 'सौंदर्य वाचक विधान' के स्वरूप निर्णय से प्रारंभ करते हैं। यह विधान अस्तित्ववाचक विधान से भिन्न किंतु अनुभव पर अधिष्ठित वधान है । अनुभवजन्य विधान व्यक्ति-निष्ठ होते हैं। किन्तु इस व्यक्तिनिष्ठ विधान से वस्तुनिष्ठ विधान प्राप्त करना यही सौंदर्यवाचक विधान की मूल समस्या है । ऐसा विचार श्री मर्ढेकरजी ने प्रगट किया है। अत: वस्तुनिष्ठ अहंनिरपेक्ष 'क्ष सुंदर है' ऐसा विधान करने के लिये हमें शुद्ध इंद्रिय संवेदना (Pure sense) का ही आश्रय लेना पड़ेगा । और ऐसी संवेदना जिस भावना से मिलती है उसी को सौंदर्य भावना समझना चाहिये ऐसी श्री मर्ढेकरजी की मान्यता है । शुद्ध इंद्रियसंवेदन की श्री मर्ढेकर जी वर्गवारी करते हैं। उनका सिद्धांत यह है कि 'सौंदर्य' संवेदन के आश्रय से रहने वाले संवाद, विरोध और समतोल लय आदि तत्त्वों पर निर्भर रहता है। और ऐसा सौन्दर्य वस्तु में ही रहता है।

श्री मर्ढेकर जी के विचार से सब ही सहमत होंगे ऐसा नहीं। प्रस्तुत लेखक का भी उनसे विरोध है। फिर भी श्री. मर्ढेकर जी का संशोधन अत्यंत मौलिक अतएव सौंदर्य-शास्त्र के इतिहास में एक नई दिशा है। इसमें संदेह नहीं।

श्री. मर्ढेकरजी के साथ श्री दि. के० बेडेकर जी का भी नाम सौंदर्य शास्त्र के इतिहास में लेना अनिवार्य है। आपने नव भारत मासिक में 'रस सिद्धाँत' पर जो लेखमाला लिखी उसका विशेष महत्व है।

श्री मर्ढेकर जी और श्री बेडेकर जी के लेखन से मराठी सौंदर्य शास्त्र में एक नया पर्व ही शुरू हुआ। सौंदर्य-शास्त्र का नये दृष्टिकोण से अभ्यास शुरू हुआ। ऐसे प्रमुख अभ्यासकों में से नांदेड के सुप्रसिद्ध विद्वान् आचार्य नरहर जी कुंरुदकर एक हैं। पूना की वसंत-व्याख्यानमाला में और बंबई के मराठी साहित्य संघ के

व्यास पीठ से भी उन्होंने इस विषय पर बहुत ही प्रकाश डाला है। प्रा. नांदेडकर के कॉडवेल की सौंदर्य-दृष्टि और प्रा. धर्माधिकारी (नांदेड) के सौंदर्य शास्त्र पर प्रतिष्ठान में लिखे हुए लेख भी नये दृष्टिकोण से लिखे हुए लेखों में अग्रस्थान प्राप्त करते हैं। प्रस्तुत लेखक ने भी इसी विषय पर नवभारत, सत्यकथा, प्रतिष्ठान और मराठवाड़ा नामक पत्रों में कुछ लेख लिखे जिन्हें मराठवाड़ा साहित्य परिषद् ने 'सौंदर्य का व्याकरण' नाम से प्रकाशित किया है।

प्रस्तुत लेखक का विचार इस प्रकार है।

'सौंदर्य वाचक विधान सामान्य तर्क शास्त्रादि विधानों से भिन्न होता है। कारण, एक दृष्टि से वह विधान ही नहीं होता। ऐसे सौंदर्य वाचक विधानों में विधेय (Predicate) के स्थान पर 'सुंदर' शब्द रहता है। इसी विधेय के कारण सौंदर्य वाचक विधान का स्वरूप तर्क शास्त्रीय विधान से भिन्न है।

(२) 'सौन्दर्य' यह शब्द संदिग्ध है। कभी सुंदर वस्तु के समानअर्थ में उसका प्रयोग होता है तो कभी सुंदर, इस विशेषण के समानार्थ में।

(३) सुंदर और सौंदर्य इनमें प्राथमिक शब्द उपयुक्त है। 'सौंदर्य' इस भाव वाचक नाम का ही प्रयोग करने के नाते 'सौंदर्य' किसी वस्तु में रहता है, ऐसा आभास उत्पन्न होता है।

(४) 'सुन्दर' यह विशेषण केवल विशेषण है। इसीलिये इसकी व्याख्या ही (Analysis on the same level) नहीं हो सकती। वह मन की भी अवस्था नहीं है।

(५) किसी सौंदर्यवाचक विधान में उद्देश्य अनेक घटक का हो सकता और उसका विश्लेषण करना यही सौंदर्य-शास्त्र और कला-शास्त्र का अंतिम उद्देश्य है।

(६) श्री मर्ढेकरजी साम्य, विरोध, समतोल लय को सौंदर्य कहते हैं लेकिन यह वर्णन सौंदर्य वाचक विधान के उद्देश्य का है, विधेय का नहीं है। किसी भी सौंदर्य को, सौंदर्य होने के लिये सामान्य गुण के साथ २ उसमें कुछ विशेष गुण की भी आवश्यकता होती है। वस्तु सुंदर होने के लिये एक अवयव-अवयवी (part and the whole) का भी एक संबंध होना आवश्यक है। यह संबंध निश्चित अवयव (Fixed constant points) पर ही निर्भर है ऐसा समझना गलत है। अवयव-अवयवी सम्बन्ध और विशेष गुण की आवश्यकता, इससे यही सिद्ध होता है। 'सुन्दर' इस गुण के निर्माण के लिये अवयव का अवयवी होना जरूरी है। इसीलिये सुन्दर, यह कल्पना केवल और निरवयव समझना ही ठीक है। 'सुन्दर' यह गुण वस्तुनिष्ठ गुण नहीं है। इसीलिये सौंदर्य को वस्तुनिष्ठ समझना भी ठीक नहीं है। वह आत्मनिष्ठ भी नहीं है। वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ यह दोनों भी अस्तित्व वाचक हैं।

(७) सुन्दर और आनन्ददायक एक नहीं हैं। आनन्ददायकत्व यह आत्मनिष्ठ है।

(८) इस प्रकार 'सौन्दर्यवाचक' विधान के उद्देश्य विधेय के स्वरूप का विचार प्रस्तुत लेखक ने 'सौन्दर्य' के व्याकरण में किया है। इस विषय पर भी प्रस्तुत पुस्तक एक स्वतन्त्र मत रखती है।

इस विचारधारा के अतिरिक्त सौन्दर्य विषयक विचार धारा डॉ. लंबदे द्वारा प्रस्तुत हुई है। डा. लंबदे दर्शन शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान हैं। उन्होंने "वामन मल्हार जोशी' व्याख्यान माला में व्याख्यान देते हुए इसी विषय की फिर से चर्चा की है। उनका आशय यह है कि सौन्दर्य वाचक विधान के उद्देश्य विधेय पद बहु घटक हैं। दीपावली विशेषांक में भी उन्होंने इसी विचार को फिर से दोहराया है। मराठी पाठक उनके ग्रंथ की प्रतीक्षा कर रहे हैं। उनका ग्रंथ सौन्दर्य-शास्त्र के विकास में एक प्रकाश-स्तम्भ होगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं। प्रस्तुत लेख समाप्त करने के पहले और एक चीज स्पष्ट करना जरूरी है। मराठवाड़ा साहित्य-परिषद् और उसका मुखपत्र "प्रतिष्ठान" और मुंबई मराठी साहित्यसंघ व मासिक सत्यकथा इन्होंने सौन्दर्य शास्त्रीय प्रश्नों के विषय में विशेष परि-

(शेष पृष्ठ १०४ पर)

सौन्दर्य-शास्त्र और शब्द-विज्ञान

डा० श्यामसुन्दरलाल दीक्षित एम० ए०, पी-एच० डी०

शास्त्र और विज्ञान की व्यवस्था में, कोई वास्तविक भेद मान ले अथवा आध्यात्मिक; परन्तु सिद्धान्तों में अभेद है—क्योंकि दोनों का मूलाधार संगति है। दोनों का अन्तिम ध्येय संगठित और संगत-ज्ञान का सम्पादन है।

ज्ञान और विज्ञान में प्राय: भारी भेद माना जाता है। ज्ञान अथवा सामान्य-ज्ञान से तात्पर्य है किसी विषय के स्वरूपमात्र से परिचय प्राप्त करना और इस प्रकार सन्तुष्ट हो जाना। परन्तु युक्ति-सहित-ज्ञान का नाम 'विज्ञान' स्वीकार किया गया है। उसके स्वरूप के कारणों का अनुसन्धान अथवा उसका वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना ही विज्ञान है। वैज्ञानिक की दृष्टि उपयोगिता से हटकर ज्ञान-पिपासा की तृप्ति को लक्ष्य मानती है। पदार्थों, प्रमेयों आदि की तुलना, तद्विषयक ज्ञान की निश्चयात्मकता, यही विज्ञान है।

एक मान्यता यह भी है कि जिसमें ईश्वर या प्रकृति की कृतियों की मीमांसा होती है, उसे विज्ञान कहते हैं; यथा, भौतिक-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान आदि।

शास्त्र का कार्य है, भिन्न-भिन्न अङ्गों और स्वरूपों का विवेचन तथा निरूपण। विषयगतवस्तु का उद्गम, विकास, उसमें घटित-परिवर्तित उत्कर्ष तथा अपकर्षादि प्रमुख विषयों तथा उप-विषयों का अध्ययन, मनन, चिन्तन और मन्थन।

शास्त्र का ध्येय शैक्षणिक है। विषयगत तत्त्वों का स्पष्टीकरण, सैद्धान्तिक विवेचन और विश्लेषण, अन्तर के अनुभवों पर विचार और मनन। शास्त्र इसी मनन-क्रिया का पुत्र कहा गया है। उसका प्रत्येक निर्णय साधारण अनुभूति की ओर प्रवाहित होता है—इसी का नाम उपयोगिता है।

वास्तविक घटनाओं के निरीक्षण का अन्तिम सत्य ही विज्ञान है, तो आन्तरिक अनुभवों का मनन ही शास्त्रीय सत्य का आधार है या उसकी कसौटी है।

मेरी ऐसी मान्यता है कि निरन्तर अनुसन्धान के पथ पर चलने वाला शास्त्र है और राही जब अपनी मंज़िल पर पहुँच कर सफलता की श्वास भरता है, उसी का नाम विज्ञान है।

एक आलोचक का कथन है कि विज्ञान और साहित्य में मौलिक भेद है। उदाहरण के लिए एक वनस्पति शास्त्री किसी फूल के पटल, पराग, पौधे और उसकी शाखा-प्रशाखाओं के सम्बन्ध, जन्म, स्थिति, भंग तथा पुनरुत्पत्ति की भौतिक प्रक्रिया के बौद्धिक विवेचन

(पृष्ठ १०३ का शेषांश)

श्रम उठाकर इस विषय पर लिखने के लिये लेखकों को प्रवृत्त किया है, इसीलिये ये संस्थाएं धन्यवाद की पात्र हैं। मराठी में सौन्दर्य शास्त्र, नया स्वरूप धारण कर रहा है इसका कारण ये संस्थायें हैं। और अभी भी प्रा. गो वि. करंदीकर, श्री माहुलकर, श्री अरविंद मगरूलकर आदि विद्वानों को लेखन में प्रवृत्त कर ये संस्थाएं एक महत्व का कार्य कर रही हैं। अभी अभी मौज-सत्य-कथा द्वारा प्रा. गो. वि. करंदीकर लिखित अरस्तू के काव्यशास्त्र का भाषांतर प्रकाशित हुआ है।

मराठी के सौन्दर्य शास्त्र में यह भी एक महत्वपूर्ण कदम है। इस प्रकार मराठी भाषा में सौन्दर्य शास्त्र का विकास होरहा है।

तथा विश्लेषण में ही व्याप्त रह कर शान्तिलाभ प्राप्त करता है। परन्तु कवि की निर्माणमयी अन्तर्दृष्टि उस प्रसून की सत्ता के मूल में पैठ कर, उसके जीवन के चरम-सार सौंदर्य्य को पीकर बाहर उभरती है, प्रसून के पटल और पराग शतधा मुखरित हो जाते हैं। भव्य-भावनाओं का सन्देश प्रदान करते हैं, जिनके लिए प्रत्येक हृदय लालायित रहता है। वैज्ञानिक की बुद्धि से प्रसून के पटल और पराग निर्जीव बन कर आए थे, कवि के क्षेत्र में वे सजीव सिद्ध होते हैं और उनसे सौरभपूर्ण सौंदर्य्य की उपलब्धि होती है।

इसलिए सौंदर्य्य का समभाव साहित्य के अन्तर्गत होता है और शब्द को साहित्य का मूलाधार मानते हैं।

भारतीय मनीषी की चेतना अन्तर्गामिनी रही है। वह सौंदर्य्य का सम्बन्ध 'आनन्द' अथवा 'रसानुभूति' से मानता है। पाश्चात्य देशों के विद्वद्जनों ने बहिर्मुख प्रभविष्णु आलम्बन के अन्वेषण में श्रेयस् माना, अतएव उन्होंने सौंदर्य्य का आकलन किया। एक ने कहा 'रसानुभूति, तो दूसरे ने पुकारा 'सौंदर्य्यानुभूति'

पण्डित-वर्ग सौन्दर्य और रमणीयता को परस्पर पर्याय अथवा पूरक मानते हैं। महाकवि कालिदास ने प्रायः 'रम्याणि' का प्रयोग ही किया है। पण्डितराज जगन्नाथ के शब्दों में—रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य है। जिस शब्द के द्वारा रमणीय अर्थ प्रतिपन्न हो वही सुन्दर है। सौंदर्य्य की मूर्ति ही मंगलमयी मानी गई है।

वेद, ब्राह्मण आदि शब्द को ब्रह्म मानते हैं। वाक्शक्ति के द्वारा इस संसार की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं।

भर्तृहरि ने भी शब्द को ब्रह्म माना है—अन्त से रहित अक्षर, जिसका अर्थरूप में विवर्त होता है और इस संसार का कार्य चलता है। यह विश्व छन्दोमयी वाक् से ही विवर्त को प्राप्त हुआ है। संसार शब्द का ही परिणाम है। पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इसकी तीन अवस्थाएं हैं। शब्द-ब्रह्म के कारण सृष्टि का लय और विकास होता है। वह सर्वग्राह्य ग्राहकाकार वर्जित पश्यन्ती वाणीरूप शब्द ब्रह्म रहता है। मायायुक्त होकर संकल्प करता है कि यह करूंगा। तब, स्वतन्त्र-शक्ति कला से युक्त होकर आकाशादि पंचतन्मात्राओं को उत्पन्न करता है, उससे पंचभूतों की सृष्टि होती है।

शब्द-शक्ति का व्यावहारिक जीवन से उपयोग सिद्ध करते हुए भर्तृहरि ने बताया है कि—'यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्' अर्थात् जितना ब्रह्म व्यापक है, उतनी ही वाग्देवी भी। ऐतरेय, शतपथ, जैमिनीय, गोपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थ इसी वाक्शक्ति को ब्रह्म मानते हैं—क्योंकि वाक्शक्ति ही अर्थ को देखती है। अर्थ का आधार ही शब्द है। अतएव शब्द और अर्थ एक ही स्फोट (आत्मा) के दो रूप हैं। संसार में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो शब्द ज्ञान से रहित हो। शब्द के द्वारा ही विवेचन और विभाजन सम्भव है। इसी वाक्शक्ति का दूसरा नाम चेतना है, जो प्राणियों में चैतन्यरूप से विद्यमान है।

महाकवि कालिदास ने, शिव-पार्वती की अभिन्नता स्थापित करते हुए, शब्द और अर्थ को बताया है—

"वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ ॥'

महाकवि तुलसीदास जी ने भी ऐसा कहा है—
"गिरा अरथ जल-वीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।"

इस प्रकार शब्द और अर्थ का प्रकाश्य-प्रकाशक सम्बन्ध स्थिर होता है। प्रकाशशीलता के कारण ही शब्द की गणना विश्व की तीन ज्योतियों में की जाती है। पहला प्रकाश जातवेदस् अर्थात् अग्नि है। दूसरा पुरुषों में निवसित आत्मा यानी आंतर प्रकाश और तीसरा प्रकाश शब्द है जो अप्रकाश को भी प्रकाशित करता है।

विश्व की सभी विद्याएं, शास्त्र, तथा कल्पनाएं शब्द से सम्बद्ध हैं। गीत, वाद्य, नृत्य, आलेख्य आदि सब कुछ शब्द में सन्निहित हैं।

भर्तृहरि तो प्रविभाग तथा स्वप्नावस्था दोनों में शब्द शक्ति को प्रधानता प्रदान करते हैं। जाग्रतावस्था में प्राणी वाक्शक्ति के द्वारा गतिशील होता है तो स्वप्न

में वाक्शक्ति कार्य रूप में विद्यमान रहती है।

सबसे मनोरंजक बात यह है कि शब्द के द्वारा असत्य का बोध भी होता है—यही उसकी उभय-विधि-शक्ति है। यही अभिन्न में भिन्नता का बोध है। उदाहरण के लिए, राहु और उसका सिर पृथक् नहीं है, फिर भी "राहो: शिर:" का प्रयोग होता है। शशविषाण का परिचय शब्द के द्वारा ही सम्भव है।

शब्द का निवास वक्ता का हृदय है। शब्द जिस समय तक अविद्या के वशीभूत है, वह 'जीव' का रूप है और जिस समय अविद्या से रहित हो जाता है, शुद्ध ब्रह्म हो जाता है।

शब्द दो प्रकार का है। एक प्राण में अधिष्ठित और दूसरा बुद्धि में स्थित। उसकी प्राण और बुद्धि में जो शक्ति विद्यमान है, वही प्राणवायु के परिणामरूप घोष अर्थात् ध्वनि से हृदय, शिर, कण्ठ आदि स्थानों में विवर्त को प्राप्त होकर, अपने सूक्ष्म रूप का परित्याग करके, अन्तःकरण परिणामरूपी विकार के कारण, मात्रा, स्वर और वर्ण के नामों से प्रख्यात होता है—यही शब्द है। प्राण और बुद्धि दोनों से अभिव्यक्त शब्द ही अर्थ का बोध कराता है। शब्द बुद्धिगत भाव को प्रस्तुत करता है, वही अर्थ है।

पतंजलि तो स्फोट के साथ ही साथ लोक प्रचलित ध्वनि को भी शब्द मानते हैं। शब्द के गुण को ध्वनि तथा शब्द का व्यंजक माना है। शब्द की अभिव्यक्ति ध्वनि के द्वारा होती है। इसलिए स्फोट व्यंग्य है और ध्वनि व्यंजक है। लघुता, वृद्धि, अल्पता, महत्ता ध्वनि (Sound) की विशेषता है। कैयट और नागेश ने भी पतंजलि के भाव को स्पष्ट किया है।

शिक्षाकार वायु को शब्द मानते हैं। जैनों के मतानुसार परमाणु अर्थात् पुद्गल ही शब्द रूप में परिणत होते हैं। वैयाकरण शब्द को ज्ञान का परिणाम स्वीकार करते हैं। सांख्य के अनुसार शब्द-तत्त्व रजस् और तमस् से युक्त है। नैयायिक और वैशेषिकों की सम्मत्यानुसार शब्द अनित्य है। बौद्ध लोग अपोह अर्थात् अन्य की निवृत्ति को शब्द मानते हैं। मीमांसक का कथन है कि शब्द ध्वनिरूप तथा वर्णरूप है। अनित्य है ध्वन्यात्मक शब्द और नित्य है वर्णात्मक शब्द। कुमारिल भट्ट शब्द को नित्य मानते हैं।

"शब्दो ध्वनिश्च वर्णश्च मृदंगादिभवो ध्वनि।
कण्ठ संयोगादिजन्या वर्णास्ते कादयो मता:।।
(भाषा परिच्छेद १६४—१६५)

शब्द से आशय व्यक्त (वर्णात्मक) तथा अव्यक्त (ध्वन्यात्मक) दोनों का है—ऐसा भाषा वैज्ञानिक भी मानते हैं।

उच्चारण भेद से भी प्राय: शब्द के एकत्व में हानि नहीं होती। काम और 'काम'—का उच्चरित स्वरूप समान होने पर भी अर्थ की भिन्नता विद्यमान है, एक का आशय है कार्य और दूसरे का इच्छा। किसी शब्द का अर्थ उसके प्रयोग से ही प्राप्त किया जा सकता है और शब्द का तादात्म्य अर्थ के द्वारा तत्काल निर्णीत हो जाता है। प्रत्येक शब्द का अपना इतिहास होता है।

व्यावहारिक दृष्टि से शब्द भाषा की चरम व्यक्ति है। आगे चलकर शब्द को वाक्य, पद, भाषा आदि के परिणत स्वरूप में भी देखा गया और साहित्य कहलाया। साहित्य की परिभाषा में आदर्शों की स्थिरता को प्रधान बताया गया है। स्थायी भावनाओं पर समय का प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए साहित्य में सत्य का होना आवश्यक है। साहित्य का अर्थ ही है समन्वय, साहचर्य। संस्कृत के सहित शब्द का अर्थ है 'साथ' और उसमें भाव-वाचक प्रत्यय लगा देने से साहित्य शब्द की सिद्धि हो गई। रस वाले वाक्य ही हमारे दृष्टिकोण से साहित्य है और ऐसे रसात्मक वाक्यों का रम्य होना अत्यन्त आवश्यक है।

"अनित्य वर्णों के द्वारा नित्य स्फोट को और अनित्य प्रतीकों के द्वारा नित्य मौलिक तत्त्व को परस्पर सम्बद्ध करना और उन्हें उस रसमय रूप में पाठकों के सम्मुख रखना ही साहित्य अर्थात् साहचर्यस्थापक रचनाओं का प्रमुख लक्ष्य है।

"अपरि काव्य-संसारे कविरेव प्रजापति:।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ।।

ध्वन्यालोककार का कथन है कि काव्यरूपी जो अनन्त जगत् है, उसमें कवि ही प्रजापति है। उस सृष्टि का कर्त्ता वही है। उसे जैसा जगत भला लगता है, संसार को उसकी इच्छानुसार परिवर्तित हो जाना पड़ता है।

यह दृश्यमान जगत, जब कवि को रुचने वाले प्रकार में परिवर्तित हो जाता है, तो साहित्य का सार बन जाता है और इसी प्रक्रिया को आचार्यों ने 'रस' कहा है।

"संसार में जितनी अधिक अधिकता है, उतना ही कठिन संयम भी है। उस केन्द्र की बहिर्गामिनी शक्ति अनन्त विचित्रताओं के द्वारा, अपने आपको चतुर्दिशि सहस्रधा करती है और उसकी केन्द्रानुगामिनी शक्ति, उद्दाम वैचित्र्य के उल्लास को पूर्ण सामंजस्य के साथ अन्तर में रखती है। अतएव, यह जो एक ओर विकास है और दूसरी ओर निरोध है, इसी के अन्तस् में सुन्दरता है। यही नित्य लीला आदित्यवर्ण होकर प्रकाशित है। विश्व-संगीत के नीरव छन्द, सुख-दुख, उत्थान-पतन, जीवन-मरण बनकर सामने आते हैं। इनमें विच्छेद नहीं है, सौंदर्य की न्यूनता नहीं है। समग्र रूप से, विश्व में सौन्दर्य्य को देखना ही सौन्दर्य्यबोध है। फिर चाहे वह सौन्दर्य्य भौतिक हो, अथवा भव्य और आध्यात्मिक।

कला-पक्ष को सुरूप बनाने में शब्दों की तथा शब्द विन्यास की प्राकृतिकता और स्वाभाविकता अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि इन्ही के कारण यथार्थता स्वयमेव आ जाती है। इसी को कवीय सत्य और कवीय सौन्दर्य्य कहा जाता है।

सभी प्रकार से काव्य तब उत्तमोत्तम होता है, जब शब्द-सौन्दर्य्य से भरपूर हो। शब्द-सौन्दर्य्य से भाषा प्रांजल बनती है, क्योंकि भाव को रूप देना, अमूर्त को मूर्त बनाना ही तो सौन्दर्य्य है।

सुन्दर-वर्णन का आधार भी शब्द है। भाव तन्मयता की शक्ति शब्द में ही होती है।

भारतीय मनीषी के अनुसार कलाओं से हमें सौन्दर्य्यानुभूति होती है और उस अनुभूति का व्यापक-वर्णन प्रस्तुत करने की शक्ति शब्द में अन्तर्निहित है, जिसके कारण हम रसानुभूति तक पहुँच जाते हैं।

शब्द के द्वारा भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के सौन्दर्य्य का वर्णन रोचकता और रमणीयता से सम्पन्न हो सकता है, इसलिए 'शब्द-सौन्दर्य्य' साहित्यिक धरातल पर अत्यन्त वांछनीय है।

सौन्दर्य-शास्त्र तथा प्रयोगात्मक मनोविज्ञान

प्रो० नरेन्द्रसिंह चौहान

दर्शन के बाद, साहित्य के समान ही सौन्दर्यशास्त्र को सबसे अधिक प्रभावित करने वाले तथा उसके निरन्तर विकास में सबसे अधिक सहयोग दान करने वाले सामाजिक विज्ञान हैं। इन सामाजिक विज्ञानों में, सबसे अधिक योग मनोविज्ञान ने दिया है। मनोविज्ञान मनुष्य के सभी व्यवहारों का विज्ञान है। मनुष्य क्या है? उसकी व्यक्तिगत भिन्नता क्या है? वह कहाँ तक दूसरे व्यक्तियों के समान है? उसकी व्यक्तिगत भिन्नता तथा समानता उसके कार्यों पर किस प्रकार तथा कितना प्रभाव डालती है? ये सब ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं जो मनोविज्ञान की अपनी सम्पत्ति कहे जा सकते हैं। वाह्य अथवा आन्तरिक आवश्यकता अथवा परिस्थिति के कारण हमें सुख या दु:ख का अनुभव होता है और सुख की पूर्त्ति या दु:ख के निराकरण के लिए हम प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार कार्य ज्ञान तथा भावना के अन्तिम परिणाम हैं और ज्ञान, भावना तथा कर्म तीनों ही मनोविज्ञान में अध्ययन के विषय हैं।

मनोविज्ञान के उपर्युक्त स्वरूप को समझते हुए ही सौन्दर्यशास्त्र को उसका एक विशिष्ट अङ्ग माना गया है। इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्र को प्रयोगात्मक सौन्दर्यशास्त्र के नाम से पुकारा गया है। प्रयोगात्मक सौन्दर्यशास्त्र, मनुष्य की भावनाओं तथा संवेगों के अध्ययन तथा उनके निर्णयों से सम्बन्धित है। भावनाएं सुख तथा दु:ख की होती हैं और संवेग तो कई प्रकार के होते हैं। यही कारण है कि प्रयोगात्मक सौंदर्यशास्त्र की सीमाएं दूर-दूर तक हैं। उसमें केवल उन्हीं प्रतिक्रियाओं, कार्यों अथवा निर्णयों का ही अध्ययन नहीं होता जो सौंदर्यमूलक हैं, बल्कि उनका भी, जो दु:ख, उत्साह, हास्य तथा करुणामूलक हैं। प्रयोगात्मक सौंदर्यशास्त्र के स्वरूप को व्यक्त करते हुए डा० वुडवर्थ

(पृष्ठ ९८ का शेषांश)

लिये दूसरी तरह से कहना 'बन्धुता वा समग्रा' सब प्रकार के नातों का जिसमें एकीकरण हुआ है ऐसे सब गरीब धनहीन रिश्तेदार इकट्ठे होते हैं तो उनमें से क्या सुख मिलने की संभावना है? इसलिये 'सर्वे कामा: ।' आपकी सब मन कामनाएँ इसमें ही केन्द्रित हो गई हैं, ऐसा समझना चाहिए। मन कामनाएँ तो द्रव्य के बिना सफल हो नहीं सकतीं। इसलिये "शेवधि:" संपत्तिभाण्डार है। संपत्ति-भाण्डार है किन्तु अपना प्रियतम व्यक्ति जीवित नहीं तो क्या? सब अन्धेरा है। इसलिये 'जीवित' जिसमें दोनों जीवों की एकात्मता भी अभिप्रेत है और जीवित के समान प्रिय ऐसा भी अर्थ मालूम होता है। सब मिलकर इसका तात्पर्यार्थ पत्नी को प्रियमित्र एकमेव बांधव, सर्व कामना की संप्राप्ति, सर्व संपत्ती का भाण्डार और अपने जीवित के समान समझना चाहिये। ऐसा ही है, किन्तु विशिष्टानुक्रम से इस अर्थ की सुन्दरता और बढ़ गई है।

काव्यानंद को संस्कृत साहित्य शास्त्र विषयक ग्रन्थों में "ब्रह्मानंदास्वादसहोदर" कहा गया है और उससे रसिकों की 'सविकल्प समाधि' लगती है ऐसी भी प्रतीति होती है। किन्तु सामान्य वाचकों के लिये काव्यों का काव्यात्म-विश्लेषण होना चाहिए। सौन्दर्य शास्त्र के अभ्यासक इस तरह सौन्दर्य दर्शन करेंगे तो काव्याभिरुचि अधिक सम्पन्न होगी और काव्यात्म-समालोचना का अपूर्व पथ प्रशस्त होगा।

सारांश, संस्कृत साहित्य में सौन्दर्य शास्त्र की रचना के लिये बहुत सामग्री है जिसका दिग्दर्शन यहाँ किया है।
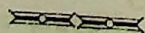
कहते हैं "मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला में, प्रयोगात्मक सौंदर्यशास्त्र का अर्थ होता है उन प्रतिक्रियाओं का अध्ययन, जो सौंदर्य, आश्चर्य, करुणा, हास्य, दुःख आदि के लिए की गई हों। वह भावना तथा संवेग के अति निकट है।"

उन्नीसवीं शती की आठवीं दशाब्दि में उत्पन्न हुआ यह प्रयोगात्मक सौंदर्यशास्त्र, आज ८० वर्ष से भी अधिक आयु का हो गया है। ८० वर्ष के छोटे से समय में, सैकड़ों ही प्रमुख विज्ञान-वेत्ताओं के अनुसन्धानों की अमूल्य निधि इसके पास है जिसको देख तथा समझ कर कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि क्या सौंदर्यशास्त्र का अध्ययन मनोविज्ञान के क्षेत्र में आ सकता है।

प्रयोगात्मक सौंदर्यशास्त्र का जन्म, प्रसिद्ध जर्मन मनोविज्ञान तथा विज्ञान-वेत्ता थियोडोर फैक्नर के हाथों से १८७६ ईसवी में हुआ। तभी से भावनाओं और संवेगों से सम्बन्धित मनुष्य के सभी प्रकार के अनुभवों में प्रयोगात्मक अध्ययन आरम्भ हुए। अब तक किए गए प्रयोगों—कुछ प्रमुख प्रयोगों को—उनके काल, प्रयोगकर्त्ता तथा पुस्तक या पत्र के हिसाब से, इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है।

(१) १८६२ हैल्महौज ऐच. व्ही. हैण्डबूख डेयर फिजियोलॉजिशेन ऑप्टिक।

(२) १८७६ फैक्नर जी. टी. व्हॉरशूले डेयर एॅस्थेटीक।

(३) १८९३ जैस्ट्रॉ पौपुलर साइन्टीफिक मन्थली १८९७, ५०।

(४) १८९६ पियर्स. ई. फिजियोलॉजिकल रिसर्च १८९६, ३।

(५) १९०८ लालो. सी. लाएस्थेटीक एक्सपैरीमैन्टल कॉन्टेम्पोरेनी।

(६) १९२५ वॉन एॅलेश जी.. टी. साइकॉलॉजी फार्श १९२५, ६-१-९१।

फैक्नर ने कहा था कि सौंदर्यशास्त्र को भी वैज्ञानिक बनाया जा सकता है। वस्तुओं को सुन्दर या असुन्दर आँकने की विधियाँ वैज्ञानिक होनी चाहिए। फैक्नर से पूर्व, सौन्दर्य-शास्त्र के जगत् में दूसरे ही ढङ्ग से कार्य होता था। वस्तुओं या अनुभवों के विषय में जो निर्णय दिए जाते थे, फैक्नर के अनुसार वे 'अधोगामी' विधि पर आश्रित थे। उपर्युक्त विधि से अभिप्राय है कि निश्चित आदर्शों तथा मापदण्डों के अनुसार, भावात्मक अनुभवों को नापा जाता था। सामान्य से व्यक्ति की ओर आने की परिपाटी थी, जैसे तर्कशास्त्र में निगमन विधि से, 'राम मरेगा या नहीं ?' इसके विषय में इस प्रकार जाना जायगा।

सभी मनुष्य मरणशील हैं।
राम एक मनुष्य है।
अतः राम मरणशील है।

तर्कशास्त्र में दूसरी विधि होती है 'आगमन' विधि। यह दोनों ही विधियाँ एक दूसरे की पूरक हैं। सत्य तो यह है कि इन दोनों में भी 'आगमन' विधि अधिक महत्त्व की है, क्योंकि इसी की सहायता से हम 'व्यक्ति से सामान्य' तक पहुँचते हैं। सौन्दर्य-शास्त्र में 'अधोगामी' विधि या निगमन विधि तो प्रचलित थी परन्तु फैक्नर ने 'आगमन' विधि पर बल दिया। इस विधि को उसने 'ऊर्ध्वगामी' विधि कहा। ऊर्ध्वगामी विधि के अनुसार, सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में, प्रत्येक मनुष्य की पसन्दी तथा नापसन्दी से चला जाता है। इस तरह के अनेकों निर्णयों के विश्लेषण से, पसन्दी तथा नापसन्दी के मापदण्ड ज्ञात हो सकते हैं। यह अवश्य है कि यह मापदण्ड सार्वभौमिक नहीं होंगे, किन्तु किसी समाज के लिए, किसी समय के लिए यह अवश्य ही मूल्यवान हैं। इस प्रकार के मापदण्ड, भावात्मक निर्णय, समाज की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति से अवश्य प्रभावित होते हैं।

वस्तुओं की सुन्दरता का मापक स्वयं मनुष्य है। सौन्दर्य-मापन उसकी अनुभूति पर आश्रित होता है

और बौद्धिक अनुभव पर भी। प्रयोगात्मक सौन्दर्य-शास्त्र में, इसलिए, अनुभूति तथा निर्णयों का विशेष महत्त्व है और इसे समझ लेना नितान्त आवश्यक है।

प्रयोगात्मक सौन्दर्यशास्त्र में अधिकाँश प्रयुक्त विधि, प्रभाव पर आश्रित होती है। पात्र, उपस्थित वस्तु के प्रभाव को, निर्देशानुसार, व्यक्त करता है। 'अमुक वस्तु तुम्हें भली लग रही है या बुरी ?" या इन दो रंगों में से कौन अधिक आकर्षक है ?' आदि प्रश्नों के उत्तर में पात्र अपनी अनुभूतियों या भावनाओं को लिखता चला जाता है; किन्तु यदि प्रयोग देर तक चलता रहे और पात्र वस्तुओं का मूल्यांकन करे, तो उसके निर्णय शान्त तथा वस्तुगत होने लगते हैं, भावना या अनुभूति की मात्रा कम होने लगती है। लेडोवस्की (१९०८) तथा योकोयामा के अध्ययन-परिणाम इस बात की पुष्टि करते हैं। इस प्रकार प्रयोगात्मक सौन्दर्यशास्त्र के परिणाम 'निर्णय' हैं, भावना या अनुभूति-मात्र नहीं।

प्रयोगात्मक सौन्दर्य शास्त्र की विधियाँ

प्रयोगात्मक सौंदर्यशास्त्र में मोटे रूप से पात्र के सामने कुछ वस्तुएं, विशेष क्रम से, उपस्थित की जाती हैं, जिन्हें देखकर वह भले, बुरे का निर्णय देता है। वस्तु-उपस्थिति को ध्यान में रखते हुए हम पाँच प्रमुख विधियों के विषय में बात करेंगे

(१) **सटाने की विधि**—उदाहरण के लिए पात्र से पूछा जाता है कि वह एक ऐसा चतुर्भुज खींचे जिसका आकार उसे सबसे अधिक पसन्द हो। खींचने की समस्या को सुलझाने के लिए एक ऐसा काला कागज दिया जा सकता है जिस पर विशेष चौड़ाई का लम्बा श्वेत चतुर्भुज बना हो। एक दूसरा काला कागज और दिया जाय ताकि पात्र जितना बड़ा चतुर्भुज चाहे उससे अधिक श्वेत स्थान को उस कागज से ढक दे।

(२) **चुनाव विधि**—पात्र के सामने मान लीजिये, १० चतुर्भुज रख दिए गए। इनमें एक ऐसा है जो वर्गाकार है और एक एकदम लम्बा, कुछ भी चौड़ाई नहीं। पात्र से कहा गया कि इन दस में से वह दो चतुर्भुज ऐसे चुने जिनमें एक सबसे सुन्दर तथा दूसरा सबसे खराब चतुर्भुज हो।

(३) **पद-दान विधि**—चुनाव-विधि में दस में से केवल दो ही चुने गए थे। यदि यह कह दिया जाय कि १० चतुर्भुजों को इस प्रकार रखो या उनके क्रमाङ्क को लिख दो ताकि ऊपर सबसे सुन्दर हो और उसके नीचे, उससे कम और अन्त में, सबसे नीचे वाला सबसे असुन्दर हो। इस विधि में प्रत्येक को एक पद प्रदान किया जाता है।

(४) **निर्णय-विधि**—पात्र के सामने वस्तुएं एक-एक करके उपस्थित की जाती हैं और प्रत्येक वस्तु पर वह अपना मत देता है। यह मत कभी दो भागों में बाँटा जा सकता है, यथा, अच्छा, बुरा। कभी तीन में, यथा, अच्छा, बुरा, उदासीन तथा कभी-कभी पाँच, तथा सात या उससें भी अधिक में।

(५) **युग्म तुलना विधि**—दो वस्तुएं एक साथ, पात्र के सम्मुख उपस्थित की जाती हैं और वह एक को पसन्द करने की सूचना देता है।

संगीतज्ञ लोग महान् रचनाकारों के गीतों को किस प्रकार पसन्द करते हैं ? इस समस्या पर १९३३ में, युग्म-तुलना-विधि द्वारा, फ्लॉगमैन ने प्रयोग किया। उन्होंने १९ महान रचनाकारों को चुन लिया और प्रत्येक के नाम को दूसरे के साथ युग्म में रख दिया। पात्रों के लिए निर्देश थे, ।

(१) प्रत्येक युग्म में उस रचनाकार के नीचे रेखा खींच दो जिसकी रचना तुम्हें पसन्द हो।

(२) रचना की मधुरता देखकर रेखा खींचो, रचनाकार का व्यक्तित्व देखकर नहीं।

(३) किसी किसी युग्म में तुम्हें चुनाव करने में कठिनाई होगी। किन्तु चुनाव अवश्य करो, किसी को छोड़ो मत।

इन पात्रों की संख्या ३०० थी। सभी वादक थे और फिलाडेल्फिया, बोस्टन, मिनीपोलिस तथा न्यूयॉर्क के निवासी थे। परिणाम इस प्रकार रहा।

महान रचनाकार	चुनाव प्राप्तांक (प्रतिशत)
बिथूवेन	८७.२

ब्राह्मस	७६.८
वैग्नर	७७.४
मोज़ार्ट	७७.२
बैश	७४.८
शूर्बट	६५.०
हेडेन	५६.१
डीबुसी	५६.५
शूमैन	५२.७
मैन्डेल्सन	४७.६
त्सेकोवस्की	४२.२
बर्लियोज़	३६.६
सी. फ्रैन्क	३७.०
चौपिन	३५.७
वर्डी	३२.५
स्ट्राविन्स्की	३०.५
ग्रीग	२६.१
मैकडौवेल	१२.६
व्ही. हरबर्ट	०२. ८

परिणाम :—मतदान अपूर्ण रहा। (t^2 =५२.१६)

अन्य प्रयोगों के परिणाम

रंग-चुनाव, रंग-योग, साधारण आकार तथा अन्य क्षेत्रों में निम्न प्रयोग-परिणाम उपलब्ध हुए हैं।

(४) चार रंगों—लाल, हरा, नीला तथा पीला—में से अधिकाँश लोग नीले तथा लाल को पसन्द करते हैं।

(२) अधिकाँश रूप में, पुरुष को नीला तथा स्त्री को लाल रंग पसन्द होता है।

(३) कोई भी रङ्ग, न अच्छा है, न बुरा, बल्कि उसकी पसन्दी या नापसन्दी, काल तथा स्थान के अनुसार निर्धारित होती है।

(४) (रङ्ग-योग के क्षेत्र में) युग्मों की पसन्दी, उन के रङ्गों से सीधी तरह सम्बन्धित हैं किन्तु युग्म की सुन्दरता रङ्गों पर ही आधारित नहीं है।

(५) (आकार के क्षेत्र में) सरल अनुपात में सौन्दर्य होता है, क्लिष्ट में नहीं।

(६) सौन्दर्य के लिए कोई सामान्य अनुपात नहीं है। लोगों की पसन्दें कई अनुपातों में दिखाई देती हैं।

(७) सी. ओ. वेबर (१६३१) के अनुसार प्रत्येक चित्र, हमारे सामने, एक समस्या लेकर उपस्थित होता है। चित्र की यह अपनी माँग होती है कि उसे खण्डों में न देखकर, सम्पूर्ण रूप में देखा जाय। अत्यन्त सरलता तथा क्लिष्टता से चित्र में सौन्दर्य नहीं रहता।

(८) लालो (१६०८) के अनुसार सौन्दर्य बिल्कुल व्यक्तिगत वस्तु नहीं है, बल्कि वह विशिष्ट स्थान तथा समय के कलात्मक मापदण्डों से आँका जाता है।

विज्ञान के उपर्युक्त परिणाम नीचे के तीन प्रमुख प्रश्नों के उत्तर भली भाँति देते हैं। प्रश्न हैं :—

१ वस्तुओं की सुन्दरता कहाँ है ? ज्ञाता की भावना या केवल वस्तुओं में ही ?

२. क्या सौन्दर्यात्मक मापदण्ड, समाज तथा काल के प्रभावों से मुक्त हैं ?

३. मापदण्डों को निश्चित करने की क्या कोई शाश्वत विधि भी है ?

प्रयोगात्मक सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार सुन्दरता का अनुभव वस्तु तथा व्यक्ति दोनों पर आधारित है। स्त्री और पुरुष की अपनी अपनी रंग पसन्दी इस तथ्य का समर्थन करती है। साथ ही, इस तरह के निर्णय, बहुत बड़ी सीमा तक, समाज के रीति-रिवाजों पर आधारित होते हैं और इन्हीं से सौन्दर्य के मापदण्ड बनते हैं। समाज के परिवर्तन के साथ सौन्दर्य के मापदण्डों तथा विधियों में भी परिवर्तन होता है। फैक्नर की ऊर्ध्व-गामी विधि इस प्रकार वैज्ञानिक है। जो भी आदर्श, विधि या मापदण्ड आज सौन्दर्यशास्त्र में शाश्वत मान लिए गए हैं, वह दृष्टिकोण गलत है।

वस्तुओं को पहिले ही से सिद्ध तथा पूर्ण मानने वाला आदर्शवादी दृष्टिकोण, वैज्ञानिक सौन्दर्यशास्त्र के पूर्ण विरुद्ध है। 'कला कला के लिए' एक नितान्त अनुपयुक्त दृष्टिकोण है। ऐसे पुजारियों को प्रसिद्ध विद्वान प्लेखानोव की यह बात याद रखनी चाहिए।

(शेष पृष्ठ ११२ पर)

आचार्य आनन्दशङ्कर बापूभाई ध्रुव की काव्य-शास्त्रीय मान्यताएँ

डा० पद्मसिंह शर्मा "कमलेश" एम० ए०, पी-एच० डी०

गुजराती साहित्य के मौलिक विवेचकों में आचार्य आनन्दशङ्कर बापूभाई ध्रुव का महत्वपूर्ण स्थान है। आपने 'वसंत' के सम्पादक के नाते अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों पर भी विचार प्रकट किये और साहित्य, कविता तथा कला पर अपने चिन्तनात्मक निष्कर्ष भी दिए हैं। 'काव्य तत्व विचारक' नामक उनका ग्रंथ उनकी काव्य शास्त्रीय मान्यताओं की कुंजी है। उसी के आधार पर हम यहाँ साहित्य और काव्य कला पर उनके विचारों का परिचय प्रस्तुत करने की चेष्टा करेंगे।

आचार्य ध्रुव ने कविता को भवभूति के उत्तर रामचरित के आरंभ में लिखित 'विन्देमदवेतां वाच-ममृतामात्मन: कलाम' के आधार पर अमृत स्वरूप, आत्मा की कला और वाग्देवी रूप माना है। कविता को अमृत स्वरूप मानने का अभिप्राय यह है कि कवि का जगत इस ऐहिक जगत की भाँति नश्वर नहीं है। यही क्यों, ऐहिक जगत कविता के जगत की तुलना में मृतवत् है। कारण, इस दृश्य जगत में अमुक अलौकिक बिम्बों के प्रतिबिम्ब मात्र ही भासित होते हैं। इन प्रतिबिम्बों में प्रकट बिम्बों का संग्रह, आलेखन और पाठक की आत्मा में उनका अवतरण करना कवि का कार्य है। उसकी सृष्टि ऐसे बिम्बों से ही बनी होती है। बिम्ब सामान्य, नित्य और अलौकिक हैं जबकि प्रतिबिम्ब व्यक्ति व्यक्ति के सम्बन्ध से युक्त हैं। फिर भी इन सबको एक सामान्य नाम दे सकते हैं केवल इसीलिये कि हमारे अन्त:करण में इन सबकी एक सामान्य भावना है। इन सामान्य भावनाओं का प्रदेश ऐसा अद्भुत और मनोहर है कि जैसे असली वस्तु को देखने के बाद उसकी नकल हमें अच्छी नहीं लगती वैसे उस दिव्यलोक की ही झलक पालेने पर यह मर्त्यलोक शुष्क लगता है। (काव्यतत्व विचार पृष्ठ ३-४)

इस सिद्धान्त के आधार पर आचार्य जी का कहना है कि विश्व की महान कृतियों में आलेखित अमर पात्र भले ही हमें देखने को न मिलें पर वे सत्य हैं। उर्वशी, वीनस, हर्क्यूलीज, हनुमान, रावण, शैतान, स्वर्ग नरक, आदि का निषेध नहीं किया जा सकता। उनकी दृष्टि में कल्पना से खड़े किये गये पात्रों को झूठ ठहराना और सौंदर्यानुभव का दावा करना परस्पर विरोधी बातें हैं। उनका कहना है कि जिस स्त्री को हम प्रत्यक्ष देखते हैं वह झूठी हो सकती है पर काव्य में कल्पना द्वारा खड़ी की गई स्त्री-मूर्ति कभी झूठ नहीं हो सकती।

'कविता आत्मा की कला है', यह उनकी दूसरी मान्यता है। कविता का सम्बन्ध हृदय से न मानकर आत्मा से मानने का कारण यह है कि उसकी परिभाषा व्यापक हो जाती है। क्योंकि केवल हृदय को ही काव्य का उद्गम मानने से उसमें अन्य तत्वों का अभाव भी मानना पड़ेगा। आत्मा की कला कहने से हृदय के साथ बुद्धि, कल्पना, भावना, नीति आदि सभी का समावेश किया जा सकता है और यदि इन सबके साथ

(पृष्ठ १११ का शेषांश)

''शुद्ध सौन्दर्य का पुजारी, किसी भी तरह से, अपने आपको, जैविक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियों से, जो उसकी सौन्दर्यमूलक रुचि को, निर्धारित करती है, मुक्त नहीं करता, प्राय: वह जान-बूझकर इन परिस्थितियों से अपनी आँखें बन्द कर लेता है।''

परिभाषा कुछ अस्पष्ट भी हो जाय तो आचार्य जी की दृष्टि में वह इसका गुण ही है, दोष नहीं। अस्तु, कविता आत्मा की कला है, कहने का तात्पर्य यह है कि उसमें आत्मा के विशिष्ट गुण अर्थात् चैतन्य, व्यापन और अनेकता में एकता अवश्य होने चाहिए। कविता-गत चेतना का अर्थ कोरी जानकारी देने से नहीं वरन् अन्तर में प्रविष्ट होकर चेतना को उद्‌बुद्ध करने से है। गणित-ज्योतिष के पद्यबद्ध सिद्धान्त कविता नहीं हो सकते, क्योंकि उनमें हृदय को उत्तेजित करने की शक्ति नहीं है। कविता में आत्मा के चैतन्य के साथ ही उसका व्यापन वाला गुण भी होना चाहिए। जिस प्रकार आत्मा बुद्धि, हृदय और कृति में व्याप्त रहती है और इनसे भी परे परमात्मरूप-स्वरूपानुसंधान—में अर्थात-धार्मिकता में विद्यमान रहती है उसी प्रकार कविता-कविता का—श्रेष्ठतम रूप प्रस्तुत करती है। कविता—बुद्धि (Intellectual) ऊहा (Emotional) कृति (Moral) और अन्तरात्मा अर्थात धार्मिकता (Religious. Spiritual) की आवश्यकता को पूर्ण करने वाली होनी चाहिए। (वही पृष्ठ ५) आत्मा की कला के सम्बन्ध में विचार करते हुए उन्होंने बहुत बल देकर हृदय, बुद्धि, नीति और धार्मिकता का समन्वय श्रेष्ठ कविता में आवश्यक माना है। उनका कहना है कि शेयर बाजार, न्यायालय और श्मशान भूमि में भी उद्‌गार प्रकट होते हैं पर वे कविता नहीं होते; क्योंकि उनके पीछे बुद्धि का योग नहीं जबकि इलियड, हेमलेट, कादम्बरी आदि में, जो श्रेष्ठ काव्य कृतियाँ है, बुद्धि भी हृदय के साथ मिली हुई है। लेकिन कोरी बुद्धि का अतिरेक भी हानिकर है। चित्रकार इसका उदाहरण है। वे श्रृंगार का ऐसा वर्णन जो मर्यादा का उल्लंघन करे नीति-विरुद्ध मानते हैं। अभिप्राय यह कि जीवन में सदाचार की प्रेरणा ही कवितागत नीति है। धार्मिकता से उनका तात्पर्य परोक्षसत्ता के प्रति कला और कविता द्वारा संकेत मात्र करना है। यदि आग्रह-पूर्वक धार्मिकता का समावेश किया जाय तो कविता भक्ति या ज्ञान पूर्ण हो जायगी इसलिए उस सत्ता की ओर संकेत-मात्र ही होना चाहिए। डान्टे की बिअट्रिस, भवभूति की सीता, कालिदास की शकुन्तला और व्यास की सावित्री में वह संकेत मिलता है।

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि किसी अनुपात से ये सब बातें एक कृति में नहीं रखी जा सकतीं प्रत्युत किसी में कोई और तथा किसी में कोई और विशेष स्थान ग्रहण कर सकती है।

'कविता वाग्देवी रूप है' का अर्थ उसके दिव्यप्रकाश युक्त होने से है। वह परमात्मा की दिव्य जोति का भान कराने की सामर्थ्य रखती है। वह परमात्मा की साक्षात् मूर्ति है।

इन तीनों रूपों में से 'कविता आत्मा की कला है' वाला रूप आचार्य जी ने एक से अनेक स्थानों पर संस्कृत, अंग्रेजी और गुजराती के उद्धरण देकर प्रकट किया है। कहना न होगा कि यह काव्य की व्यापकता और गंभीरता को व्यक्त करने में समर्थ लक्षण है।

कविता के साथ-साथ कवि के सम्बन्ध में भी उनकी धारणा स्पष्ट होजानी चाहिए। उनका कहना है कि 'कवि' शब्द 'कु'—कूजना, गाना धातु से निकलने के कारण इसका अर्थ सामान्यत: 'गाने वाला'--'पक्षी' की भांति स्वच्छन्द होकर गाने वाला किया जाता है। कवि स्वच्छन्द रूप में गाने वाला होना चाहिए, सच्ची कविता अकृत्रिम होनी चाहिए, यह अभिमत सुप्रचलित है और एक दृष्टि से सही भी है लेकिन 'कवि: क्रान्त-दर्शी' के अनुसार उसे वस्तु के पार देखने वाला भी होना चाहिए (वही पृष्ठ ३७)

कविता और कवि के सम्बन्ध में आचार्य ध्रुव की इस मीमांसा के पश्चात् साहित्य के सम्बन्ध में उनके विचारों का परिचय भी महत्व का होगा। वे भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' को संस्कृत अलंकार शास्त्र का प्राचीनतम लक्षण मान कर उसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जिसमें शब्द और अर्थ परस्पर ऐसे मिल गये हों कि शब्द से अर्थ और अर्थ से शब्द अलग न किया जासके वह काव्य है। इस प्रकार वे अनुभूति और अभिव्यक्ति अर्थात् matter and form दोनों को

समान महत्व देते हैं। वस्तुत: वे समन्वयवादी आलोचक हैं इसीलिये शब्द और अर्थ की एकात्मता पर ही वे बल नहीं देते प्रत्युत काव्य में आनन्द और उपदेश का भी समन्वय करते हैं। वे लिखते हैं--"मम्मटाचार्य कहते हैं कि 'कान्ता सम्मित तयोपदेश युजे'। लेकिन काव्य का कार्य मात्र उपदेश देना या आनन्द देना नहीं है वरन् जैसे कान्ता अपनी मीठी और हितकर वाणी में आनन्द और उपदेश दोनों का समन्वय करती है वैसे ही कवि भी करता है। हाँ, जैसे शब्द और अर्थ के विषय में कहा गया है कि दोनों का ऐसा एकात्म भाव ही काव्य को उत्तम बनाता है कि जिससे कहीं भेद न रहे वैसे ही आनन्द और उपदेश के विषय में भी समझना चाहिए। इतना होने पर भी शब्द और अर्थ की ही भांति अधिकांश काव्यों में किसी में उपदेश और किसी में आनन्द की अधिकता होती है। यह अनिवार्य है फिर भी जितना संश्लेषण संभव हो, करना चाहिए। अंग्रेजी में पोप आदि कवियों में उपदेश और स्विनवर्न आदि में मनोरंजन की अधिकता है। हमारे देश में कालिदास आदि के काव्य में आनन्द ही प्रमुख उद्देश्य लगता है, उपदेश को गौण स्थान भी प्राप्त नहीं जान पड़ता है। फिर भी शाकुन्तल में जीवन की उच्चता को आनन्द के साथ रखा गया है।" (वही पृष्ठ ४२-४३)

आचार्य ध्रुव, जैसा इंगित किया गया है, भारतीय काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों का पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों से समन्वय कर उनकी ऐसी व्यापक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जो मौलिकता के साथ-साथ अपनी व्यापकता और गंभीरता में अद्वितीय है। उदाहरण के लिये उन्होंने अंग्रेजी के Beautiful और Sublime दो शब्दों के लिये श्रीमद्भगवद्गीता के 'श्रीमत्' और 'ऊर्जित' शब्दों को प्रचलित करने की चेष्टा की है। कवि के क्रान्तदर्शी होने का उल्लेख करते हुए उन्होंने उसे मर्त्यलोक के पार जाकर अद्भुत दृश्यों का साक्षात्कार करने वाला और उस स्वर्ग को पृथ्वी पर उतारने वाला कहा है। कवि के पास जो प्रतिभा के नेत्र हैं वे सांसारिक नहीं हैं, वे विश्व के परे के हैं इसीलिये उन नेत्रों से प्रत्यक्ष हुआ विश्व भी चर्म चक्षुओं से गोचर होने वाला न होकर दिव्य चक्षुओं से ही देखा जा सकता है। जिस स्वर्ग का साक्षात्कार कवि अपने प्रतिभा-नेत्रों से करता है उसमें परमात्मा की विभूतियों के दो रूप हैं---

एक सुन्दर (Beautiful) और दूसरा भव्य (Sublime) जिसे भगवद्गीता में श्रीमत् और ऊर्जित कहा गया है। जैसे श्रीमत् और ऊर्जित एक दूसरे से भिन्न हैं पर उनका समन्वय उनके अधिष्ठानभूत परमात्मा में होता है वैसे ही अपनी द्वैत सृष्टि में भिन्न भासित होते हुए वे परमात्मा की विभूति रूप कवि की प्रतिभा में भी समानाधिकरण प्राप्त करते हैं। एक का तत्व सम, सुडौलता में है तो दूसरे का विषम अप्रेमयता में। उदाहरणार्थ एक का सुन्दर उदाहरण गुलाब है तो दूसरे का कबीर। बड़े-बड़े उदाहरण लें तो एक का उदाहरण सुन्दर संध्या है दूसरे का नगाधिराज के ऊपर से गिरती गंगा की धारा। कलाशास्त्र का उदाहरण लें तो एक का उदाहरण वंशीवाला कृष्ण है तो दूसरे का ऊर्जस्वी मुद्रा से नृत्य करने वाला नटराज। दोनों का एकत्रित उदाहरण लें तो एक विश्वरूपी रास में शोभित कृष्ण भगवान का है तो दूसरा अनन्त समुद्र में शेष की शैया पर सोने वाले नारायण, बगल में पद्मा-लक्ष्मी जी और नाभिकमल से प्रकट होते ब्रह्माजी का है।" (वही पृष्ठ १८)

इसी प्रकार Classical और Romantic के सम्बन्ध में उन्होंने स्थान-स्थान पर विस्तार से विवेचन किया है। उनकी दृष्टि में अनुभूति और अभिव्यक्ति की दृष्टि के कारण ही अंग्रेजी में इस प्रकार दोनों शब्द प्रचलित हुए हैं। जहाँ अनुभूति और अभिव्यक्ति का एकात्म हो--harmony हो वह classical अर्थात् ग्रीक और लेटिन के उच्च साहित्य के अनुकरण पर लिखा गया साहित्य है और जिसमें अभिव्यक्ति की उपेक्षा करके केवल अनुभूति के स्फुरण पर ही बल हो वह Romantic अर्थात् लेटिन और ग्रीक संस्कृति को अपदस्थ कर योरोप ने जो गतिशील जीवन पाया और उसके

परिणामस्वरूप जो जीवन का उल्लास अनुभव किया उस उल्लास से युक्त जो साहित्य है वह Romantic है। किसी काव्य या नाटक को उसके प्रधान स्वर के आधार पर विशिष्ट श्रेणी में रखा जा सकता है परन्तु एक ही कृति में कहीं एक और कहीं दूसरे की अवस्थिति रहती है इसलिये कोई उसे Classical कह सकता है और कोई Romantic।

इन दोनों में कौन अधिक सुन्दर है ? उत्तर है जो समता के सिद्धान्त पर Classical शैली आधारित है उसी समता के सिद्धान्त को जो कुछ और ऊपर ले जाये और दोनों को एक करदे । अर्थात् संस्कृति का संयम और जीवन का उल्लास दोनों जिसमें समान हों वह काव्य उत्तम हैं। (वही पृ० ५) वे Classical को संस्कृति का संयम और Romantic को जीवन का उल्लास संज्ञा देते हैं। ऐसा उन्होंने योरोप में इन दोनों प्रणालियों के ऐतिहासिक विकास के आधार पर किया है। शब्द चुन-चुनकर रखना, उनकी सादगी और स्वच्छता में ही परम सौंदर्य देखना संयमी शब्द शैली है। शब्दों को इच्छानुसार सुन्दरता के स्रोत में बहने देना, उनके फूलों का ढेर लगा देना, यह उनका उल्लास है। वैसे ही, अर्थ भी जहाँ कला के नियमों से संयमित रहता है वहाँ संयमी अर्थ शैली है और जहाँ उसका भंग करके चलता है वहाँ उल्लासी शैली है। लेकिन अत्यधिक नियम पालन में जैसे कृत्रिमता है और जड़ता का भय रहता है वैसे ही अत्यधिक उल्लास से उच्छृंखलता, जंगलीपन और कुरूपता उत्पन्न होने का भय रहता है इसलिये उत्तम कविता वह है जिसमें शब्द और अर्थ की भाँति संयम और उल्लास का संश्लेषण हो । (वही पृष्ठ ५७)।

आचार्य ध्रुव आदर्शवाद को काव्य की आत्मा मानते हैं। वे कहते हैं—"आदर्शवाद की सृष्टि मन को बहलाने के लिए कल्पना द्वारा निर्मित अयथार्थ सृष्टि का मनोराज्य नहीं, सत्य है। इस आदर्शवाद को बुद्धि ग्राह्य बनाने के लिए तार्किकों ने जो तर्क दिए हैं वे तार्किक बुद्धि के निश्चयार्थ है। ये तर्क यदि गले न उतरें तो भी आदर्शवाद को अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं, क्योंकि आदर्शवाद का आधार बुद्धि की अपेक्षा विशाल आत्मा के स्वयंम्भू निश्चय पर अधिक है। कलाकार पत्थर को छाँटता-छाँटता रति (Venus) की मूर्ति बनाता है, सत्य और विशुद्धि से व्याकुल मानव-आत्मा इस स्थूल जगत को भेद कर इसके परे सत्य और विशुद्ध जगत देखता है, यही नहीं वरन् पूर्व जगत का मिथ्यात्व अनुभव करके उसके स्थान पर दूसरे का सत्यत्व अनुभव करता है। इस सत्यत्व को कविता पढ़ते समय ही मन में रखना और उतने समय तक भी पूर्ण निष्ठा से नहीं, यह उस सत्यत्व के प्रति अन्याय है।" (वही पृष्ठ १४७)।

साहित्य में वे श्लीलता-अश्लीलता के प्रश्न पर भी समन्वय दृष्टि से विचार करते हैं। वे मानते हैं कि कृति को पढ़ते समय कृतिकार के जीवन की ओर न देखा जाय। क्योंकि बुरे से बुरा व्यक्ति सृजन-क्षणों में अपने को ऊँचा उठा लेता है अत: उससे अच्छी रचना का जन्म हो जाता है। इतना होने पर भी श्रेष्ठ जीवन बिताने वाले व्यक्ति से श्रेष्ठ साहित्य की आशा अधिक की जा सकती है।

वैसे वे साहित्य को तीन श्रेणियों में बाँटते हैं— तत्कालीन, चिरन्तन और सनातन। प्रथम प्रकार के साहित्य में फोटोग्राफर की भाँति सतही जीवन का रूप प्रकट होता है। यह हमें अच्छा लगता है क्योंकि उसमें से बहुत कुछ अपना परिचित होता है, भले ही नवीनता न मिले। समाचार-पत्रों में देश विदेशों के समाचारों की भाँति ही उनमें नवीनता मिलती है। अंग्रेजी के वेल्स आदि कथाकार ऐसे ही हैं।

चिरन्तन साहित्य में सामान्य मनुष्य स्वभाव के विशाल ज्ञान का भण्डार होता है। यह तत्कालीन से अधिक टिकाऊ होता है और एक युग तक चलता है। चॉसर, शेक्सपीयर, डिकिन्स आदि इसी कोटि में आते हैं।

सनातन साहित्य में जीवन का ऐसा रूप व्यक्त

(शेष पृष्ठ ११६ पर)

रीति-परम्परा के कवियों की सौन्दर्य-दृष्टि

प्रो० रमाशंकर तिवारी, एम० ए०

मनुष्य के मनोमय जीवन का प्रसार जिन अन्तर्वृत्तियों के सहारे सम्पन्न होता है, उनमें प्रमुख महत्त्व से समन्वित हैं आकर्षण एवं विकर्षण की वृत्तियाँ। जगत् के जो पदार्थ अथवा व्यापार उसे अपनी ओर खींचते हैं, उनसे उसकी प्रियताओं की सृष्टि होती है तथा जो अपने से उसको दूर हटाने का उपक्रम करते हैं, उनसे उसकी विरुचियों का प्रादुर्भाव होता है। वस्तुतः मनुष्य का सम्पूर्ण आभ्यांतरिक जीवन उसकी प्रियताओं तथा विरुचियों का सामंजस्य है। सामान्यतः यह कहने में कोई बड़ी आपत्ति की बात नहीं होगी कि हमारी प्रियताओं की परिधि में प्रवेश करने वाली वस्तुएं 'सुन्दर' हैं तथा जिन गुणों के कारण वे हमारी प्रिय बन सकी हैं, उन गुणों की संज्ञा ही 'सौन्दर्य' है। यह बिल्कुल दूसरी बात है कि प्रमाता के संस्कारों की सापेक्षता में प्रमेय के भीतरी धर्मों की प्रतीति अथवा स्वीकृति किस रूप एवं किस परिमाण में होती है। आकर्षण सौन्दर्य का प्राणतत्त्व है, ठीक वैसे ही जैसे विकर्षण विरूपता का।

संसार सौन्दर्य के सहारे जीवित है। सौन्दर्य अविनश्वर है, क्योंकि सुन्दर वस्तुएं अलग-अलग नष्ट होती हैं, लेकिन 'सुन्दर' के प्रतीकों का जीवन निरन्तर प्रवहमान रहता है। मनुष्य ने अपने मानसिक संघटन के अनुरूप सौन्दर्य का त्रिविध स्वरूपों में साक्षात्कार किया है—प्रथम प्रकृति, द्वितीय जीवन और तृतीय कोई लोकातीत सत्ता। प्रकृति की नानारूपिणी रमणीयताएं, जीवन की अर्थगर्भा मार्मिक छवियाँ एवं ब्रह्म की रसमयी आनन्दानुभूति, निर्गुण अथवा सगुण, किसी भी रूप में—काव्य-पुरुष के विचरण तथा आस्वादन के ये ही तीन प्रधान क्षेत्र रहे हैं। रीति-परम्परा के कवियों की सौन्दर्य-चयनी दृष्टि में सुन्दरं का इतना विस्तृत, व्यापक संसार नहीं समा सका। वे तो वाणी का सार श्रृङ्गार को और श्रृङ्गार का सार किशोरकिशोरी को स्वीकार करते थे।[1] सुतरां, उनकी रचनाओं में दैहिक सौन्दर्य की हृदयावर्जक मूर्तियों के अतिरिक्त अन्य कोटि के सम्मोहन की खोज करना अधिक समीचीन नहीं होगा। इसके लिए उन्हें दोषी ठहराना भी साहित्यिक अपराध

---

१ **"प्रीति महागुन गीत बिचार,**
बिचार की बानी सुधारस बोरी।
बानी को सार बखान्यो सिंगार,
सिंगार को सार किसोर-किसोरी॥"—देव

(पृष्ठ ११५ का शेषांश)

होता है, जिसे दार्शनिक पारमार्थिक कहते हैं। यह मनुष्य के परम पुरुषार्थ को लेकर चलने के कारण अधिक मूल्यवान होता है। व्यास का महाभारत और वाल्मीकि की रामायण ऐसे ही साहित्यिक ग्रन्थ हैं।

आचार्य ध्रुव के विचार बड़े प्रौढ़ हैं और उनकी मान्यताओं के पीछे गहन अध्ययन और मनन का बल है। देश-विदेश के नये-पुराने लेखकों का उन्होंनें सार ग्राहिणी वृत्ति से अनुशीलन कर अपने सिद्धान्त निर्धारित किए हैं। उनकी विचार-सरणि इतनी सरल और सरस है कि सिद्धान्त और व्यवहार—आलोचना के दोनों रूप—समन्वित होकर प्रकट होते हैं। लम्बे-से लम्बे उद्धरण देकर अपनी बात का समर्थन करने में वे नहीं चूकते पर कहीं भी उनमें अस्पष्टता नहीं है। इससे बड़ी सफलता एक आलोचक की और क्या हो सकती है?
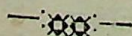
ही है क्योंकि युग "तंत्रीनाद कवित्त-रस, सरस राग रतिरंग" के मोहक आदर्श का अनुगमन कर रहा था। पुनश्च, "जातीय जीवन के गर्व और गौरव के प्रतिनिधि अंगों को जो गहरी चोटें लगी थीं, उसके लिए मधुर अवलेह और अंगूरी आसव की अपेक्षा थी।" रीति-युगीय कवियों के अनगिनत सौन्दर्य-चित्रों से यही कार्य सम्पन्न हुआ। अथच, इन कवियों ने रूप-चित्रण का जो प्रतिमान वा धरातल स्थिर कर दिया, उसका आकर्षण इतना शक्तिशाली सिद्ध हुआ कि बीसवीं शताब्दी की परिवर्तित राष्ट्रीय मनोभंगिमा में भी वह परम्परा, न्यूनाधिक रूप में, चलती रही है। अतएव, रीति-परम्परा के भीतर सन्निविष्ट सौन्दर्य यौवनमय शरीर का सौन्दर्य है, नवल "अलबेली छबीलियों" का सौन्दर्य है, "मदन-दरद की अमर मूरि" मयंकमुखियों का सौन्दर्य है।

रमणी-रूप के चित्रण की परम्परा हमारे राष्ट्रीय वाङ्मय में अत्यन्त पुरानी है। वास्तव में, रूप का आकर्षण हमारी प्रतिभा के लिए इतना सान्द्र एवं निविड़ रहा है कि हमने अखिलेश्वर ब्रह्म को भी कोटि-कोटि मनोजों को लज्जित करने वाला सौन्दर्य प्रदान कर दिया है। स्तोत्रकारों ने अपनी आराध्या की स्तुति में उसके नखशिख का नितान्त उल्लसित वर्णन किया है। वस्तुतः रूप का आवर्जन भारतीय प्रतिभा के निकट विशुद्ध एवं निष्कलुष राग का विषय रहा है। भरत ने समग्र शुचिता, मेध्यता एवं उज्ज्वलता को जो शृङ्गार की सीमा में समाहृत किया है,[१] वह सौन्दर्य के प्रति इसी दृष्टिभंगी का विद्योतक है। कालिदास ने भगवान शंकर के मुख से कहलवाया है कि रूप कभी पापवृत्ति की ओर उन्मुख नहीं होता।[१] 'वीर्यक्षोभ' उत्पन्न करने की क्षमता यद्यपि नाना-रूप में अंगीकृत की गई है, तथापि उसकी मौलिक कल्पना में पवित्रता का भाव भी स्वीकृत रहा है। परिस्थितियों के बदलने के साथ उत्तरकालीन संस्कृत कवियों ने नारी-रूप का अत्यन्त सूक्ष्म एवं मादक चित्रण किया। प्राकृत तथा अपभ्रंश की रचनाओं में भी यह धारा प्रवाहित रही! विद्यापति ने अपने पदों में अनुराग-विह्वल कामिनियों की रूप-लक्ष्मी की तन्मयतापूर्ण आरती उतारी। भक्त कवियों की सरस्वती का प्रसाद पाकर रूप चित्रण की यह विपुल परम्परा और भी अधिक समृद्ध हो गई तथा लौकिक प्रतीकों के ग्रहण होने पर भी, उसमें अलौकिक व्यंजनाएं प्रविष्ट हो गईं। रीति-परंपरा के कवियों को, अतएव, सौन्दर्य चित्रण का समृद्ध उत्तराधिकार प्राप्त हुआ था। धरती के मनुष्यों का प्रणय, एक विशिष्ट सामाजिक माध्यम से, चित्रित करने के कारण उन्होंने जो सौन्दर्य मूर्तियाँ अंकित की हैं, उनमें सूर के अलौकिक संकेत एवं तुलसी की मर्यादा का दर्शन भले न हो, रमणीयता उनमें इतनी अवश्य है कि सामान्य पाठक अथवा भावक अपने ही धरातल पर, अपने ही परिवेश में, रूप रस की चर्वणा कर सकता है।

इन कवियों ने नारी-सौंदर्य के प्रति जो दृष्टि अपनाई है, वह 'मन के मोम" को पिघलाने वाली है। रमणी-रूप के घटक तत्त्वों के जिन धर्मों की प्रतिष्ठा भारतीय प्रतिभा ने चिर-काल से कर रखी है, उनका परिवर्तन न उन्हें अभीष्ट था, न शक्य। उन्होंने सौंदर्य को कल्पना की छाया में लपेट कर किसी आनन्द की प्रेतात्मा" (Phantom of delight) अथवा किसी "छुई-मुई" की सृष्टि नहीं की, अपितु नारी को वैसे स्वस्थ, मांसल रूप में सजा कर चित्रित किया है जो परम्परा की गरिमा से विभूषित है तथा साथ ही, हमें अपने परिवेश में, अपने ही परिवारों में; उपलब्ध होती और हृदय का अपहरण करती है। इन कवियों ने जिन रूपसियों का चित्रण किया है, उनके भिन्न-भिन्न

१—'बिहारी की काव्य-श्री' (लेखक-कृत, यंत्रस्थ पृ० ७९।

"तत्र शृंगारो नाम रतिस्थायिभाव प्रभव उज्ज्वल वेषात्मकः।

यथा यत्किञ्चिल्लोके सुचि मेध्यं दर्शनीयं वा तच्छंगोरणानुमीयते।"—नाट्यशास्त्र, अध्याय ६।

१—"यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूममित्यव्यभिचारि तदवचः।"—कुमार संभव, ५।३६

अंगावयव दृश्य जगत् में उन्हीं वस्तुओं के समानधर्मा हैं जिनसे प्रत्येक काव्यानुरागी पूर्णत: परिचित है। मुख के लिए सरोज अथवा चन्द्रमा; नेत्र के लिये कमल, खंजन अथवा मृग या चकोर; ओठ के लिए बिम्बफल या विद्रुम; दाँतों के लिए हीरक, मोती अथवा दाड़िम के दाने; नाक के लिए शुक अथवा तिल-प्रसून; अलकों के लिए तिमिर, मेघ अथवा सर्पिणी; उरस्यों के लिए सरोज-संपुट, चक्रवाक्, कंचन-कलश, शंभु अथवा गिरिवर; नाभि के लिए कूप अथवा सरोवर; जंघों के लिए कदली; कटि-देश के लिए सिंह की कटि; चरणों के लिए कमल तथा तनद्युति के लिए कंचन, केसर, चाँदनी, दीप, चंपा, बिजली या भानु-किरण—ये ही चिरपरिचित प्रतीक रीति-परम्परा के रचयिताओं द्वारा नियोजित किए गए हैं। शरीरयष्टि के लिए स्वर्णलता अथवा कनक-छड़ी प्राय: प्रयुक्त हुए हैं। गति के लिए गयन्द तथा वाणी के लिए पिक, पीयूष, मिश्री, वीणा अथवा ऊख उपमान-रूप में लाए गए हैं। अत: इन कवियों ने कामिनी के साथ-साथ कविता का भी शृङ्गार किया है, अत: इनके सौन्दर्य-चित्रों में परम्पराप्रथित प्रतीक अत्यन्त सुन्दर ढंग से सजाए गए हैं। एक ओर, अहि के भ्रम से मोर सुन्दरी की अलकों को पकड़ता है, उसकी वाणी सुनकर कोकिल शोर मचाता है, नाक से सुग्गा ईर्ष्या करता है, मोतियों की माला को मराल चुगने लगते हैं और मुखचंद के अमृतपान के हेतु चकोर चोंचें चलाते हैं। दूसरी ओर उस चन्द्रमुखी के आनन को देखकर शशि कलंकित होता है, नेत्रों को देखकर मृगी वन में शरण लेती है, बोली सुनकर कोकिल श्याम बन जाता है, वेणी को देखकर व्यालिनी विषावह बन जाती है, तनद्युति देखकर कुंदन दीप्तिहीन बन जाता है; इन सबकी विपत्ति देखकर वह रूपसी दया से आर्द्र बन जाती है तथा,

"हौं पछितातिं हहा सजनी,
रचि मोहि कहा बिधि पापिनी कीन्हीं।"
—(तोष—'सुधा निधि')

अपने रूप के प्रभाव पर ही अफसोस करने वाली यह सौन्दर्यशालिनी यथार्थ के प्रयोग में भले ही खरी न उतरे, सहृदयों के निकट तो वह नितान्त मूल्यवती है।

यद्यपि इन कवियों ने सौंदर्य को मांसल आयामों में निबद्ध किया है इस लिए कि वह स्पष्ट रूप से प्रतीति का भाजन बन सके, तथापि वे समझते हैं कि सब कुछ कह लेने के पश्चात् भी यह पूर्णतया व्यंग्य नहीं बन सकता। अतएव, उन्होंने अपनी नवेलियों को "रूप का उदधि" बताया है, उनसे रम्भा को परास्त कराया है, 'रति के भंडार से चुराई हुई रूप-राशि' कह कर रति से भी रमणीय ठहराया है[1] और देवी, दानवी अथवा मानवी उसे सबसे निराली बता कर ऐसी "विधि की बनिता" बताया है जिसकी पुनर्रचना स्वयं विधाता के लिए भी दुष्कर है।[2] देव ने रूप की व्याख्या में उसकी सुखदता, दर्शनीयता एवं जग को दास बना लेने की क्षमता का वर्णन किया है। इस सौंदर्य में इतना निविड़ आकर्षण है कि अंग-प्रत्यंग में नयन बन्दी बन जाते हैं। घूँघट में जो दृष्टि उलझ गई थी, वह घूँघट खुलने पर भी सुलझ नहीं सकी, अपितु अधरों पर, लोचनों पर, नासिका पर, फिर गोरे कपोलों पर आकर उरझ गई है। यह विवक्षता कुछ दृष्टि की ही नहीं है, प्रत्युत मन भी उससे अधिग्रस्त है। काले, सटकारे केशों में वह कभी भटक जाता है, कभी "भरनन के पानिप-नीर" में उलझ जाता है, कभी अधरमधु के पान के लिए ललच उठता है, और जब ठोढ़ी के गड्ढे में पड़ जाता है, तब उसका वहां से निकलना ही दुस्साध्य हो जाता है।[3] इतना ही नहीं, इस रूप-जल में मन की स्वतन्त्र सत्ता भी लवण की नाँई बिलीन हो गई है—

"प्यारी के रूप के पानिप में,
मन माइल मेरो बिलाइ गो लोन सो।" (गंग)

वास्तव में कवियों का यह सम्पूर्ण वाग्विलास उनकी इस प्रतीति की व्यंजना के निमित्त नियोजित हुआ है कि सौंदर्य, ज्ञात अथवा अज्ञात, सम्पूर्ण प्रतीकों के व्यंग्यार्थों को लांघ कर कुछ ऐसी अपूर्व विभूति है जो नेत्रों

१—रीति-शृङ्गार (नगेन्द्र), पृ० १८७, २०३
२—वही पृ० १५७,
३—वही, पृ० १५९, २०३,

के माध्यम से अन्तकरण को अधिकृत एवं अभिभावित कर लेता है। यूनानी आचार्यों ने औपचारिक सौंदर्य के के लिए सममातृत्व एवं सामंजस्य पर बल दिया था। एडमंड बर्क ने अपने ग्रन्थ 'Essay on the sublime and beautiful' में यूनानी कल्पना का परिष्करण करते हुए, आकार की लघुता, मसृणता, क्रमिक परिवर्तनशीलता, कोमलता, रंगों की दीप्ति तथा पवित्रता इन छः सौंदर्य-घटक तत्त्वों का निरूपण किया है।[1] हमारी दृष्टि से बर्क की स्थापना अधिक समीचीन एवं सुश्रृङ्खल है। गौड़ीय आचार्य रूपगोस्वामी ने विभावों के उद्दीपनों के अन्तर्गत लय, रूप, लावण्य, सौंदर्य, अभिरूपता, माधुर्य, मार्दव इत्यादि कायिक गुणों का उपपादन किया है। इनमें अंग-प्रत्यंगों के,उचित सुश्लिष्ट संधिबन्ध से युक्त सन्निवेश को 'सौन्दर्य' कहा गया है और मोतियों में छाया की आंतरिक तरलता के समान अङ्गों में चमकने वाली वस्तु को 'लावण्य' बताया गया है।[2] बर्क और रूपगोस्वामी के निरूपणों में घनिष्ट साम्य है। पहले की क्रमिक परिवर्तनीयता (gradual variability) तथा दूसरे का लावण्य एक ही पदार्थ हैं। माघ ने रमणीयता की परिभाषा में जो क्षणे-क्षणे नव्यता-ग्रहण की बात कही है, उससे भी सौन्दर्य का वही धर्म सूचित है जो वर्ण एवं आकार की सीमाओं का उल्लंघन कर, अपनी सूक्ष्मता एवं अग्राह्यता (Elusiveness) से प्रेक्षक को चमत्कृत करता है। रीति-परंपरा के कवियों को सौंदर्य के इस तत्त्व की स्पष्ट अनुभूति है। बिहारी की नवयौवना का चतुर चितेरों द्वारा भी जो चित्र अङ्कित नहीं हो सका, उसका भी कारण यही क्षणे क्षणे नवता-प्राप्ति का रहस्य था। दास के शब्दों में,'आज भोर औरई, पहर होत औरई है, दुपहर औरई, रजनि होत औरई" वाली बात थी। मतिराम ने कुंदन के रंग को मात करने वाली अङ्गों की गुराई, नेत्रों में आलस्य, चितवन में विलास की मंजुल सरसता तथा बिना मोल खरीदने वाली मुसकान-मिठाई जैसे अभिधेय गुणों का कथन कर 'लावण्य' की ही यों व्यंजना की है—

> "ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि,
> त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई।"

कुलपति मिश्र ने 'रसरहस्य' में राधा के वय, रूप एवं "लुनाई" का स्पष्ट उल्लेख किया है।[1] मतिराम ने "छायायास्तरलत्वं" को ही अपने प्रसिद्ध सवैये में अत्यन्त मोहक रीति से ध्वनित किया है। बार-बार देखने से, और निकट से देखने से, वस्तुओं का आकर्षण घटता प्रतीत होता है। कोमलप्राण कीट्स् के लिए सुनी हुई स्वरलहरियों की अपेक्षा अनसुनी स्वरतरंगें अधिक मधुर सिद्ध हुई थीं। मतिराम की सौंदर्य-दृष्टि परिचिति की सान्द्रता में ही अधिकाधिक माधुरी का अन्वेषण कर गई है। तथ्य यह है कि इन कवियों ने हमारी सनातन जातीय सौन्दर्य-भावना की रक्षा करते हुए, अपने रूप-चित्रों की कनक-कटोरियों में प्रचुर मोहक मधु भर दिया है।

सौन्दर्य का मूलभूत प्राणतत्त्व 'लावण्य' ही रीति-परंपरा के कवियों द्वारा 'छवि' शब्द से अभिहित किया गया है। लगभग सभी कवियों ने रूपचित्रणों में "छवि की झलमलाहट', 'छवि की मरीचियों', 'छवि की तरंगों' इत्यादि का कथन किया है। 'ओप' तथा 'आभा' शब्दों से भी लगभग यही भाव ध्वनित है। उनका दूसरा प्रिय उल्लेख नायिका के अंगों की "जगरमगर" ज्योति है। ज्योति के 'जगरमगर' में जो व्यंजना सन्निहित है, उसे रूप-सौन्दर्य के साथ जोड़ देने पर तन्द्युति की स्पन्दन-शील, लपलप करने वाली लघुर्मियों का बिम्बान्वय

१—दे० सितं०, ५७, के 'साहित्यकार' में लेखक का "पाश्चात्य सौंदर्य-चिन्तन का विकास" शीर्षक निबन्ध।

२—"अंगप्रत्यंगकानां यः सन्निवेशो यथोचितम्।
सुश्लिष्टसंधिबन्धः स्यात्तत्सौन्दर्यमितीर्यते॥"
"मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदंगेषु लावण्यं तदिहोच्यते॥"
—उज्ज्वलनीलमणि

१—'रीति-श्रृङ्गार' (नगेन्द्र), पृ० ७३

सहृदयों के अन्तर्मानस में हो जाता है, वे सचमुच इन कवियों की सौंदर्यानुभूति की प्राँजलता को सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त करती हैं। नीचे के दो चित्र अङ्ग-ज्योति के 'जगरमगर' की भावना कराने के लिए यथेष्ट होंगे—

(१) "टटकी धोई धोवती, चटकीली मुख-जोति।
लसति रसोई कैं बगर, जगरमगर दुति होति॥

(बिहारी)

(२) "थोरी-थोरी बैस की किसोरी तन गोरी-गोरी,
भोरी-भोरी बातन सों हियरो हरति है।
केतकी तें सरस कही न परै कुन्दन-सी,
चंचला तें चौगुनी मरीचिका धरति है।
जगरमगर होति इन्दु-बदनी की दुति,
सेखर अबास कों प्रकासित करति है।
मानो मंज्यो मंजुमैन-मुकुर-महल तामैं,
अमल अधूम महताब-सी बरति है॥"

(चन्द्रशेखर बाजपेयी)

ये कवि तनद्युति की लपलपहाट से इतने अभिभावित हैं कि इसके लिए 'जलचादर के दीप', आग की लपटें, दीपावली की दीपज्योति, मणिमहल की दीपमालिका, बिजली, मसाल एवं फानूस के दीपक—इन सब उपमानों का प्रयोग इन्होंने उन्मुक्त भाव से किया है।

रूपज्योति की भावना कराने के लिए इन कवियों ने चाँदनी का भी भरपूर उपयोग किया है। ऐसे चित्र शुक्लाभिसारिकाओं के संदर्भ में ही प्राय: अंकित हुए हैं। श्वेत साड़ी में सजधज कर नायिका प्रिय-मिलन के लिए निकली और उसकी तनद्युति चतुर्दिक विच्छुरित ज्योत्स्ना में ऐसी घुल-मिल गई जैसे दूध में दूध की धार मिल जाती है। जैसे क्षीरोदधि की सुता क्षीर-सिंधु में एकमेक भाव से अपने को विलीन कर देगी। राधिका पून्यों का चाँद देखने चौतरे पर चढ़ी और चाँदनी में ऐसे मिल गई कि केवल कुछ बालों से, कुछ भौंहों से, कुछ नयनों की छवि से ही पहचानी जाती है। ऐसे चित्रों में कहीं-कहीं चमत्कार-प्रियता के कारण, कवियों ने खिलवाड़ भी किया है। शरीर की स्वाभाविक सुगन्ध के कारण नायिका के पीछे भौंरों की भीड़ एकत्र करना भी इन्हें प्रिय रहा है। ऐसी रूढ़ियों का उल्लेख आज के सहृदय को हास्यास्पद प्रतीत होता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने तीर पर खड़ी तरुणी के हासोत्फुल्ल वदन तथा जल में खिले सरोज के बीच जो भ्रमरी की भीड़ को दौड़ा दिया है—

"तीरे तरुण्या बदनं सहासं
नीरे सरोजं च मिलद्विकासम्
आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा
मरन्दलुब्धालिकिशोरमाला।"—

यदि वैसे चित्र इन कवियों ने अङ्कित किये होते तो हम इन 'अलिपुंजों' के लिए उनकी सराहना ही करते।

'सुकुमारता' अथवा 'मार्दव' सौन्दर्य का एक आवश्यक स्पृहणीय गुण है। रूपगोस्वामी ने उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ तीन प्रकार के मार्दव का उल्लेख किया है। रीति-परम्परा की रचनाओं में मार्दव के ललित चित्र अङ्कित हुए हैं। 'उज्ज्वलनीलमणि' में उत्तम मार्दव के उदाहरण-रूप जो पद्य दिया गया है, उसका अर्थ यों है—'राधा नवमालिका के नए कोमल प्रसूनों से निर्मित शय्या पर रात को सोई। इससे कुसुम की सेज रंचमात्र भी मलिन नहीं हुई, अपितु, उसके स्पर्श के अनुभव से राधा के शरीर में ही घाव पैदा हो गए।' स्पष्ट है कि ऐसे अंकनों में अत्युक्ति के प्रवेश का प्रचुर अवकाश रहता है। बिहारी की रूपसी भूषणों के भार से दबी जाती है; रसनिधि की नायिका की पलकें रूप-भार से बारंबार झुकी जाती हैं; देव की सुन्दरी भूषणों का भार न सह सकने के कारण उन्हें उतारती जाती है और पीछे से

सहेलियाँ उन्हें बटोरती जाती हैं; द्विजदेव की कोमलांगना जावक के भार से धीरे-धीरे पैर रखती है तथा गंध-भार से अलकें उसके कुचों पर बिखर गई है, बरौनियों के भार से दृगों पर पलकें आधी ढँप जाती हैं और कच-भार से कमर लच जाती है। तथापि, कुछ चित्रों में कोमलता की व्यंजना इस ढंग से हुई है कि भावक का हृदय चमत्कृत हो जाता है। आलम की वियोगिनी आग के समान झवाँती जाती है तथा उसकी सोने जैसी देह नमक की नाँईं गलती जाती है, अथवा विहारी की अरुणावर्णा तरुणी की पादांगुलियों से बिछियों के चाप के कारण इंगुर जैसा रंग चूने लगता है। यह स्पष्ट है कि चमत्कार एवं वक्रोक्ति के मोह में पड़े होने पर भी, इन कवियों ने सहृदयता को अपनी मार्मिक पकड़ से बाहर नहीं जाने दिया है।

वय:संधि अथवा यौवन की उठान के प्रति सभी सौन्दर्यलिप्सु कवियों ने रसभरी दृष्टि दौड़ाई है। रीति-परम्परा के भीतर जो शृङ्गार-संवलित चित्र अङ्कित हुए हैं, उनमें वय:संधि वाले चित्रों का विशिष्ट स्थान है। आधुनिक मनोविज्ञान में इस संक्रान्ति का बड़ा महत्त्व स्वीकार किया गया है। बाला के भीतरी परिवर्तनों को साहित्यशास्त्रियों ने 'भाव', 'हाव' एव 'हेला' के अभिधानों से 'अंगज अलंकारों' के अन्तर्गत परिगणित कराया है। रीति-कवियों ने ऐसे चित्रों में प्राय: शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकार के विकारों को साथ-साथ अङ्कित किया है। रात और दिन की मिलन-वेला, 'प्रभात की झांईं' की कोमल आभा का प्रतीक सभी कवियों को, समान भाव से, वय:संधि की दैहिक 'ओप' के व्यंजनार्थ प्रिय रहा है। बिहारी ने अपनी रंगीन मस्ती में 'ताफता रँग' की चकमक का भी कथन किया है। मानसिक विकारों के सूचनार्थ 'यौवन-नृपति' या 'मदन-महिपाल' को नियोजित किया गया है। सेनापति ने "कामभूप सोवत सो जागत है" में मानों सम्पूर्ण मानसिक विकारों को समाहृत कर दिया है।

सौन्दर्य की मनस्परकता की अनुभूति भी इन कवियों को हुई है, यद्यपि ऐसे कथनों का परिमाण अधिक नहीं है। 'सहज रूप' के आकर्षण से ये परिचित अवश्य हैं। "सहज सुरूप सुघराई रीझो मन मेरो, डोलत है तेरी अद्भुत की तरंग में" मतिराम का यह कथन सौन्दर्य की आत्मपूर्णता की स्पष्ट स्वीकृति है। लेकिन, रीति-कवियों के विलास-वैभव वाले युग में इस "अव्याजमनोहर" रूप की प्रचुर मूर्तियाँ अङ्कित नहीं हो सकीं। संभवत: कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में विलासविभ्रम में पलने वाले सौन्दर्य को जो कान्तासम्मित चुनौती दी थी, वह परवर्ती कवियों को स्वीकार नहीं हुई। रीतिपरंपरा में रचित सौन्दर्य-चित्र मणि, माणिक्य, पुखराज, हीरा, नग, नीलम, चंदन, चोवा, अरगजा, कपूर, इत्र, गुलाब इत्यादि उपकरणों से दीप्तिमान और सुरभित हैं तथा इनके कारण इन चित्रों की 'अपील' बढ़ी ही है, घटी नहीं। कंचन-किनारी से युक्त जरीदार साड़ी तथा "पंचतोलिया" साड़ी को पहनने वाली सुन्दरियाँ, सामन्तीय कक्षाओं का प्रतिनिधित्व करती हुई भी, भावक को अपनी रूप-समृद्धि से अभिभूत कर लेती हैं। ग्रामीण "गदराने"तनवाली "गोरटियों" के सामान्य परिधान एवं प्रसाधन के चित्र बिहारी ने 'सतसई' में चित्रित किये हैं।

(रीति-परम्परा की सबसे बड़ी विशेषता रही है सौन्दर्य को पारिवारिक, गार्हस्थिक जीवन की मर्यादाओं के बीच प्रतिष्ठित करने का श्लाघ्य प्रयास। हिन्दी काव्य के लिए यह उनकी सर्वोत्तम देन समझी जानी चाहिए। विद्यापति ने वैभवनिष्ठ सौन्दर्य के बाहर झांकने का विचार ही नहीं किया और सूर इत्यादि कृष्ण कवियों ने सौन्दर्य को अलौकिक व्यंजना से भरने का अपूर्व अनुष्ठान पूरा किया। तुलसी मर्यादा की रज्जु में इतने बंधे हुए थे कि वे सामान्य भावक की स्वाभाविक भूखों को परितृप्त कर ही नहीं सकते थे। रीति-कवियों ने, वैभव के चाकचक्य से प्रभावित होते हुए भी, अपने मनोरम चित्रों से हमें अपने घरों के भीतर ही, अपने कौटुम्बिक परिवेशों में ही, सौन्दर्य को खोजने के लिए प्रवृत्त कर दिया है। वस्तुत: उनकी सम्पूर्ण दृष्टि ही मुख्यतया गार्हस्थिक रही है। मरगजे चीर में इठलाने वाली, झीने पट में झिलमिल दिखाई पड़ने वाली, नीले अथवा

(शेष पृ० १२२ पर)

सौन्दर्य और रूप-तत्त्व

प्रो० मक्खनलाल शर्मा

सौंदर्यशास्त्र सौंदर्य की शास्त्रीय व्याख्या करता है, आनन्द मानव-जीवन की व्यापक अनुभूति है। मानव-जीवन के सारे प्रयत्न इसी आनन्द को अधिकाधिक मात्रा में प्राप्त करने के लिए होते हैं। सुन्दर वस्तु के अनुभव से आनन्द प्राप्त होता है। सुन्दर वस्तु के अनुभव द्वारा जो आनन्द प्राप्त होता है हमारे प्राचीन मनीषियों ने उसे 'रस' संज्ञा से अभिहित किया है। सौन्दर्यशास्त्र कला द्वारा उत्पन्न सौन्दर्य के इस 'रस' का विश्लेषण मुख्य रूप से करता है। इस आनन्द को प्राप्त कराने में वस्तु का बाह्य रूप विशेष रूप से सहायक होता है। इस बाह्य सौन्दर्य का विश्लेषण ही हमारा इष्ट है।

कला का बाह्य रूप जिसके माध्यम से भावाभिव्यक्ति की जाती है सौंदर्य का जनक माना जाता है। कार्ल मार्क्स ने अपने द्वन्द्ववाद (Dialectics) के जिस सिद्धान्त को विकास का मूल नियम माना है सौंदर्य में भी हम उसी का चमत्कार पाते हैं। प्रत्येक पदार्थ में जो दो विरोधी शक्तियाँ सदैव रह कर प्रगति को जन्म

(पृष्ठ १२१ का शेषांश)

अरुण चीर के घूंघट में से अपनी छवि-किरणें प्रक्षिप्त करने वाली, रसोई-कक्ष में जगरमगर द्युति से चमकने वाली, लाज में लिपटी चितवन वाली, नैहर में पति-दर्शन की लालसा से सटपटाने वाली, विविध भाँति की बेंदियाँ लगाने वाली रूपशाली रमणियाँ हमारी परिचित परिधियों की "मनोज-मूर्तियाँ" हैं। नाइन और महावरी के चित्रों द्वारा नायिका की एड़ी की लाली तो व्यंजित हुई है, लेकिन उससे भी बढ़ कर, इनसे गृहस्थी की घिस-पिस में नया आकर्षण, नया आस्वाद पाने की लालसा से हम अनुप्राणित हो जाते हैं।

शृङ्गार की परम्परित परिपाटी का पालन करने के कारण इन कवियों ने रति-काल के तथा रत्यंत के चित्र भी अङ्कित किए हैं। किन्तु, श्रीहर्ष इत्यादि संस्कृत कवियों की तुलना में इनकी सौन्दर्य-दृष्टि संयमपूर्ण ही समझी जाएगी। परिवेश के अनुरूप, मलमल, मसाल, फानूस, जुलूस इत्यादि प्रतीकों का नया नियोजन भी हुआ है। बाजरे की कलंगी, बिछली घास जैसे अभिनव प्रयोग अवश्य उन्होंने नहीं किये। अन्तस्सौन्दर्य को उन्मीलित करने का प्रयत्न भी उनके द्वारा नहीं किया गया। तथापि, उनकी सौन्दर्य-भावना नितात प्रसन्न, उत्फुल्ल एवं लोकसुलभ बन गई है।

—oooo—

देती रहती हैं, सौंदर्य में भी यही सिद्धान्त कार्य करता है। सौन्दर्य की अभिव्यक्ति कला के माध्यम से होती है। इस मांध्यम का आधार शब्द, स्वर, रेखाएं, रंग, प्रस्तर-खण्ड आदि कुछ भी हो सकता है किन्तु कलाकार जब इनकी सहायता से अपनी भावना को सजीव स्वरूप प्रदान करता है तो जितनी अधिक स्पष्टता के साथ वह अपने भावों के द्वन्द्व को हमारे समक्ष रख सकेगा उतनी ही उच्चकोटि की कला होगी और उसमें उतना ही अधिक सौंदर्य होगा। सौंदर्य हमें उस कला की अभिव्यक्ति के माध्यम में निहित परस्पर विरोधी तत्त्वों के सफल अङ्कन से प्राप्त होता है। बिना पृष्ठभूमि के कोई चित्र नहीं बनाया जाता। चित्र में परस्पर दो विरोधी भाव सदैव अङ्कित रहते हैं। उसकी Thesis पृष्ठभूमि में रहती है और Antithesis रेखाओं या रंगों द्वारा उभारी जाती है और Synthesis ही वह सौंदर्य है जो हमारे नेत्रों को सुखदायक प्रतीत होता है। यह नियम सभी कलाओं पर समान रूप से लागू होता है। यह द्वन्द्व जितना ही गहरा और स्पष्ट होगा उससे उत्पन्न सौन्दर्य भी उतना ही उच्चस्तरीय होगा।[1]

कला के बाह्य रूप में प्राप्त सौंदर्य सभी प्राचीन और अर्वाचीन सौन्दर्य-शास्त्रियों ने स्वीकार किया है। प्लेटो इस सौन्दर्य को स्वीकार करते हुए इसका कारण शिवत्व से जोड़ देते हैं।[2] उनके अनुसार नाप जोख और संतुलन ही सौंदर्य के आधार हैं। अध्यात्मवादी होने के कारण प्लेटो ने सौंदर्य और शिवत्व को पूर्ण माना है और कला को उसका अनुकरण (imitation)। जिन विद्वानों ने कला और सौंदर्य का सम्बन्ध पूर्ण तत्त्वर (ब्रह्म) से जोड़ दिया है उन्होंने आगे के लिए विचार-भूमि में रोक लगा दी है। अरस्तू (Aristotb) भी प्लेटो के शिष्य और अध्यात्मवादी ही थे किन्तु वह पहिले सौंदर्य-शास्त्री और पीछे अध्यात्मवादी होने के कारण अधिक औचित्य-युक्त सिद्ध हुए हैं। उन्होंने बुद्धिवादियों के समान विचार किया है। कला और सौंदर्य का विवेचन करने में उन्होंने बताया है कि सौंदर्य के प्रमुख अङ्ग शृंखला (Order) समता (Symmetry) और निश्चित सीमा (Definite limitation) हैं।[3]

१—"लौकिक अनुभूति के क्षेत्र में अनुभव-कर्त्ता अनुभूति के नीचे दब जाने के कारण अपनी स्वतंत्रता को भूल जाता है। किन्तु रसानुभूति के क्षेत्र में अनुभूति में आच्छन्न होते हुए भी साथ ही उस अनुभूति के आस्वादक के रूप में अपनी स्वतंत्र सत्ता की रक्षा करता है। रसानूभूति के इस द्वान्द्विक रूप को साधारण तर्क के द्वारा समझना सम्भव नहीं हैं, इसीलिए इस विषय में नाना प्रकार के वितर्कों की अवतारणा भी हुई है और रसानुभूति को "अलौकिक" तक करार देने की कोशिश की गई है किन्तु इस तर्क का निरसन नहीं हुआ ...... असल में गतिशील परिवर्तनशील वस्तुमात्र के अंदर द्वान्द्विकता और अन्तर्विरोध विद्यमान है, गतिशील वस्तुमात्र ही किसी मुहूर्त में है भी और नहीं भी, यह परस्पर-विरुद्ध व्यापार साधारण युक्ति के लिए अनधिगम्य होने पर भी, वास्तव सत्य के क्षेत्र में इससे साधारण और प्राकृत व्यापार सम्भवत: और कुछ भी नहीं है........भाव के क्षेत्र में भी यदि भाव के (उपर्युक्त) द्वान्द्विक स्वरूप को मान लिया जाता तो रस-निष्पत्ति को लेकर इतने तर्कों की आवश्यकता न पड़ती" (मार्क्सवाद और साहित्य—महेन्द्रचन्द राय)

सौंदर्यानुभूति के सम्बन्ध में श्री राय के इस विश्लेषण पर विचार की आवश्यकता है। परतु उनकी सौन्दर्यानुभूति की यह द्वन्द्वात्मक व्याख्या वैज्ञानिक प्रतीत होती है।

2—"The principle of goodness has reduced itself to the law of beauty. For measure and proportion always pass into beauty and excellence". (Philebus, Marg, P. 64)

3—"The main species (elements) of beauty are order, symmetry, definite limitation, and these are the chief properties that the mathematical sciences draw attention to"
(Aristotle. Metaph. 1078 a.)

अरस्तू ने कला को प्रकृति का अनुकरण कहकर सौंदर्य के बाह्य रूप को प्रमुखता प्रदान की है। हमें प्रकृति में जो पदार्थ दिखाई देते हैं उनमें कुछ न कुछ सौन्दर्य निहित रहता है और मानव कल्पनाशील प्राणी होने के कारण उसमें कुछ अभाव भी खोज लेता है। कला में उस अभाव की पूर्ति कलाकार द्वारा होती है इसलिए कला को प्रकृति का अनुकरण-मात्र नहीं माना जा सकता है, वरन् वह अनुकृति (Recreation) है। ग्रीक विद्वानों की दृष्टि में सौन्दर्य को ऐन्द्रिक अभिव्यक्ति स्वीकार किया गया है। भारतीय विद्वानों की भाँति अरस्तू आदि ग्रीक सौन्दर्य-शास्त्री उसका सम्बन्ध ब्रह्म से जोड़कर उसे पूर्ण आध्यात्मिक नहीं बना देते हैं वरन् उसे यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति-मात्र स्वीकार करते हैं।[1]

ग्रीस में सुन्दर (Beautiful) और 'उदात्त' (Sublime) का प्रश्न भी उठाया गया है। मानव-जीवन में जो पीड़ा है उसे आनन्द रूप में परिवर्तित करना ही 'उदात्त' है। 'उदात्त' को सर्वप्रथम इंगित करके लौंजाइनस ने हमें बताया है कि उत्कृष्ट कोटि का सौंदर्य जो कुछ काल के लिए हमारी समस्त वृत्तियों को रोककर स्थगित कर दे वही 'उदात्त' है।[2] साहित्य की सर्वोत्तम कृतियाँ मूर्तिमती वेदनाएँ हैं। वेदना जब कला का रूप धारण कर लेती है तो उसके इस परिवर्तित रूप में दुख, क्लेश और वेदना का बवन्डर मिट जाता है और उसे जो सन्तुलित स्वरूप प्राप्त होता है वह सौन्दर्य-युक्त बनकर आस्वाद्य बन जाता है। वेदना जब तक भाव-लोक में रहती है तभी तक वह वेदना देती है। जैसे ही कलाकार बुद्धि की सहायता और कला के माध्यम से उसे अभिव्यक्त कर देता है वह सान्त्वना के रूप में परिवर्तित हो जाती है। यदि विचार-पूर्वक देखें तो प्रतीत होता है कि 'उदात्त' में भी वेदना और उस पर विजय पाने की भावना दोनों का युद्ध होता है और उससे प्रगतिशील तत्त्व (Synthesis) रूप में 'उदात्त' गुण उत्पन्न हो जाता है। जार्ज सान्तायन अपनी पुस्तक में बताते हैं कि मनुष्य जब समझ लेता है कि पीड़ा का उससे शाश्वत सम्बन्ध है और इसी कारण हम सदैव दुखी बने रहते हैं तो उसे सान्त्वना मिलती है।[1] कान्ट (Kant) जिसे आध्यात्मिक-स्फूर्ति (Spiritual reinvigoration) कहता है वह 'उदात्त' ही है। धर्म और 'उदात्त' दोनों की उत्पत्ति भय और कष्ट से हुई है। मार्क्स ने भी बताया है कि धार्मिक वेदना हमारे यथार्थ जीवन की वेदना की अभिव्यक्ति है।

सौन्दर्य और 'उदात्त' के विषय में भारतीय मत ग्रीक मत से भिन्न है। भारतीय सदैव रसवादी रहे हैं। उन्होंने संघर्ष से ऊपर उठकर अन्त में मिलने वाले 'आनन्द' की ओर दृष्टि रखी है इसीलिए भारतीय कलाओं में एक प्रकार की शान्ति और आनन्द की भावना ओत-प्रोत है।

यूनान का प्राचीन साहित्य देवताओं से पूर्ण है। ये देवता आध्यात्मिक शक्तियों के प्रतीक स्वरूप खड़े किये गये थे जैसा कि आज समझा जाता है; किन्तु उन्हें यह स्वरूप पूर्ण मानवता के आदर्श स्वरूप प्राप्त हुआ

1—"Beauty was regarded as essentially the sensuous expression—not of the beautiful, nor even of the good—but simply of the real".
(History of Aesthetic: B. Bosanquet)

2—'When a passage is pregnant in suggestion, when it is bard, nay impossible to distract the attention from it, and, when it takes a strong and lasting hold on the memory, then we may be sure that we have lighted on the true Sublime ?
(Longinns)

1—To know how just a cause we have for grieving is already a consolation, for it is already a shift from feeling to understanding.'
(Life of Reason: page 64.)

है। ईश्वर की कल्पना सर्वश्रेष्ठ मानव के रूप में स्वीकार की गई है। तत्कालीन मानवीय सभी गुण उनमें पूर्ण विकसित अवस्था में दिखाए गये हैं। ग्रीक देवता अपोलो और डियाना आदि को उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। भारतवर्ष में भी शैव-दर्शन के प्रभाव-स्वरूप इसी प्रकार के प्रतीक स्वीकार किए गए और शैव मन्दिरों के शिखर भाग, मध्यभाग और अनेक मूर्त्तियाँ निर्मित हुईं। दक्षिण भारत के मन्दिरों में ग्रीक के समान आदिम-भावना के दर्शन होते हैं।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, भारतीय मत 'अनुकरण' को विशेष महत्व नहीं देता है। वह तो रसवादी होने के कारण आन्तरिक भावों को कला में अभिव्यक्त करना मुख्य उद्देश्य रूप में स्वीकार करता है। भारतीय चित्रकला, मूर्तिकला और भवन-निर्माण-कला (मंदिर) मानव-अनुभूतियों के विविध रूपों को चित्रित करती हैं। केवल बाह्य पदार्थों का ही अनुकरण हमारा इष्ट नहीं रहा है। ग्रीक के अपोलो की मूर्ति में शरीर की माँस पेशियों को उभारने का प्रयत्न मुख्य है जबकि भारतवर्ष की गौतम बुद्ध की मूर्ति में एक प्रकार की शान्ति और सौम्यता अंग अंग से झलकी पड़ती है। यह अन्तर केवल मूर्ति-कला तक ही सीमित न होकर सभी कलाओं में व्याप्त है। जीवन में संघर्ष को प्रधानता देकर यथार्थवादी कलाकार ग्रीक में दुखान्त की Tragedy को सुखान्त की Comedy से विशिष्ट स्थान देते हैं।

प्लेटो और अरस्तू के मत का विरोध हीगेल (Hegel) ने किया है। हीगेल के अनुसार सौंदर्य निम्नस्तरीय और निर्जीव पदार्थों में नहीं पहचाना जा सकता है। एक गंदे लोहे के टुकड़े की अपेक्षा सूर्य के गोले में और उससे भी अधिक नक्षत्रों में सौंदर्य होता है। पौधों में इन सबसे अधिक सौंदर्य पाया जाता है। मानव अपने चारों ओर प्रकृति में जो सौंदर्य पाता है कला द्वारा उससे भी बड़ा सौंदर्य निर्मित करता है और इस प्रकार कला प्रकृति से श्रेष्ठ है।[1]

कला के अभिव्यक्त रूप का विश्लेषण करने पर उसके तीन अंग किये जा सकते हैं जिन्हें 'भोग' 'रूप' और 'अभिव्यक्ति' संज्ञा दी गई है।[2] भोग से तात्पर्य उस पदार्थ (material) से है जिसकी सहायता से किसी भाव को मूर्त्त स्वरूप देने में सफलता प्राप्त होती है। किसी भवन या मूर्ति के निर्माण में हमें जिस प्रस्तर-खंड और प्लास्टर आदि के लिए सीमेंट की आवश्यकता होगी उसे 'भोग' कहा गया है। यह कला का वह भौतिक भाग है जिसको आधार मानकर ही कलाओं का वर्गीकरण तथा स्थान निर्धारण किया गया है। जिस कला में जितना ही सूक्ष्म भौतिक पदार्थ प्रयुक्त होगा वह उतनी ही सूक्ष्म और उच्च कोटि की समझी जायगी।

दूसरा तत्त्व 'भोग' तत्त्व कहलाता है। जितने सुन्दर पदार्थ हैं सभी के आकार, प्रकार और अवयव-संस्थान में एक प्रकार की विशेषता पाई जाती है। 'भोग' तत्त्व दो स्थानों पर समान हो सकता है किन्तु इस विशेष आकार की भिन्नता के कारण उससे निर्मित दो कलाभिव्यक्तियाँ अलग अलग हो सकती हैं। सफेद पत्थर से ही मंदिर और उसी से कोई मूर्ति बनाई जा सकती है—केवल आकार की भिन्नता ने दोनों को अलग अलग विभागों में रख दिया। सुन्दर वस्तु का आकार ही 'रूप' कहलाता है।

तीसरा तत्त्व 'अभिव्यक्ति' है। भोग और रूप तत्त्व के समन्वय से ही हमें आनन्द आने लगता है किन्तु वह आनन्द अपनी चरम कोटि पर बिना अभिव्यक्ति के पहुँच नहीं पाता और 'रस' दशा का अनुभव चरमावस्था में ही स्वीकार किया गया है अतः यह स्वीकार किया

1—'Man creates more adequate forms of beauty than he finds already existing in the world about him. Art is superior to Nature.' (Hegel)

२—द्रष्टव्य—सौन्दर्य-शास्त्र
—डा० हरद्वारीलाल शर्मा

गया है कि मन्दिर, मस्जिद, मूर्त्ति, चित्र, संगीत और काव्य आदि—सभी कलाभिव्यक्तियों में गंभीर मानव अनुभूतियाँ हमें सबसे अधिक प्रभावित करती हैं। किसी मानव-भाव को व्यंजित न करने वाली अभिव्यक्ति कला की सीमा में नहीं आती है। महात्मा गौतम बुद्ध के उज्ज्वल मुख पर जो पवित्र भाव-प्रदर्शन कराया गया है वही उस मूर्त्ति का सर्वस्व है और वही हमारे आनन्द का मूल कारण है तथा कला की श्रेष्ठता सिद्ध करने में उसका मुख्य हाथ है। इसी तत्त्व को 'अभिव्यक्ति' कहा जाता है।

सौंदर्य-शास्त्र के अनुसार यदि हम रूप-तत्त्व के गुणों का विवेचन करें तो हमें चार तत्त्व मुख्य रूप से दिखाई देते हैं (१) सापेक्षता (Proportion) (२) समता (Symmetry) (३) संगति (Harmony) और (४) सन्तुलन (Balance)

सापेक्षता रूप का वह गुण है जिसमें भौतिक पदार्थ (पत्थरों के टुकड़े, ईंटें, शब्द आदि) एक दूसरे से सम्बन्धित बने रहते हैं। इनका यह जोड़ सापेक्ष होता है इस लिए इस गुण को सापेक्षता का गुण कहा गया है। भौतिक पदार्थ को सजाने में एक योजना के अनुसार कार्यशील होकर उन्हें यथास्थान सजाना होता है। अवयवों के समूह को एक स्थान पर योजना-हीन स्वरूप में एकत्र कर देने से ही कला का पूर्ण रूप उपस्थित नहीं हो सकता। सारे भवन के सौंदर्य में प्रत्येक ईंट का अपना एक विशिष्ट स्थान तथा भाग है। कला का प्रत्येक खंड अङ्गी का अङ्ग समग्र का महत्वपूर्ण अवयव होता है। 'समग्र' में अवयवों का यह चमत्कार ही 'माधुर्य' कहा जाता है। यदि किसी सुन्दरी के सभी अंग सुन्दर और सापेक्ष हैं तो निश्चित रूप से वह परम सुन्दरी कही जायगी। यद्यपि सभी अंग अलग अल हैं किन्तु मिलकर एक परम सुन्दर और 'लावण्यमयी' स्त्री का रूप धारण कर लेते हैं ठीक उसी प्रकार ज्यामितिक आकारों में भी हमें तरंगायित करने का गुण उसके अवयवों के गुंफन से ही उत्पन्न होकर 'उदारता' नामक संज्ञा ग्रहण करता है। लावण्य और उदारता आदि गुण रूप तत्त्व में सहृदय को 'सजीवता' (जीवन) का अनुभव करा देते हैं। महाकवि हर्ष ने दमयन्ती के सौंदर्य का वर्णन करते हुए उसके इन्हीं गुणों को सराहा है—

धन्याऽसि वैदर्भि ! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इत:स्तुति: का खलु चन्द्रिकाया यदब्धि मप्युत्तरलीकरोति।

Claritas महोदय भी कहते हैं कि सुव्यवस्थित अंग-विन्यास से ही सौंदर्य का जन्म होता है।[1]

जिस प्रकार सौंदर्य-भावना के लिए प्रभाव की अन्विति का होना आवश्यक है ठीक उसी प्रकार रूप तत्त्व में 'समता' का होना अनिवार्य है। सौन्दर्य की व्यापकता 'समता' की अत्यन्त आवश्यकता होती है। बिना 'समता के सापेक्षता का भी कोई मूल्य नहीं है। 'समता' के लिए ही हम पहिले ज्योमेट्री में कोई रेखा, बिन्दु या कोण आदि मूल रूप में स्वीकार कर लेते हैं और अन्य रेखाएँ उसी 'समता' में खींची जाती हैं। सुन्दर शरीर के सभी अंग 'समता' को दृष्टि में रखते हुए होने चाहिए। ठिगने शरीर पर बड़ा सिर कितना अरुचिकर प्रतीत होता है। जहाँ 'सापेक्षता' और 'समता' मिल जाती हैं वहाँ कोई साधारण पदार्थ (Object) भी सुन्दर बन जाता है। Plotinus ने भी समता में सौन्दर्य कहा है ?[2]

तीसरा तत्त्व सँगति विरोध का शमन करता है। विरोध को समाप्त करने के साथ साथ अनेक में एकता उत्पन्न करना इस गुण का प्रमुख कार्य है। इसी को unity in diversity कहते हैं।[3] इसके रूप तत्त्व

1—The beauty of any material is congruence of parts together with a certain sweetness. (Claritas)

2—'Beauty is rather a light that plays over the symmetry of things. (Plotinus)

3—This may be described as the principle that beauty consists in the imaginative or sensuous expression of unity in Variety. (B. Bosanquet)

का प्रमुख गुण होने का कारण सामंजस्य और समन्वय उत्पन्न करना है। काव्य, नाटक, चित्र, संगीत और मूर्ति आदि में जहाँ कहीं रूप है वहाँ 'संगति' भी है। बिना संगति के 'रूप' भी 'कुरूप' हो जायगा। यदि किसी चित्र को देखें तो हमें ज्ञात होगा कि उसमें अनेक रेखाओं की 'संगति' ही रूप तत्त्व को जन्म देती है। यदि रेखाओं की या रंग की 'संगति' न बिठाई गई होती तो क्या चित्र में सौन्दर्य उत्पन्न हो सकता था ! कविता के कला-पक्ष का विश्लेषण करने पर भी ज्ञात होता है कि शब्द अर्थ अलंकार आदि की संगति ही कवि के भाव का द्योतन कराती है। संगति न होने से कविता न सुन्दर होगी और न उससे 'रस' की 'चर्वणा' ही सम्भव है।

'भावना के रूप में अनेक अँगों का विन्यास, सहकारी भावनाओं का समावेश, तथा अन्य तत्त्वों की योजना जिस नियम के अनुसार की जाती है, उसे हम 'संतुलन' कहते हैं।' ह्वाइटहैड नामक विद्वान ने 'सन्तुलन' की व्याख्या की है और बताया है कि जब अनेक तत्त्व एक योजना में आबद्ध होकर एक दूसरे को आघात नहीं पहुँचाते वरन् सौंदर्य को उत्पन्न करते हैं वहीं सन्तुलन के दर्शन होते हैं। ह्यूम नामक दार्शनिक भी कहते हैं कि सौंदर्य की उत्पति वहीं होती है जहाँ सभी तत्त्वों को हम एक संतुलित रूप में प्राप्त करते हैं। इसी से हमें एक प्रकार का आनन्द या संतोष मिलता है।[1] मथुरा के म्यूजियम में रखी हुई गौतम बुद्ध की मूर्ति में सभी अंगों का विन्यास इस प्रकार का है जिससे उनके मन की शान्ति और अहिंसा की भावना स्पष्ट परिलक्षित होती है। यदि यह सन्तुलन बाहर और भीतर का उसमें न होता तो क्या वह उतनी आनन्ददायी हो सकती थी ? कविता में भी भाषा और भाव के सन्तुलन पर ही कविता की श्रेष्ठता आधारित होती है। रीति-काल में बिहारी की कविता इसीलिए सर्वश्रेष्ठ है कि उसमें भाव और भाषा दोनों का उच्चस्तरीय सन्तुलन स्थापित किया गया है। भवन, चित्र, मन्दिर, मस्जिद तथा काव्य सर्वत्र जहाँ सौन्दर्य पाया जायगा वहाँ अवयवों का परस्पर सन्तुलन तथा भाव और रूप सन्तुलन अवश्य होगा।

सभी कलाओं में इन गुणों के प्रयोग तथा सौन्दर्यानुभूति से उसका सम्बन्ध निश्चित करना आवश्यक है। काव्य में शब्द और अर्थ का समन्वय, अर्थों की परस्पर संगति, सन्तुलन, सापेक्षता, शब्द चयन में ओज, माधुर्य आदि अनुभूतियों को जगाने वाली ध्वनि तथा गति में संगति और लय सौंदर्य को जन्म देते हैं। कविता की किसी पंक्ति के शब्दों को बिखेर कर अलग अलग कर दिया जाय तब क्या उन शब्दों को अलग अलग पढ़कर भी वही आनन्द आ सकेगा जो उस पंक्ति को उसके मूल रूप में पढ़कर आता है—उत्तर है कदापि नहीं। इससे सिद्ध हो जाता है कि कला के उपकरणों में सौंदर्य न होकर उसके कलाकार द्वारा निर्मित स्वरूप में ही सौन्दर्य होता है।[1] कवि बिना माध्यम (शब्द) के भावाभिव्यक्ति नहीं कर सकता, अतः रूप कला की रीढ़ है। साहित्य में अर्थ भी रूप युक्त होता है। साहित्य की अनेक विधाएँ अनेक साहित्यक मूर्त्तियाँ हैं। यदि कहें तो कह सकते हैं कि ये अर्थ के अनेक व्यक्त रूप हैं। अपनी अनुभूतियों को मूर्त्त रूप देकर कलाकार कला का स्वरूप निर्माण करता है। नाटक में बीज से लेकर फल तक एक रूप विकसित होता चलता है। साहित्य में रूप का सौंदर्य महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

1—'Beauty is such an order and construction of parts as either by the construction of parts, as either by the primary constitution of our nature, by caution or by caprice, is fitted to give a pleasure and satisfaction to the soul.

(Treatise of Human nature)

1—Beauty is only in the form not in the materiel.' (Creuzer, P. 1003)

संगीत का वाहन स्वर है। इसमें गति आवश्यक है। इस गति पर ही सारे संगीत का आनन्द निर्भर है। अतः इस गति में संतुलन बना रहना चाहिए। लय और सुर की संगति बनी रहना अनिवार्य है। मधुर ध्वनियों में उतार-चढ़ाव का तारतम्य सदैव बना रहता है। गायकों ने नीचे से उठकर ऊपर तक पहुँचने के तारतम्य को खंडों में बाँट दिया है। भारत में ये २२ श्रुतियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। जिन श्रुतियों के भेद हम अपने कानों द्वारा अनुभव कर लेते हैं उन्हें 'शुद्ध स्वर' कहा गया है। ये सात हैं—'सा रे ग म प ध नी'। इनमें 'स' और 'प' का रूप ज्यों का त्यों रहता है और पांच अपने मूल रूप से विकृत होकर अन्य पांच स्वरों का सृजन करते हैं इस प्रकार कुल १२ स्वर कहे जाते हैं। ये स्वर संगीत की वर्ण-माला हैं। जिनसे संगीत व्याकरण के नियमों के अनुसार अभ्यास करने पर मानव मन को सहज ही आनन्दित किया जा सकता है। संगीत में हमें भोग, रूप और अभिव्यक्ति तीनों तत्त्व मिलते हैं। भोग में मधुर और मन को द्रवित कर देने वाला नाद गृहीत होता है। संगीत में धीरे धीरे आरोह-अवरोह के द्वारा सहृदय में एक प्रकार की तन्मयता आ जाती है जिससे श्रोता लोकोत्तर आनन्द में डूब जाता है, यही रसावस्था है। संगीत का प्रभाव दो कार्य करता है (१) वह हमें जड़ता से हटा देता है तथा (२) जीवन में प्रवाहित करता है। संगीत का रूप देखा नहीं जा सकता उसे सुना जा सकता है। इसमें रूप के सभी गुण रहते हैं। संगीत में स्वरों का विन्यास जब तक उपयुक्त न होगा, तब तक सौंदर्य की उपलब्धि न होगी। गति, माधुर्य और लय का समन्वय संगीत को सभी कलाओं से अधिक व्यापक और पशुओं तक पर प्रभाव डालने वाला बनाता है। उक्त तीनों गुण (गति, माधुर्य और लय) काव्य ने भी संगीत से ग्रहण किए हैं। शब्द और अर्थ के साथ जब ये गुण मिल जाते हैं तो काव्य का सौंदर्य अगणित हो जाता है जिससे 'रस' की उत्पत्ति होती है। संगीत स्वरों का काव्य है और काव्य शब्दों का संगीत है। कलाओं में काव्य और संगीत का निकटतम सम्बन्ध है।

रेखाओं और वर्णों के सामंजस्य का फल चित्र होता है। इसका वाहन 'दृश्य' या 'स्थानिक' होता है। 'दृश्य-संगीत' का जो नाम चित्रकला को दिया गया है वह यथार्थ है। स्थानिक होने के कारण चित्र में गत्यात्मकता उत्पन्न करने के लिये रेखाओं को उतारचढ़ाव देकर संगति बिठाई जाती है। वर्णों में भी घनता और विरलता को स्थापित करके अनेक भावदशाओं को मूर्त्त स्वरूप प्रदान किया जाता है। चित्र में अनेक रँगों और रेखाओं का प्रभाव हमें एक नवीन भावलोक में पहुँचा देता है और उस भाव में मग्न होकर जब पुनः चित्र पर दृष्टि जाती है तो जो नवीन भावोत्कर्ष की अवस्था आ जाती है वही रस दशा है और उसी को उत्पन्न करना चित्रकार का इष्ट होता है। चित्र की रेखा-भाषा संगीत के स्वर का कार्य करती है। स्वरों से जहाँ चित्त द्रवित होता है वहाँ रेखाओं से चित्ताकर्षण होता है। यदि चित्र में आकृति और भाव की संगति का अभाव हो तो चित्र की उत्कृष्टता ही अस्वीकृत नहीं होगी वरन् वह कला के उच्च स्तर से भी गिर जायगा, उसे असुन्दर कहा जायगा। साहित्य के समान चित्र में कोई भाव भी निहित रहता है जिसकी अभिव्यक्ति कलाकार का उद्देश्य है। एक सुन्दर चित्र सुन्दर काव्य है। भरत ने प्रत्येक रस की अभिव्यक्ति के लिए रंगों का चयन भी किया है।[1] रङ्गों का प्रभाव मनुष्य की मूलभूत भावनाओं से सम्बन्धित कुछ मनोविज्ञान-शास्त्री भी मानते हैं। हमारा मुख प्रसन्नता में लाल, दुख में पीला, पवित्र भावों के उदय होने पर उज्ज्वल और श्वेत रङ्ग का हो जाता है। रङ्गों की सहायता का उपयोग रूप निर्माण में किया जाता है। सुन्दर चित्र में रङ्गों के सामंजस्य से व्यापक प्रभाव उत्पन्न होता है जो रसमग्न कर देता है। चित्र का उद्देश्य दर्शक की कल्पना को जागृत करना होता है। रेखाओं के संकेत-मात्र से अनेक कल्पनाएं सजीव होकर दर्शक को कल्पना-लोक में ले जाती हैं। अनेक ऐसी परिस्थितियों का दर्शक स्वयं सृजन कर लेता है जो वहाँ

१ श्यामो भवति शृङ्गारःसितो हास्यो प्रकीर्तितः। (भरत नाट्यशास्त्र)

उपस्थित नहीं हैं और इस प्रकार एक 'अन्तर्भावना' के जागृत हो जाने से वह चित्र उसकी प्राण शक्ति से अनुप्राणित होने लगता है। उस स्थिति में दर्शक आत्मीयता का अनुभव करने लगता है। कीट्स के उदाहरण से हम इस सत्य को समझ सकते हैं। ग्रीस के कुछ पात्रों पर बने हुए प्राचीन चित्रों को लन्दन में देखकर उन्नीसवीं शती का सुप्रसिद्ध स्वच्छन्दतावादी कवि कीट्स अत्यन्त भावुक हो उठा था और एक कविता जिसमें उसने कल्पना शक्ति द्वारा उन चित्रों के साथ तादात्म्य स्थापित कर दिया था, कहता है—

'हे सुन्दर युवक! (जो चित्र में अङ्कित है) तुम जिन पेड़ों के नीचे खड़े हो उन्हें त्याग नहीं सकते हो। तुम्हारा संगीत स्वर कभी मध्यम न होगा और पेड़ों में कभी पतझड़ न आएगा!'[1]

इस प्रकार कीट्स ने बताया कि चित्रकला में शाश्वतता का बड़ा भारी गुण होता है। इस चित्र द्वारा जिस भूत-कालिक सत्य को स्थिर स्वरूप प्रदान किया गया है यही कला है और यही सौन्दर्य है। इसी आधार पर अन्त में कीट्स महोदय सत्य और सुन्दर की एकता स्थापित कर देते हैं। इनके अनुसार सौंदर्य ही सत्य है और सत्य ही सौंदर्य है।[2]

नृत्य का माध्यम गति है। गति में लय होती है। गति का अध्ययन करने वाले आधुनिक वैज्ञानिक बताते हैं कि प्रत्येक पदार्थ और अणु अणु तक गतिशील है। सभी में परिवर्तन हो रहा है और यह परिवर्तन ही विकास है। गति से जड़ता का नाश और जीवन प्रवाह में सरसता आ जाती है। भरत की नृत्य शैली के अनुसार नृत्य में अनेक भावों की अभिव्यक्ति गति और मुद्राओं द्वारा की जाती है। नृत्य की गतियाँ चित्र के रंगों की भांति मानव भावों की प्रतीक मानी जाती हैं। यदि नर्तक या नर्तकी अपनी सभी गतियों और मुद्राओं से एक ही भाव का अनुभव कराती है तो प्रेक्षक के हृदय में वही भाव जागृत हो उठता है। इसका विवेचन करते समय भरत ने बताया है कि 'सुनने की अपेक्षा देखने से रसानुभूति शीघ्र और व्यापक होती है', इसीलिए उन्होंने रस-विवेचन में नाट्य को दृष्टिगत करते हुए विश्लेषण किया है। भरत के अनुसार कला का मूल उद्देश्य सुख और विश्रान्ति है, क्योंकि सभी सुख की इच्छा रखते हैं।[1] सुख का मूल स्थान स्त्री है।[2] अतएव नृत्य के इस प्रकार को 'लास' कहा जाता है। स्त्रीत्व की अपेक्षा पुरुषत्व अधिक गतिशील और ओजवान होता है। अतः पुरुष के नृत्य को ताण्डव कहते हैं।

जीवन एक प्रवहमान सत्य है जिसमें वर्तमान कालीन प्रत्येक क्षण अगले क्षण भूतकालिक स्वरूप धारण कर लेता है। इस क्षण को पुनः लौटाया जा सकना संभव नहीं होता है। कलाकार इस क्षण को कला के माध्यम से शाश्वत स्वरूप प्रदान करता है। इसी माध्यम को मूर्ति संज्ञा से अभिहित किया गया है। कलाकार अपनी कल्पना और शिल्प के सामंजस्य द्वारा काल के गाल में गए हुए क्षण को मूर्तिमान स्वरूप प्रदान कर देता है! एक क्षण का अनुभव होने के कारण मूर्त्ति का रूप स्थिर और अचल प्रतीत होता है किन्तु वह क्षण भी एक तरङ्ग की भाँति चंचल है। यदि हम कल्पना के सहारे उस क्षण का साक्षात्कार करते हैं तो उससे पूर्व तथा पश्चात् के अनेक क्षण साकार हो उठते हैं और वह मूर्ति हमें ऐसे कल्पनालोक का दर्शन कराती है जहाँ

1—Fair youth, beneath the trees,
thou canst not leave.
The song, nor ever can those
trees be bare;
(Keats : Ode on a Grecian urn)

2—Beauty is Truth, Truth
Beauty'—that is all.
Ye know on earth and all ye
need to know. (वही)

१—सर्वः प्रायेण लोकोऽयं सुखमिच्छति सर्वदा।
(भरत)

२—सुखस्य च स्त्रियो मूलं, नानाशील धराश्चताः
(वही)

जीवन तरल और उल्लसित होकर प्रवाहित होने लगता है। कलाकार ने जिसका मूर्ति में एक क्षण अंकित किया है उसका सारा जीवन हमारे सामने आजाता है और उसके आनन्द में हम तन्मय हो जाते हैं। आयाम, रंग, आकार आदि की संगति दर्शक के हृदय में अनेक भावनाओं को साकार स्वरूप प्रदान कर विशिष्ट को साधारणीकृत कर देती है। अन्य कलाओं में घन और आयतन का प्रभाव उत्पन्न नहीं किया जा सकता है, जो मूर्तिकला की विशेषता है। मूर्तिकला के माध्यमों में लोच भी अधिक होता है। इसमें कलाकार अर्थ, स्वर, रंग आदि के अधीन नहीं रहता। 'गुरुता' जैसा गुण पत्थर में ही पाया जाता है। इसीलिए भारत में ईश्वर की अधिकाँश मूर्तियाँ पत्थर की ही पाई जाती हैं। इसमें कलाकार को सबसे अधिक स्वतन्त्रता का अनुभव होता है। मूर्तियों द्वारा अद्भुत रस की व्यंजना बहुत सुन्दर होती है। शिवजी के वाहन, वृषभ, शूकर, कच्छप और सिंह आदि की मूर्तियाँ आज भी चमत्कृत कर देती हैं। अजन्ता की मूर्तिकला आज भी हमें रसमग्न कर देती है। कला के सौन्दर्य का विश्लेषण करते हुए अरस्तू और लौंजाइनस सभी ने आश्चर्य (wonder) और भय (awe) को विशेष महत्व प्रदान किया है। Sublimity में आश्चर्य का भाव होता ही है। मूर्तिकला में आश्चर्य के भाव को तृप्ति मिलती है।

मूर्तिकला जहाँ जीवन की गतिशीलता का स्थिर चित्र है वहाँ स्थापत्य या भवन-निर्माण-कला जीवन के शुद्ध शाश्वत तत्त्वों का मूर्तिकरण है। कला में रागात्मक तत्त्व की प्रधानता होती है, दर्शन बुद्धि का क्षेत्र है जहाँ भावना का स्थान नगण्य है; किन्तु जब बुद्धि तत्त्व को राग का आश्रय प्राप्त हो जाता है तभी वह तरल होकर कला का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। 'चिरंतन शाश्वत और आवाङ्मनसगोचर' तत्त्व को व्यक्त करने के लिये जहाँ अनेक अन्य माध्यम स्वीकार किए गए हैं वहाँ ज्यामितिक आकारों को भी स्थापत्य कला के माध्यम से यह पद प्राप्त हो गया है। साहित्य में इस तत्व का निर्देशन जब कोरे तर्क के आधार पर किया जाता है तो वह कला के क्षेत्र से बाहर की वस्तु होकर दर्शन की संज्ञा ग्रहण कर लेता है किन्तु जब यही दर्शन भाव-तत्त्व से तरलित होकर मधुर भाव मय मन्दिर का स्वरूप प्राप्त कर लेता है तो सौन्दर्य कहा जाने लगता है। 'भवन का सौन्दर्य' भी तदनुरूप भाव-समन्वय आदि पर आधारित होता है। उस तत्त्व में आरोपित गुणों के आभास की संगति जितनी अधिक कुशलता से शिल्पी बिठा सकेगा, उसमें उतना ही अधिक सौंदर्य उत्पन्न हो जायगा और वह उतनी ही उच्चकोटि की कला स्वीकार की जायगी।

ज्यामितिक आकारों में सीधी रेखाएँ अच्छी मानी जाती हैं और भवन-निर्माण में भी सीधी दीवारें इसी आधार पर बनाई जाती हैं। इसका कारण बताते हुए प्लेटो ने कहा है कि सामान्य ज्यामितिक आकृतियाँ हमें सबसे अधिक सुन्दर लगती हैं।[1] इसका विवेचन करते हुए बुशांके महोदय अपने इतिहास में बताते हैं कि ये आकृतियाँ एकता के शुद्ध उदाहरण हैं जो जीवन में सादगी, समता और क्रम की व्यंजना कराती हैं।[2]

भवन निर्माण में गोल खम्भे इसलिए लगाए जाते हैं कि प्रकृति में पेड़ों के बोझ को आश्रय देने वाले तने गोल होते हैं। सारी प्रकृति में सर्वश्रेष्ठ प्राणी नारी के स्तन गोल होते हैं और मानव के बोझ को उठाने

(शेष पृष्ठ १३१ पर)

1—Elementary geomatrical forms, even the straight line, and more particularly certain triangles, are set down as absolutely beautiful (Plato: Philebus)

2—We have interpreted this to mean that they are among the purest examples of unity in the form of simple, regular and symmetrical shape. (B. Bosanquaet : History of Aesthetic. P. 35.)

आलोचना की मूल दृष्टि : सौन्दर्य-दृष्टि

प्रो० तारकनाथ बाली

सौंदर्य काव्य का एक अनिवार्य उपकरण माना है—भारतीय काव्य-शास्त्र में ही नहीं वरन् प्राचीन ग्रीक-काव्य-शास्त्र में भी। एक ओर तो यह उक्ति बहुत प्रसिद्ध है—

'सौंदर्यमलंकार:। काव्यम् ग्राहमलंकारात्,'

और दूसरी ओर सत्यं शिवं, सुन्दरं का भी बोल-वाला है। इसलिए काव्य और सौंदर्य का घनिष्ट सम्बन्ध सभी को स्वीकार्य है। हीगेल ने कलाओं का जो वर्गीकरण किया है उसमें भी ललित तथा उपयोगी कलाओं के विभाजन के मूल में काव्य का एक प्रधान तत्व—सौंदर्य ही परिलक्षित होता है।

सौन्दर्य और काव्य के घनिष्ठ सम्बन्ध पर तो किसी को सन्देह नहीं हो सकता, किन्तु सौंदर्य-शास्त्र और काव्य-शास्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर कुछ सन्देह अंकुरित हो सकता है। प्रश्न हो सकता है कि काव्य-शास्त्र के सम्यक ज्ञान में सौंदर्य मीमांसा का क्या स्थान एवं महत्व है? तो इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि काव्य-शास्त्र में जो स्थान अलं-

---

(पृष्ठ १३० का शेषांश)

वाले पैरों की जंघाएं भी गोल ही होती हैं। ग्रीक और मिश्री कला के समान भारतीय कला में भी गुम्बदों और मेहरावों का बड़ा महत्व है। गोलवृत्त अपने में पूर्ण होता है तथा उसमें पूर्णता और महानता की भावना भी है इसीलिए ब्रह्म की पूर्णता को प्रदर्शित करने के लिये मन्दिरों आदि के भवनों में गुम्बद बनाए जाते हैं। इस माध्यम से कलाकार हमें उस परम-तत्व का अनुभव कराता है।

अन्त में निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि सभी कलाएं सौन्दर्य को आदर्श स्वीकार करती हैं और उद्देश्य एक ही होने के कारण अन्य अनेक संचालक तत्त्वों में भी सादृश्य है। सभी कलाओं के रूप तत्त्व में समान गुण पाए जाते हैं। कलाकार अपने भाव को अभिव्यक्त करने के लिए रूप का आश्रय ग्रहण करता है और उसमें अनेक गुण उत्पन्न कर उसे सुन्दर बनाता है। कलाकार कला के माध्यम से सौंदर्य को जन्म देता है और यह सौन्दर्य रूपतत्त्व के माध्यम से प्रस्फुटित होता है।

श्री 'महेन्द्रचन्द्र राय' ने ठीक ही कहा है कि "कला-सृष्टि भाव व कल्पना के वाह्य रूपायन के अलावा और कुछ नहीं है। रूपायन ही शिल्पकला का प्रथम और प्रधान व्यापार है। इसीलिए क्या साहित्य में और क्या अन्य किसी कला में सौंदर्य का अर्थात् सुसंगत रूप का प्रश्न एक मौलिक और अपरिहार्य प्रश्न है।"[1]

आज हिन्दी साहित्य में सौन्दर्य-सृष्टि-प्रक्रिया में काव्य, कथा, नाटक आदि रूपों में सौन्दर्य के रूप-नियमों की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। खेद का विषय है कि प्रयोगवादी काव्य में भाषा, भाव, कल्पना, छन्द आदि के सामञ्जस्य, संगति, सुसम्बद्धता की ओर कम ध्यान दिया जाता है।

---

१ मार्क्सवाद और साहित्य—महेन्द्रचन्द्र राय
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
१९५७

कार-शास्त्र एवं छन्द-शास्त्र आदि को प्राप्त हैं वही स्थान सौंदर्य-शास्त्र का भी है।

यहाँ दो बातें स्पष्ट होनी चाहिए। प्रथम सौंदर्य अलंकारों तथा छन्दों से कहीं अधिक मूल भूत काव्य-गुण है। अलंकारों तथा छन्दों की उपयोगिता पर विचार करते समय हम यही कहते हैं कि अमुक रस के लिए अमुक छन्द अधिक उपयुक्त, अनुकूल या सुन्दर है तथा अमुक कविता में अलंकारों से उसकी सौंदर्य-वृद्धि या सौंदर्य-हानि हुई है। यह बात बहुत महत्वपूर्ण है; क्योंकि इस बात को समझ लेने पर यह मानना पड़ता है कि सौंदर्य काव्य का एक प्रधान तत्त्व ही नहीं वरन् वह काव्य-मीमांसा की एक **मूल दृष्टि है,** एक मूल कसौटी है तथा काव्य के अन्य उपकरणों का—छन्द-अलंकारादि का—मूल्यांकन इसी मूल दृष्टि या मूल कसौटी पर कस कर किया जाता है।

साहित्य-शास्त्र में दिए गए काव्य-दोषों के सामान्य ज्ञान से यह मान्यता और भी पुष्ट होती है। श्रुति कटुत्व, ग्राम्यत्व आदि दोष क्यों दोष हैं? क्योंकि वे काव्य के सौंदर्य को क्षति पहुँचाते हैं।

द्वितीय, सौंदर्य अलंकारों तथा छन्दों से कहीं अधिक व्यापक है। अलंकारों में भी सौंदर्य होता है, छन्द में भी सौंदर्य होता है, तथा शब्द-योजना आदि में भी सौंदर्य होता है। काव्य में सौंदर्य के इस व्यापक प्रसार एवं महत्व के विषय में भी किसी को सन्देह नहीं रह जाता।

भारतीय काव्य-शास्त्र की समृद्धि के विषय में किसी को कोई सन्देह नहीं हो सकता है। किन्तु यह प्रश्न आ सकता है कि जब सौन्दर्य काव्य-मीमांसा की एक मूल दृष्टि है तो हमारे प्राचीन आचार्यों ने उसका विवेचन क्यों नहीं किया या इतना कम क्यों किया? यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है और इस पर सावधानी से विचार करने की आवश्यकता है।

पहली बात तो यह है कि किसी को भी यह स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए कि संस्कृत काव्य-शास्त्र में सौंदर्य-मीमांसा नहीं के बराबर है। किसी ने भी काव्य-शास्त्र की मूल दृष्टि के रूप में सौंदर्य को स्वीकार नहीं किया है। इस पर भी कुछ लोग भारतीय सौंदर्य-शास्त्र की बात करते सुनाई पड़ते हैं। इसका एक कारण है। और वह यह कि वे लोग सौंदर्य-शास्त्र और काव्य-शास्त्र के सूक्ष्म भेद को नहीं समझ पाते। और वह सूक्ष्म भेद यही है कि सौंदर्य मूल सूक्ष्म दृष्टि है जो काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के रूप में प्रतिफलित होती है।

यह प्रश्न हो सकता है कि जब सौंदर्य काव्य-शास्त्र की मूल दृष्टि है और उसका विवेचन हमारे काव्य-शास्त्र में नहीं हुआ तो फिर हमारे काव्य शास्त्र की क्या उपयोगिता रह जाती है? तब उसे किस आधार पर समृद्ध कहा जाए?

इस प्रश्न के उत्तर में पहली बात तो यह है कि संस्कृत के आचार्यों की मूल दृष्टि सौंदर्य की ही रही; किन्तु उन्होंने इस दृष्टि का विवेचन नहीं किया। जब औचित्य सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हुई और जब यह कहा गया कि अनौचित्य के अतिरिक्त रस-भंग का अन्य कोई कारण नहीं है, तो स्पष्टत: इस सिद्धान्त के मूल में सौंदर्य-दृष्टि ही कार्य कर रही थी। अनुचित असुन्दर एवं अग्राह्य है, उचित सुन्दर एवं ग्राह्य है। ऊपर दिए गए दोषों के संकेत में यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है।

दूसरी बात यह भी विचारणीय है कि संस्कृत के परवर्ती आचार्यों की दृष्टि सौंदर्य की नहीं वरन् रस की है। बाद के आचार्यों ने काव्य के प्रत्येक उपकरण का मूल्यांकन **रस-दृष्टि** से ही किया। जो तत्त्व रसोत्कर्ष में सहायक है वह वांछनीय एवं सुन्दर है और जो तत्व रसोत्कर्ष में बाधक है वह त्याज्य एवं असुन्दर है। उदाहरण के लिए अलंकार वहीं काव्य हैं जहाँ वे रसोत्कर्ष में सहायक हैं, और जहाँ वे रसोत्कर्ष में सहायक नहीं, बाधक हैं वहाँ वे सर्वथा त्याज्य समझे जाते हैं। प्रथम रूप में अलंकार सुन्दर है और द्वितीय रूप में असुन्दर।

अब यहाँ एक अन्य जटिल समस्या उपस्थित होती

हैं। संस्कृत के परवर्ती काव्य शास्त्रियों की दृष्टि रस-दृष्टि है और मैंने ऊपर यह कहा है कि काव्य-शास्त्र की मूल दृष्टि सौन्दर्य-दृष्टि है। इन दोनों में से कौन सी मूल दृष्टि है ? सौंदर्य एवं रस में क्या सम्बन्ध है ?

जिस कविता में रस होता है वह कविता सुन्दर होती है इसमें किसी को कोई सन्देह नहीं हो सकता। सरस रचनाओं में तो रस और सौंदर्य दोनों हैं। उन रचनाओं में यह निश्चय करना चाहिए कि वे रस के, भाव के कारण सुन्दर हैं या सौंदर्य के कारण सरस हैं ?

स्पष्टतः रस तो बाद की चीज है। जब काव्य के अन्य सारे तत्त्व—भाव, कल्पना, विचार एवं शैली सुन्दर एवं समरस रूप में संगठित होते हैं तभी वह सरस बनता है। इन सब तत्त्वों का सौंदर्य मिलकर ही रस की सृष्टि करता है। इसलिए काव्य में सौंदर्य के कारण ही रस की सर्जना होती है। काव्य-योजना की दृष्टि से सौंदर्य रस से अधिक मूलभूत तत्त्व है।

किन्तु उपर्युक्त तथ्यों से एक दूसरा निष्कर्ष भी निकलता है। भाव आदि तत्त्वों के सौंदर्य का प्रयोजन क्या है ? उनकी सत्ता किसके लिए है ? स्पष्टतः उनका सौंदर्य रस के लिए है। इसलिए रस सौंदर्य की अपेक्षा प्रधान है, क्योंकि सौंदर्य की सत्ता रस के लिए है, रस की सत्ता सौंदर्य के लिए नहीं है।

अब हमारे सामने दो सिद्धान्त हैं। प्रथम, सौन्दर्य काव्यशास्त्र की मूल दृष्टि है एवं रस काव्य-शास्त्र (भारतीय) की प्रधान दृष्टि है। इन दोनों सिद्धान्तों में किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं है। हम इन दोनों को स्वीकार कर सकते हैं। दोनों ही सत्य हैं।

यह शंका हो सकती है कि क्या मूल दृष्टि ही प्रधान दृष्टि नहीं हो सकती ? उत्तर यह है कि हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती। और प्रस्तुत विवेचन में ये दोनों दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न हैं। क्योंकि मूल दृष्टि का सम्बन्ध कारण से या व्यंजक से है और प्रधान दृष्टि का सम्बन्ध कार्य से या व्यंग्य से है।

संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों ने काव्य-शास्त्र की प्रधान दृष्टि रस दृष्टि का तो विस्तृत विवेचन किया है किन्तु उसकी मूल दृष्टि—सौन्दर्य दृष्टि—का विवेचन नहीं किया, **यद्यपि** उनके सारे विवेचन का आधार यही सौंदर्य दृष्टि है।

अब एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उपर्युक्त विवेचन से सामाजिक को क्या लाभ होता है ? चाहे उसे ये सब बातें ज्ञात हों चाहे ज्ञात न हों उसे तो सरस रचना में सौन्दर्य एवं रस दोनों की अनुभूति होगी ही। और यदि यह सत्य है तो उपर्युक्त विवेचन का क्या लाभ ?

साहित्य के अतिरिक्त तीन अन्य व्यक्तियों का अस्तित्व उससे सम्बद्ध होता है। एक साहित्यकार, दूसरा साहित्यालोचक और तीसरा सामाजिक ! अनेक सिद्धांत ऐसे हैं जिनके ज्ञान के अभाव में सामाजिक की अनुभूति में कोई अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु साहित्यकार तथा आलोचक के लिए उसका विशेष महत्व होता है।

परिभाषा की समस्या—अब सौन्दर्य की परिभाषा की जटिल समस्या आती है। किन्तु सौन्दर्य की परिभाषा की समस्या को उठाने के पूर्व परिभाषा की समस्या पर थोड़ा विचार करना अनिवार्य है।

विज्ञानेतर क्षेत्रों में परिभाषा की समस्या बड़ी जटिल है। परिभाषाओं का वास्तविक स्वरूप एवं महत्व तो विज्ञान में ही दिखाई देता है; क्योंकि किसी वस्तु की परिभाषा में उसका वह गुण दिया जाता है जो उस वस्तु में हो और साथ ही अन्य किसी भी वस्तु में न हो, ताकि अन्य वस्तुओं से उसकी भिन्नता का ज्ञान भी हो जाये। एक त्रिकोण की परिभाषा में उसके जो गुण दिए जाते हैं वे किसी अन्य आकृति में नहीं होते।

परिभाषा की परिभाषा जान लेने पर अब यह स्पष्ट हो जाता है कि कलाओं के क्षेत्र में किसी भी वस्तु की सही परिभाषा करना असंभव है। किन्तु फिर भी सुविधा के लिए प्रायः सभी वस्तुओं की परिभाषा की जाती है। किन्तु यह ध्यान रहे कि कला के क्षेत्र में एक ही वस्तु की कई परिभाषाएं हो सकती हैं और होती हैं।

किसी भी वस्तु या तत्त्व की परिभाषा तीन पहलुओं

से की जा सकती है : प्रथम उसकी उत्पत्ति की दृष्टि से जैसे (Poetry is spontanious overflow of powerful emotion) द्वितीय उसके स्वरूप की दृष्टि से (जैसे वाक्यं रसात्मकं काव्यं) और तृतीय उसके प्रभाव की दृष्टि से (जैसे कविता मनोभावों का परिष्कार करती है ।)

सौन्दर्य की परिभाषा भी इन्हीं तीनों पहलुओं से की जा सकती है।

१—उत्पत्ति की दृष्टि से—कलाकार की अनुभूति का सहज उच्छलन सौन्दर्यमय होता है।

२—स्वरूप की दृष्टि से—सौन्दर्य एक संश्लिष्ट गुण है।

३—प्रभाव की दृष्टि से—सौन्दर्य सामाजिक को तल्लीन कर देता है।

१—कलाकार की साधना केवल शैली की ही साधना नहीं होती वरन् वह विषय की साधना भी होती है। शब्दों को आत्मसात करने के साथ-साथ वह नाम-रूपात्मक संसार के विविध दृश्यों को भी आत्मसात कर लेता है। शब्दों तथा दृश्यों को आत्मसात करने का यह प्रयास ही कलाकार की साधना है। जिसके फलस्वरूप उसमें अनुभूति का मानस लहरा उठता है जिसमें अभिव्यक्ति के विविध मनोरम कमल स्वयमेव खिल उठते हैं। मानसरोवर में खिलने वाले कमल सहज सौन्दर्य से विभूषित होते हैं। कलाकार की अनुभूति का उच्छलन भी सहज सौन्दर्य से अलंकृत होता है।

२—प्रत्येक वस्तु के समान काव्य में भी अनेक तत्त्व होते हैं। काव्य में अलंकार भी है, छन्द भी है, शैली भी है, भाव भी हैं, विचार भी है और इन सब तत्त्वों का अपना सौन्दर्य होता है। किन्तु काव्य का सौंन्दर्य न तो केवल अलंकार का सौन्दर्य है और न केवल छन्द का, वह तो सभी तत्त्वों के गुणों की पूंजी है, सभी के सौन्दर्य की अविच्छिन्न राशि है, सभी के सम्मिलन से बना एक अखण्ड गुण है।

एक अन्य उदाहरण लें। ताजमहल के सौन्दर्य में उसके आकार का, उसके रूप का, अमर प्रेम का सभी का ही सौन्दर्य तो मिला हुआ है। फिर भी वह सौन्दर्य अविभाज्य है, अखंड है, समग्र है। इसी प्रकार संगमरमर के एक टुकड़े का सौन्दर्य उसके सफेद रंग, तेज चमक, कोमल स्पर्श आदि गुणों की अखंड सृष्टि है।

३—किसी भी सुन्दर वस्तु को देखकर द्रष्टा अपने आपको भूल जाता है। वह उस वस्तु के प्रभाव में बह जाता है। उसे स्व--पर का ज्ञान नहीं रहता। यह तल्लीनता की अनुभूति जितनी ही गम्भीर होगी दृश्य-वस्तु का सौंन्दर्य उतना ही उत्कृष्ट होगा। चेतना का आकाश सौन्दर्य की सुगन्धि में लीन हो जाता है।

अब हमारे सामने काव्यशास्त्र की मूल दृष्टि, सौन्दर्य दृष्टि की मीमांसा का सवाल आता है। सौन्दर्य-दृष्टि पर विचार करते समय जो उलझन आती है उसका मूल कारण यह है कि हम सुन्दर शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में करते हैं। इस प्रयोग की व्यापकता के साथ-साथ उसमें धुंधलापन भी रहता है। ताजमहल में चमक है। किन्तु उसका सौन्दर्य गुण और यह चमक का गुण एक ही स्तर के नहीं। हम उस चमक को आँखों द्वारा देख सकते हैं। किन्तु सौन्दर्य को हम इस प्रकार किसी इन्द्रिय-विशेष से देख नहीं सकते। सौन्दर्य ताजमहल के सभी गुणों का संश्लिष्ट गुण है। इसे यों भी कह सकते हैं कि सौन्दर्य की अनुभूति में व्यक्ति की सभी इन्द्रियाँ सहायक होती हैं। इन्द्रियाँ ही नहीं व्यक्ति का मन एवं मस्तिष्क भी।

व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन का रथ भाव (हृदय) तथा विचार (बुद्धि) दोनों चक्रों के आधार पर बढ़ता रहता है। ये दो शक्तियाँ मानव की मूल शक्तियाँ हैं, उसकी मूल संपत्ति है जिससे समाज के जीवन की समृद्धि के उपकरणों का संग्रह होता है। सौन्दर्य-दृष्टि में भी मानव चेतना के ये दोनों उपकरण या तत्त्व होते हैं।

सौन्दर्य-दृष्टि का एक पहलू रागात्मक पहलू है और दूसरा बौद्धिक पहलू है। उसमें भाव तथा विचार दोनों का सामंजस्य होता है। उसमें जहाँ एक ओर विचार की सूक्ष्मता होती है वहाँ दूसरी ओर भाव का उद्वेलन भी

होता है, जहाँ एक ओर सम्बद्धता होती है वहाँ दूसरी ओर समरसता भी होती है। किसी भी कलाकृति का मूल्यांकन करते समय हम उसकी विचारात्मक समीक्षा भी करते हैं, जो वैज्ञानिकता के धरातल तक पहुँचती दिखाई देती है और साथ ही उसकी सरसता की भी परख करते हैं।

उपर्युक्त तथ्य स्पष्ट हो जाने पर साहित्य एवं कलाओं सम्बन्धी विविध प्रकार की मूल्याङ्कन धाराओं की पारस्परिक भिन्नता का रहस्य भी समझ में आ जाता है। जहाँ तक आलोचक की सौन्दर्य-दृष्टि के रागात्मक पहलू का सवाल है उसमें अधिक भिन्नता की गुंजायश बहुत कम है और विरोध का तो सवाल ही नहीं पैदा होता। किन्तु भिन्न-भिन्न आलोचकों की सौन्दर्य-दृष्टि के बौद्धिक पक्ष में भिन्नता भी हो सकती है और विरोध भी। बुद्धि तत्त्व भिन्नता एवं विरोध को और अन्तत: संघर्ष को जन्म देता है। किसी आलोचक की सौन्दर्य-दृष्टि पर आध्यात्मिकता का रङ्ग गहरा होता है और किसी अन्य की सौन्दर्य-दृष्टि पर भौतिकता इत्यादि का।

उत्कृष्ट कोटि की सौंदर्य-दृष्टि वही है जिसमें विचार एवं भाव का सामंजस्य हो, किन्तु किसी की सौंदर्य दृष्टि में बौद्धिकता और किसी में रागात्मकता की प्रधानता भी होती है। यह भी भिन्नता का एक प्रधान कारण है।

सौंदर्य-दृष्टि के यही दो तत्त्व सौन्दर्य-गुण में भी पाए जाते हैं। सौन्दर्य एक साथ मानव के हृदय और उसकी बुद्धि को स्पर्श करता है। व्यक्ति की बौद्धिक एवं रागात्मक चेतना को एक साथ झंकृत कर देता है और उन गहराइयों को उभार देता है जहाँ हृदय और बुद्धि दोनों एकलय हो जाते हैं। जहाँ इनका द्वैत लीन हो जाता है। कलाओं के सौन्दर्य के प्रभाव की यही अनन्य विशेषता मानव सभ्यता में उन्हें अत्यंत ऊंचा स्थान दिलाने का कारण है।

प्रसाद जी ने काव्य को संकल्पात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति माना है। इस संकल्पात्मक अनुभूति का जरा विश्लेषण तो कीजिए। संकल्प बुद्धि की चीज है और अनुभूति हृदय की। इन दोनों की समरस अवस्था ही संकल्पात्मक अनुभूति है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य के क्षेत्र में व्यक्ति की बुद्धि एवं हृदय का सामंजस्य है। आज के संसार के संघर्षों का प्रधान कारण बौद्धिकता एवं रागात्मकता का संघर्ष बताया जाता है, हृदय पर बुद्धि का प्रभुत्व बताया जाता है। ऐसी अवस्था में कलाओं का उनके गुण-सौन्दर्य के कारण कितना अधिक महत्व हो जाता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

सौंदर्य वस्तुत: मानव शक्तियों को समरस कर देता है और यह सामरस्य की अवस्था ही आनन्द की अवस्था है जिसे व्यक्ति सामान्यत: प्राप्त नहीं कर सकता। यह अवस्था तल्लीनता की अवस्था तो कही जाती है। लेकिन स्पष्टत: यह समझना चाहिए कि यह आत्मविस्मृति की अवस्था नहीं वरन् आत्म-जागरण की अवस्था है, प्रवोधन का संकेत है जो सामाजिक चेतना को परिपुष्ट कर उसे निर्माण की ओर प्रेरित करता है। यही समाज में साहित्य के कृतित्व एवं उपयोगिता का मूल रहस्य है। इस जागरण और इस प्रेरणा की शक्ति एवं सफलता का मूल कारण यही है कि वह केवल बौद्धिक ही नहीं रागात्मक भी है।

इतिहास इस बात की गवाही देता है कि प्रत्येक युग के सत्य ने तब तक जनता को ऊर्जस्वित् नहीं किया जब तक साहित्य ने उसे सौंदर्यमय अभिव्यक्ति नहीं दी, जब तक साहित्यकार ने उसे बुद्धि और हृदय के समन्वति धरातल पर पहुँचाने की कोशिश नहीं की। कबीर और तुलसीदास में जो भेद बताया जाता है उसका प्रधान कारण यही है।

—:०॥०:—

हिन्दी कथा साहित्य : मर्यादा और मान्यताएँ

श्री हीराप्रसाद त्रिपाठी

जादू वह; जो सिर चढ़ कर बोले। साहित्य कला की पहली शर्त है कि उसमें एक सम्मोहन हो, जादू हो। जादू इस अर्थ में कि वह पाठक, श्रोता अथवा दर्शक को अपने प्रभाव से अभिभूत कर ले, उनके मन-प्राण पर छा जाय, उसमें एक आवेगमय आकर्षण हो। यह एक ऐसी अत्यन्त ही साधारण एवं प्राथमिक, किन्तु अनिवार्यत: श्रेष्ठतम कसौटी है जिस पर हम न केवल कथा-साहित्य वरन् सम्पूर्ण काव्य के विविध अंग-उपाङ्गों को कस कर उनके खरे और खोटेपन की परख कर सकते हैं।

किन्तु यदि प्रश्न हो कि, हिन्दी कथा-साहित्य के प्रति हमारी मान्यताएँ क्या हों? तो निश्चित रूप से हमारे निर्णय के लिए उपरोक्त कसौटी एकांगी, सीमित और अपर्याप्त सिद्ध होगी। साहित्य की मर्यादा और मान्यता निर्धारित करने के लिए हमारे मूल्यांकन की आधारशिला अत्यन्त ही व्यापक एवं विशाल होनी चाहिए। कारण, यह कि सृजन-प्रक्रिया एक प्राणशक्ति (Living force) है। वह स्वर्ण की भाँति कोई मृतभार (Dead weight) नहीं है, जिसके खरे और खोटेपन की परख एक ही निकष द्वारा हो सके। हिन्दी कथा-साहित्य के प्रति अपनी एक सुनिश्चित मान्यता निर्धारित करने के पूर्व हमें, उसे सृजनात्मक गल्प साहित्य की श्रेष्ठता को प्रमाणित करने वाले अनेक निकषों पर कस कर उसके मूलभूत गुणों को ढूंढ़ना होगा।

वैसे, जब हम वस्तु और शिल्प के सूक्ष्म विस्तार में जाकर किसी साहित्यिक कृति का विवेचन और मूल्यांकन करते हैं, तो हमें कई प्रकार के आलोचनात्मक मापदण्डों का उपयोग करना पड़ता है जिनका एक शास्त्रीय महत्व होता है। लगभग वैसा ही महत्व जैसा कि शरीर विज्ञान के ज्ञाता के लिए ऑपरेशन के महान औजारों तथा एक्सरे आदि का होता है। किन्तु साधारणत: किसी मनुष्य के स्वास्थ्य का अनुमान डॉक्टर उसकी नाड़ी की धड़कनों के आधार पर ही लगा लेता है। एक सुनिश्चित क्रम, अनुपात और गति से नाड़ी का धड़कना बलिष्ठ और निरोग शरीर की पहली शर्त है। किन्तु व्याधि-हीन शरीर की एक अन्य अनिवार्य आवश्यकता भी है। वह है रुधिर शिराओं में नियंत्रित वेग से उष्ण रक्त का संचार। साहित्य के श्रेष्ठत्व की एक दूसरी मर्यादा है। और वह है,—उसमें पाठक, श्रोता अथवा दर्शक को जीवन के प्रति एक दृष्टि और दिशा प्रदान करने की सामर्थ्य। आवश्यक नहीं, कि यह दृष्टि अथवा दिशा प्रदान करने की शक्ति सीमित, संकुचित उपयोगितावाद की समर्थक ही हो।

विश्व के 'दस श्रेष्ठतम उपन्यास' शीर्षक पुस्तक की भूमिका में सोमरसेट मॉम ने एक स्थान पर लिखा है—"उपन्यास वह, जो आनन्द से पढ़ा जा सके। यदि उससे आनन्द की प्राप्ति नहीं होती तो वह दो कौड़ी का है। इस तरह प्रत्येक पाठक स्वयं अपना आलोचक होता है क्योंकि केवल वही जानता है कि किस कृति से वह आनन्दित होता है और किससे नहीं····" मॉम के प्रस्तुत कथन को हिन्दी कथा साहित्य के सन्दर्भ में एक सैद्धान्तिक एवं निरपेक्ष सत्य के रूप में स्वीकार कर सकने में हमें एतराज हो सकता है। किन्तु औपन्यासिक कला के जिस महत्वपूर्ण अंग की ओर उपरोक्त पंक्तियाँ संकेत करती हैं, उसकी गुरुता को हम अस्वीकार नहीं कर सकते। निर्विवादित रूप से कथा-साहित्य के लिए सरस होना एक अनिवार्य आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। किन्तु सरस होना ही सब

कुछ नहीं। यह एक सोपान-मात्र है। ऊपर अन्य अनेक सीढ़ियाँ हैं जिन्हें पार करके ही श्रेष्ठ-कथा-साहित्य अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

यदि सरसता को प्रथम सोपान मान लिया जाय तो विश्व के प्रतिनिधि कथा-साहित्य का हवाला देकर हम कह सकते हैं कि इस विशिष्ट सृजन यात्रा का अन्तिम सोपान जीवन के प्रति एक दृष्टि अथवा दिशा प्रदान करने की सामर्थ्य की उपलब्धि है। इस सोपानद्वय की सीमा रेखाओं के बीच अन्य अनेक सीढ़ियाँ हैं जिनकी उपयुक्तता एवं औचित्य के सम्बन्ध में साहित्यिक मनीषियों में मतैक्य नहीं रहा है, किन्तु, जहाँ तक कथा साहित्य के इन दो मूलभूत गुणों का प्रश्न है, कुछ सूक्ष्म शाब्दिक हेर-फेर के साथ विश्व के सभी महान साहित्य-साधक, इनकी अनिवार्यता के सम्बन्ध में एक मत हैं। ऑस्कर वाइल्ड के कला सम्बन्धी सिद्धान्त एक अपवाद अवश्य प्रस्तुत करते हैं। किन्तु हिन्दी कथा साहित्य में इस एकाँङ्गी सिद्धान्त के आधार पर की गई रचनाएं कोई साहित्यिक महत्व प्राप्त कर सकने में असमर्थ रही हैं। उनका एक ऐतिहासिक महत्व अवश्य रहेगा।

पूर्व इसके कि हम हिन्दी-कथा साहित्य के प्रति अपनी मान्यताओं को स्पष्ट निर्णयात्मक रूप प्रदान करें, यह आवश्यक है कि इस विशिष्ट कला-रूप से सम्बन्धित महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन कर लिया जाय। विश्व-कथा साहित्य की पृष्ठभूमि में यदि सृजन-प्रक्रया की प्रेरणात्मक शक्तियों पर विचार किया जाय तो इस सम्बन्ध में मुख्य रूप से हमारे समक्ष तीन सिद्धान्त आते हैं। वैसे सांस्कृतिक संक्रमण के वर्तमान युग में प्रत्येक दर्शक अपना एक अभिनव 'वाद' प्रस्तुत कर रहा है। कथा-साहित्य ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण काव्य के शिल्प और वस्तु के सम्बन्ध में, सूक्ष्म तर्क-मंडित, एवं चमत्कारपूर्ण नूतन सिद्धान्तों का जन्म होता जा रहा है। किन्तु सृजनात्मक गल्प की मूलभूत प्रेरक प्रवृत्तियों का सफल प्रतिनिधित्व उन तीन सिद्धान्तों द्वारा हो जाता है। ये सिद्धान्त, क्रमशः आदर्शवाद, यथार्थवाद, तथा सौन्दर्यवाद अथवा कलावाद नामों से अभिहित किए जा सकते हैं। इन तीन प्रतिनिधि सिद्धान्तों के अन्तर्गत ही अन्य अनेक सिद्धान्तों का समावेश हो जाता है। उदाहरण के लिए ज़ोला का तादृश्यवाद या प्रकृतवाद (नैचुरैलिज्म), बालज़क अथवा डिकेन्स का स्थूल यथार्थ-वाद, मार्क्सवादियों का सामाजिक यथार्थवाद, तथा फ्लावेयर की वस्तुपरकता आदि सिद्धान्त यथार्थवाद के अन्तर्गत समाहित हो जाते हैं।

जाँ. पॉल-सार्त्र (Jean Paul Sartre) के अस्तित्ववाद (Existentialism) में दर्शन का पुट आ जाने के कारण सैद्धान्तिक स्तर पर वह यथार्थ-वाद से कुछ कटा-कटा नजर आता है। किन्तु इस अभिनव सैद्धान्तिक विचारधारा की छत्र-छाया में की गई गल्प-रचनाओं का जब हम निरीक्षण करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अस्तित्ववाद भी यथार्थवाद की एक उपशाखा-मात्र है। हाँ, इतना अवश्य है कि इस 'वाद' विशेष के आधार पर की गई रचनाओं में वस्तुतत्त्व के प्रति लेखक की चिन्तन-दृष्टि, उसका आधार-भूत मानसिक-धरातल, एवं सामाजिक यथार्थ की एक दार्शनिक उद्‌भावना आदि नवीनताओं में व्यापकता और गहराई की मात्रा अधिक है। किंचित भिन्न शब्दावली का प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि अस्तित्ववाद के आधार पर की गई रचनाओं में यथार्थ को एक नूतन परिवेश और आयाम के साथ उपस्थित किया जाता है।

सामाजिक यथार्थवाद के समर्थक मार्क्सवादियों की भाँति ही जाँ-पॉल-सार्त्र भी स्पष्ट शब्दों में घोषणा करते हैं कि ईश्वर तथा परलोक, दोनों ही झूठ हैं; इनका कोई अस्तित्व नहीं है। उनके अनुसार केवल मानव ही वास्तविक है, उसके लिए पलायन का कोई अन्य स्थान नहीं, अपनी विषम परिस्थितियों के विरुद्ध उसे ही संघर्ष करना होगा। 'Man is only what he makes of himself' जाँ-पॉल-सार्त्र का यह प्रिय वाक्य है। यहाँ तक तो सार्त्र के अस्तित्ववाद और मार्क्सवादियों के सामाजिक यथार्थवाद में अत्यधिक समानता दृष्टिगोचर होती है। किन्तु यथार्थ के धरातल पर टिके हुए दोनों सिद्धान्तों के दार्शनिक निष्कर्षों में

जमीन, आसमान का अन्तर है। मार्क्सवादी सामाजिक यथार्थवाद जहाँ पर मानवता की प्रगति में दृढ़ विश्वास रखता है और मानव-प्रगति-विरोधी किसी भी व्यक्ति के व्यवहार उसकी भर्त्सना एवं उग्र विरोध के पात्र बनते हैं, वहाँ अस्तित्ववादी विचारधारा मानव प्रगति में अविश्वास करती है और व्यक्ति स्वातन्त्र्य को इतना अधिक महत्व देती है कि उसके समक्ष अच्छे, बुरे का विवेक, कनफ्युज्ड (Confused) अस्पष्ट और धुँधला पड़ जाता है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए मैं यहाँ पर जाँ-पॉल-सार्त्र के शब्दों को ही उद्धृत करूँगा। वे एक स्थान पर कहते हैं—"If any one says to me: And what if I have chosen to do evil ?' I will reply: 'There is no reason, why you should act otherwise." सार्त्र का यह कथन उनके अनियंत्रित स्वातन्त्र्य की विचारधारा का ही परिणाम है। उनका विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य परम स्वतंत्र है—सत्कर्म के लिए और कुकर्म के लिये भी। गनीमत है कि ऐसे दार्शनिक अथवा उनके मतानुयायी, व्यक्ति-स्वातंत्र्य के हिमायती कोई महोदय न्यूरेम्वर्ग ट्रायल में न्यायाधीश नहीं थे वर्ना मार्शल गोरिङ्ग जैसे नाजी युद्ध-वर्बरों (War criminals) को अपनी शहादत-सफाई के लिए वकील करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। एक अन्य स्थान पर जाँ-पॉल-सार्त्र ने लिखा है कि वे प्रगति में विश्वास नहीं करते। उनके मतानुसार मनुष्य प्रत्येक युग में एक सा ही रहा है। उनके ये विश्वास (Nausea), (Reprieve) तथा (Raods to Freedom) जैसे उपन्यासों में प्रतिविम्बित हैं जिनमें उन्होंने जीवन को एक अस्तित्ववादी दार्शनिक किंवा साहित्यिक की निगाहों से देखा है।

यथार्थवाद के अन्तर्गत जाँ-पॉल-सार्त्र की विचारधारा पर जरा विस्तार से विचार करने के विशेष रूप से दो कारण हैं। प्रथम तो यह कि कथा-साहित्य के क्षेत्र में नई पीढ़ी के कलाकारों को आकर्षित एवं चमत्कृत करने वाला यह नवीनतम सिद्धान्त अथवा 'वाद' है। द्वितीय महायुद्ध का समसामयिक यह वाद आज भी अपने जन्म स्थान फ्राँस में पुराना नहीं पड़ा है और इस समय सारे यूरोप के तरुण साहित्यिकों का ध्यान द्रुतगति से आकर्षित कर रहा है। दूसरे यह, कि हिंदी साहित्य में भी सैद्धान्तिक स्तर पर यह वाद विशेष चर्चा का विषय बन चुका है। रचनात्मक क्षेत्र में भी इस विचार-धारा का प्रभाव कई गल्पकृतियों पर स्पष्ट है। सन्तोष का विषय है कि इस अभिनव सिद्धान्त का भारतीय संस्करण ही हिन्दी साहित्य में आ रहा है। यदि पेरिस-ब्रान्ड-अस्तित्ववाद अपने विशुद्ध एवं साँगोपाङ्ग रूप में हिन्दी कथा-साहित्व में आता तो निश्चय रूप से खतरे की बात होती।

वर्तमान युग में आदर्शवादी कला-सिद्धान्त आउट-आफ-डेट हो गया है। आदर्शवादी साहित्यकारों के अनुसार कला का विषय अथवा वस्तुतत्त्व ही ऐसा होना चाहिए जो महान और भव्य हो, मानवता का प्रगति-कामी हो, शिव एवं मंगलमय हो। समानता के वर्तमान युग में वस्तुतत्त्व के सम्बन्ध में, (जिसमें कथा के पात्र भी सम्मिलित हैं) किसी भी विचारधारा का अनुयायी साहित्यकार, आदर्शवाद द्वारा अनुमोदित विशेषाधिकार की नीति का समर्थन नहीं कर सकता। 'प्राकृत जन कीन्हे गुणगाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना' वाले गोस्वामी तुलसीदास जी के सिद्धान्त का आज के साहित्यकार के लिए केवल इतना ही महत्व है कि किसी भी साहित्यिक कृति में उसके वस्तु-तत्व (Content) की भी पर्याप्त उपयोगिता होती है। हिन्दी कथा-साहित्य में यथार्थ और आदर्श का समन्वय प्रस्तुत करने वाला प्रेमचन्द का आदर्शोन्मुख यथार्थवाद यहां पर किसी प्रकार के विवेचन की अपेक्षा नहीं रखता। किन्तु यह बहुश्रुत कला सिद्धान्त भी प्रेमचन्द के जीवन-काल में ही ह्रासोन्मुख हो चुका था। उनकी अन्तिम रचना गोदान, आदि से अन्त तक यथार्थवाद की कंटकाकीर्ण भूमि पर टिकी हुई है।

तीसरा, 'सौन्दर्यवादी' अथवा 'कला-कला के लिए' वाला सिद्धान्त भी एकाङ्गी है। इसके अनुसार कला का

मूलतत्व उसके शिल्प-सौंदर्य में निहित है। सौन्दर्यवादी, यह विचार धारा एक ओर तो नैतिक मूल्यों की अवहेलना करती है तथा दूसरी ओर रूप (Form) पर अत्यधिक बल देकर वस्तुगत संवेदना की तीव्रता को भी कुण्ठित कर देती है। केवल उक्ति की वक्रता अथवा चमत्कार के माध्यम से ही प्रथम श्रेणी का साहित्य नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। योरप में इस सिद्धान्त की छत्र छाया में साहित्य-सृजन करने वाले साहित्यकार हैं ऑस्कर वाइल्ड। वाइल्ड के मतानुसार कोई कलाकृति नैतिक अथवा अनैतिक नहीं हुआ करती। वे घोषणा करते हैं कि—'Books are well written or badly written.' कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी कथा-साहित्य में इस विचार-धारा की समर्थक रचनाओं को 'घासलेटी' साहित्य करार दे दिया गया है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सौन्दर्यवादी एवं आदर्शवादी कला सिद्धान्त एकाँगी तथा युग सत्य के पोषक भी नहीं हैं। अतः हिन्दी कथा-साहित्य की मर्यादा एवं मान्यता निर्धारित करने के लिए हम इनका आँशिक उपयोग कर सकते हैं किन्तु ये सिद्धान्त हमारे आदर्श कदापि नहीं हो सकते। आज के साहित्यकार का सबसे बड़ा आग्रह यथार्थ-चित्रण पर है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि यथार्थवाद दोष रहित है। वास्तविकता यह है कि यथार्थ के परिवेश और आयाम इतने व्यापक हैं कि इस क्षेत्र में उतरते ही कथाकार के समक्ष अपनाने और छोड़ने (Pick and choose) की समस्या उपस्थित हो जाती है और जब वह इस प्रक्रिया द्वारा अपनी कला को यथार्थ के धरातल पर लाने का प्रयास करता है तभी यथार्थवाद की अनेक शाखाओं तथा उपशाखाओं का सूत्रपात होता है। जब साहित्यकार इनमें से किसी विशिष्ट शाखा का दामन थाम कर उसके कला सम्बन्धी सिद्धान्तों की छत्रछाया में साहित्य-सृजन करने लगता है तो यथार्थवाद भी पूर्वाग्रहयुक्त और एकाँगी हो जाता है। उदाहरण-स्वरूप हम सामाजिक यथार्थवाद और मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद को ले सकते हैं। दोनों ही धाराओं के सृजनात्मक कथा-साहित्य में हमें मनुष्य के रागात्मक बोध का, उसके मानव पक्ष का प्रामाणिक चित्रण पर्याप्त मात्रा में नहीं प्राप्त होता है। यद्यपि, "एक ने मनुष्य को केवल अर्द्धविक्षिप्त, कामुक, विकृत, रोगी की स्थिति तक उतार दिया और दूसरी ने मनुष्य की वैयक्तिकता छीनकर उसे बने बनाए साँचे में ढाल कर कठपुतली में परिवर्तित कर दिया," वाली घोषणा से मैं सहमत नहीं हूँ किन्तु फिर भी उक्त अभियोग को हम सर्वथा निराधार भी नहीं कह सकते। हिन्दी कथा-साहित्य में दोनों प्रकार के उदाहरण मौजूद हैं।

चूंकि कथा-साहित्य से सम्बन्धित कोई भी सिद्धांत; चाहे वह आदर्शवाद हो, सौन्दर्यवाद हो अथवा यथार्थवाद के अन्तर्गत सामाजिक यथार्थवाद, मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद, स्थूल यथार्थवाद अथवा अस्तित्ववाद या कोई अन्य वाद हो—स्वतः संपूर्ण नहीं हैं और वे पूर्वाग्रहयुक्त एवं एकाङ्गी ही हैं इसलिए एक स्वाभाविक प्रश्न हमारे समक्ष अनिवार्य रूप से आता है—उत्कृष्ट कथा-साहित्य का आदर्श मापदण्ड क्या हो ? इस प्रश्न का उत्तर यदि हम एक वाक्य में देना चाहे तो कह सकते हैं कि जिस मापदण्ड के आधार पर हमने टाल्सटाय, डिकेन्स, दास्तावास्की, बालज़क, चेखव, फ्लावेयर, एमिल ब्रोन्टे, शरद, प्रेमचन्द आदि कथाकारों की रचनाओं का मूल्यांकन किया है वही मापदण्ड हमारा आदर्श होना चाहिए। किसी बड़े आलोचक अथवा साहित्यकार के सैद्धान्तिक मत का चश्मा न लगाकर यदि हम साधारण पाठक की हैसियत से विश्व की प्रथम श्रेणी की कहानियों और उपन्यासों को पढ़ें तो उनकी श्रेष्ठता के समर्थक दो श्रेष्ठतम तत्त्व हमें प्रमुख रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। प्रथम तो यह कि विश्व कथाकारों की महानतम कृतियाँ पाठकों को अपने प्रभाव से अभिभूत कर लेती हैं, उनके मन-प्राण पर छा जाती हैं। उनमें एक आवेगमय आकर्षण होता है। दूसरे यह कि उनमें जीवन के प्रति एक दृष्टि अथवा दिशा प्रदान करने की सामर्थ्य होती है। आवश्यक नहीं कि यह शक्ति स्थूल उपयोगितावाद की समर्थक ही हो किन्तु इतना तो दावे के साथ कहा जा सकता है कि

श्रेष्ठ साहित्य का यही पक्ष मानवता के शाश्वत मूल्य-मर्यादाओं के योग-क्षेम का संरक्षक (Custodian) होता है।

हिन्दी कथा-साहित्य के प्रति अपनी मान्यताओं को निर्धारित करने के लिए हमें विश्व कथा-साहित्य की उपरोक्त दो प्रतिनिधि विशेषताओं को, सैद्धान्तिक स्तर पर मार्ग दर्शन के निमित्त प्रकाश-स्तम्भ के रूप में स्वीकार करना होगा। इस दिशा में स्वतन्त्र रूप से कोई भी वाद सही निर्णय करने में हमारा सहायक नहीं हो सकता।

यहाँ, एक प्रश्न और उठता है। सृजन-प्रक्रिया[1] के व्यावहारिक स्तर पर हिन्दी कथा-साहित्य के प्रति हमारी मान्यताएँ क्या हों? आज के विशृङ्खलता, बिखराहट एवं व्याकुलता के इस युग में यह समस्या और भी जटिल हो जाती है जब हम देखते हैं कि विश्वकथा-साहित्य के परदे पर कथाकारों का एक ऐसा दल उभर कर प्रकाश में आ रहा है जिसे इस बात की किंचित् परवाह नहीं है है कि उनकी रचनाओं को कोई 'उपन्यास' की संज्ञा प्रदान करता भी है या नहीं। औपन्यासिक से कहीं अधिक कथाकार मनोवैज्ञानिक हैं। ऐसे उपन्यासकारों में वर्जीनिया वुल्फ, जेम्स ज्वायस, आन्द्रे जीद, प्रुस्ट, टामस शैन, तथा फॉकनर इत्यादि हैं। ये लेखक अपने कथा-प्रवाह के बीच में हठपूर्वक ऐसे अवसर उत्पन्न करते हैं जहाँ उन्हें अपनी विशिष्ठ कला की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करने तथा अपने पूर्ववर्ती उपन्यासकारों के कलासम्बन्धी दोषों की व्याख्या करने की स्वतन्त्रता हो। ये कथाकार मनुष्य के अन्तर्जगत की एक चित्रात्मक प्रतिलिपि (Photographic Copy) को सूक्ष्मतम विस्तार के साथ प्रस्तुत करते हैं। इसके लिए वे कला-सम्बन्धी नई शिल्पविधियों का प्रयोग करते हैं, जिनमें से मुख्य हैं—काल-विपर्यय (Time-Shift) पूर्व दीप्ति (Flash back) तथा चेतन-प्रवाह (Stream-Consciousness)। मानव जीवन का सांगोपाङ्ग प्रतिनिधित्व करना इन कथाकारों का दावा है।

ऐसी अवस्था में हिन्दी कथा-साहित्य के प्रति वस्तु एवं शिल्प के व्यावहारिक स्तर पर सुनिश्चित मर्यादा और मान्यताओं को निर्धारित करना कुछ कठिन सा प्रतीत होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि हिन्दी कथा-साहित्य की उपलब्धियाँ, भाषा, वस्तु तथा शिल्प के स्तर पर अँग्रेजी, रूसी अथवा फ्रांसीसी कथा-साहित्य की तुलना में अभी बहुत कम हैं। इसलिए ऐसा कहने का तो हम अधिकार नहीं रखते कि पाश्चात्य देशों के लेखक कथा-साहित्य में जो प्रयोग कर रहे हैं वे निरर्थक हैं। किन्तु वहाँ के नए प्रयोगों को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लेना हमारे लिए श्रेयस्कर नहीं होगा। अभिव्यक्ति के इन नवीनतम माध्यमों को अच्छी तरह पचा कर ही हमें हिन्दी कथा-साहित्य में लाना होगा अन्यथा लाभ की जगह हानि की ही अधिक सम्भावना है।

हिन्दी कथा-साहित्य के प्रति हमारी मान्यताएँ वस्तु और शिल्प के व्यावहारिक स्तर पर क्या हों? इस प्रश्न का सही उत्तर पाने के लिए हमें पुनः विश्व के महान कथाकारों और उनकी कथाकृतियों से सहायता लेनी होगी। शिल्प एवं वस्तु सम्बन्धी नूतन सिद्धान्तों का प्रयोग अपने स्थान पर दुरुस्त है। किन्तु हिन्दी कथा साहित्य जब तक विश्वकथा-साहित्य की "महानतम सफलताओं का सुयोग्य अधिकारी नहीं बनता तब तक न तो वह उस परम्परा में अपनी कोई स्थिति ही बना सकता है और न उस परम्परा को आगे ही बढ़ा सकता है।" अतः शिल्प और वस्तु के व्यावहारिक स्तर पर हिंदी कथा-साहित्य के प्रति अपनी मान्यताओं को विश्व के श्रेष्ठतम कथा-साहित्य के मूलभूत रचनात्मक गुणों के आधार पर ही हम निर्धारित कर सकते हैं। इस दिशा में सोमरसेट मॉम की निम्नलिखित पंक्तियाँ हमारा उपयुक्त मार्ग-दर्शन कर सकती हैं। व्यावहारिक स्तर पर कथा साहित्य की आवश्यकताओं का निर्देश करते हुये मॉम लिखते हैं–'It should have a widely interesting theme...the story should be coherent and persuasive, it should have a beggining, a middle and an end, and the end should be the natural consequence of the begining, the episodes

should have Probability and should not only develop the theme, but grow out of the story. The creatures of the novelists invention should be observed with individuality, and their actions should Proceed from their characters."

मॉम की उपरोक्त पंक्तियों के उद्धृत्त करने का यह तात्पर्य नहीं कि हिन्दी कथा-साहित्य में अथवा विश्व-कथा-साहित्य में जो नए प्रयोग हो रहे हैं उनका कोई महत्व ही नहीं है। किन्तु विशेष रूप से हिन्दी में ये कथा प्रयोग अपने में साध्य नहीं, बल्कि भविष्य के सर्वाङ्गीण विकास की भूमिका-मात्र हैं। इस क्षेत्र में कार्य करने वाले योरोपीय कथाकारों का उल्लेख हो चुका है। हिन्दी में जैनेन्द्र, जोशी और अज्ञेय की त्रिमूर्ति ने इस दिशा में मार्ग-दर्शन का कार्य किया है। किन्तु पिछली पीढ़ी के इन मान्य लेखकों के अतिरिक्त नई पीढ़ी के तरुण कथाकारों ने भी अपनी नवीनतम कृतियों में कथा के वस्तु एवं शिल्प सम्बन्धी नए प्रयोग किए हैं, जिनमें साहित्यिक उपलब्धि सम्भवत: उच्चकोटि की नहीं है किन्तु जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है हिन्दी कथा-साहित्य के सर्वाङ्गीण विकास की भूमिका के रूप में उनका विशिष्ट स्थान और महत्व है। ऐसे कथा प्रयोगों में मुख्य रूप से, सर्वश्री अज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी', फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आंचल', शिवप्रसाद 'रुद्र' का 'बहती गंगा', धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', अमृतलाल नागर का 'सेठ बाँकेलाल', गिरधरगोपाल का 'चाँदनी का खंडहर', नरेश मेहता का 'डूबते मस्तूल', सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'सोया हुआ जल' तथा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'वाणभट्ट की आत्मकथा' आदि उल्लेखनीय हैं। हिन्दी कथा साहित्य के प्रति अपनी मान्यताओं को निर्धारित करते समय इन कृतियों को आदर्श नहीं मान सकते। औपन्यासिक कला के शाश्वत एवं अनिवार्य उपकरणों के सापेक्ष्य सन्दर्भ में निश्चित रूप से ये कृतियाँ एकाँगी सिद्ध होती हैं। अस्तु,

प्रस्तुत विषय के सैद्धान्तिक विवेचन के प्रकाश में अब हिन्दी कथा-साहित्य की प्रतिनिधि रचनाओं पर भी संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है। वैसे तो लाला श्रीनिवासदास के 'परीक्षागुरु' से 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' तक हिन्दी कथा-साहित्य की विस्तृत सीमारेखाएं फैली हुई हैं किंतु यदि हम विषय प्रतिपादन की दृष्टि से थोड़ी देर के लिए हिंदी कथा-साहित्य का प्रारम्भ प्रेमचन्द से मानें तो भी काम चल सकता है। यथार्थ के प्रति एक प्रबल आग्रह प्रेमचन्द को अपने पूर्ववर्ती कथाकारों से अलग करता है। किन्तु प्रेमचन्द भी अपनी प्रौढ़तम रचना गोदान के पूर्व आदर्शवाद का दामन एकदम नहीं छोड़ सके थे। प्रेमाश्रम, रंगभूमि, सेवासदन आदि उनके सभी उपन्यासों में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद ही सैद्धान्तिक स्तर पर उनकी सृजन प्रक्रिया का प्रेरणास्रोत है। किन्तु गोदान में आकर उन्होंने आदर्शवाद का दामन छोड़ दिया। प्रारम्भ से अन्त तक यथार्थ की निर्मम भावभूमि पर दृढ़तापूर्वक टिके रहने के बावजूद भी इस कृति में इतनी 'अपील' और सामूहिक जीवन के प्रति एक विद्रोही दृष्टि प्रदान करने की प्रेरणा है कि उसे तत्कालीन कृषक जीवन का महाकाव्य कह कर ही सन्तोष नहीं होता। सैद्धान्तिक स्तर पर सामाजिक यथार्थवाद का प्रतिनिधित्व करने वाली हिन्दी कथा साहित्य की यह प्रथम रचना है। दूसरा स्थान कौनसी कृति प्राप्त करेगी, यह अभी विवादित एवं अनिर्णीत ही है। वैसे सामाजिक यथार्थवाद के अतिरिक्त भी अन्य कला सिद्धान्तों का प्रतिनिधित्व करने वाली कई कथा-कृतियाँ प्रतीक्षा-सूची में हैं जिनके लिए उनके हिमायती आलोचकों द्वारा जोरदार तर्क उपस्थित किया जा रहा है कि गोदान के बाद दूसरे नम्बर पर उन्हें रक्खा जाय।

गोदान के बाद हिन्दी कथा-साहित्य ने एक ऐसा मोड़ लिया जो निश्चित रूप से प्रेमचन्द-युगीन सामाजिक यथार्थवाद की परम्परा से भिन्न था। प्रेमचन्द ने व्यक्ति को एक सामाजिक इकाई मान कर, उसे अपने साहित्य का उपकरण बनाया था किन्तु नई साहित्यिक

चेतना से प्रभावित कथाकारों ने अपनी कृतियों से यह घोषणा की कि व्यक्ति स्वयं में एक इकाई है। इस विचार-धारा के प्रमुख लेखक हैं—सर्व श्री जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द्र जोशी तथा स० ही० अज्ञेय। हिन्दी कथा-साहित्य में यह त्रिमूर्ति मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद से प्रेरणा ग्रहण करने वाले पहले खेवे के सफल कथाकारों की है। निश्चित रूप से 'शेखर : एक जीवनी', 'सन्यासी', 'सुनीता' और 'त्याग पत्र' ऐसी कथा कृतियाँ हैं जो अपनी एक विशिष्ट दिशा में मील के पत्थर गाड़ने की क्षमता रखती हैं अथवा कह सकते हैं कि गाड़ चुकी हैं।

मनोविश्लेषण तथा अन्तश्चेतनावाद के सूक्ष्म-सिद्धान्तों के प्रकाश में की गई उपरोक्त रचनाओं ने यद्यपि अपनी नवीनता, मौलिकता और आयाम की गहराई से हिन्दी पाठकों को चौंकाया तथा द्रुतवेग से उनका ध्यान भी अपनी ओर आकर्षित किया; किन्तु इस प्रकार के समूचे कथा-साहित्य में एकाँगीपन था। जीवन के बहुमुखी एवं विविध छटामय विभिन्न पक्षों का साक्षात्कार हमें ये रचनाएँ नहीं करा सकीं। प्रेमचन्द के बाद काफी अरसे तक हिन्दी कथा-साहित्य एक प्रकार के मनोवैज्ञानिक कुहासे से आच्छादित हो गया था।

ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी कथा-साहित्य में मानसिक कुण्ठा और मनोवैज्ञानिक कुहासे का युग समाप्त हो गया क्योंकि मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद के हिमायती लेखकों की साहित्य सर्जना अनवरुद्ध गति से चल रही है। अज्ञेय का 'नदी के दीप' तथा इलाचन्द जोशी का 'जिप्सी' मान्य लेखक द्वय की नवीनतम कथा-कृतियाँ हैं। वैसे जैनेन्द्र जी का 'विवर्त्' शीर्षक एक उपन्यास अभी हाल में प्रकाशित हुआ है किन्तु उसमें वस्तुतत्व और रूप विधान किसी भी दृष्टि से ऐसी कोई नई बात हमें नहीं प्राप्त होती जो उनकी पूर्व अर्जित प्रतिष्ठा में कोई नया अध्याय जोड़ सके। वास्तव में इधर जैनेन्द्र जी दर्शन की ओर अधिकाधिक उन्मुख होते जा रहे हैं।

इन तीन लेखकों के अतिरिक्त भी मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद को सैद्धान्तिक रूप में अपना कर कथा-सृष्टि करने वाले दूसरे खेवे के तरुण कथाकारों की एक परम्परा हिन्दी में बन रही है किन्तु उनकी रचनाओं का विवेचन इस लेख में नहीं किया जा सकता वैसे, ऐसे तरुण कथाकारों का प्रतिनिधित्व करने वाले लगभग सभी लेखकों का नाम और उनकी एक एक कथा कृतियों का उल्लेख प्रयोगात्मक कथा साहित्य के प्रसंग में हो चुका है।

प्रेमचन्द के बाद सामाजिक यथार्थवाद का चित्रण करने वाले पहले खेवे के सफल कथाकारों में सर्व श्री यशपाल, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और पहाड़ी के नाम आदर के साथ लिए जाते हैं। वैसे पहाड़ी जी ने अपनी प्रतिभा को कहानियों तक ही सीमित रक्खा है। सामाजिक यथार्थवाद को मार्क्सवादी वर्दी में पेश करने के बावजूद भी यशपाल में इतनी प्रतिभा है कि उनकी कथाकृतियाँ साहित्यिक गौरव प्राप्त करने में पूर्णरूपेण सफल रही हैं। अश्क जी का आग्रह यद्यपि सामाजिक यथार्थवाद पर बहुत अधिक है किन्तु उन्होंने अपने उपन्यास और कहानियों मेंमानव जीवन के निराशाजनक अवसादमय तथा कुत्सित एवं हेय पक्ष का ही अधिक चित्रण किया है। अश्क की कथा कृतियों में चित्रित अवसाद और वेदना तथा जैनेन्द्र अथवा अज्ञेय के उपन्यासों में चित्रित अवसाद एवं वेदना में धरती आकाश का अन्तर है। जैनेन्द्र और अज्ञेय के पात्रों की वेदना पाठक को एक दृष्टि प्रदान करती है किन्तु अश्क के पात्रों का अवसाद पाठक के हृदय में एक रुग्ण एवं अस्वस्थ भावना को जगाता है। 'गिरती दीवारें', 'गर्म राख', 'बड़ी-बड़ी आँखें' तथा उनकी अनेक कहानियों में यह प्रवृत्ति आपको मिलेगी।

सामाजिक यथार्थवाद के समर्थक उत्साही लेखकों में डॉ० रांगेय राघव का नाम उल्लेखनीय है। श्री भगवती चरण वर्मा के उपन्यास 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' के उत्तर में लिखा हुआ 'सीधे सादे रास्ते' शीर्षक उनका उपन्यास काफी ख्याति अर्जित कर चुका है। इधर अभी

हाल में प्रकाशित "कब तक पुकारूं" शीर्षक उनका उपन्यास वस्तु तत्त्व की दृष्टि से अपने ढंग का अकेला है ।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', चतुरसेन शास्त्री तथा ऋषभ चरण जैन के उपन्यास और कहानियाँ समाज के उपेक्षित, घृणित, एवं कुत्सित अंगों को उभार कर प्रकाश में लाती हैं। यद्यपि 'उग्र' जी का दावा है कि वे ऐसे चित्रण द्वारा सामाजिक सुधार करना चाहते हैं किन्तु उनकी रचनाओं का प्रभाव एकदम इसके विपरीत होता है ।

श्रीभगवतीचरण वर्मा की रचनाओं को हम सीमित अर्थ में किसी कला सम्बन्धी सिद्धान्त अथवा वाद से प्रभावित नहीं पाते हैं। उनकी रचना 'चित्रलेखा' को हिन्दी साहित्य में अन्यतम स्थान प्राप्त है। क्रमश: सामाजिक यथार्थवाद तथा भले वैज्ञानिक यथार्थवाद के समर्थक कथाकर श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' तथा भगवती प्रसाद वाजपेयी के नाम भी उल्लेखनीय हैं ।

ग्रामीण और शहरी सामाजिक जीवन के बहुमुखी चित्रण की जो यथार्थवादी स्वस्थ परम्परा हमें प्रेमचन्द द्वारा प्राप्त हुई थी वह गोदान के बाद सहसा टूट सी गई। एक दशक से भी अधिक अवधि तक प्रेमचन्द परम्परा का विकास अवरुद्ध रहा। किन्तु अब नई पीढ़ी के तरुण कथाकारों ने प्रेमचन्द परम्परा में नई कड़ियाँ जोड़ना प्रारम्भ कर दिया है। विशेष रूप से ग्रामीण जीवन का चित्रण तो इन नए लेखकों के उपन्यास और कहानियों में सराहनीय ढंग से आ रहा है। नई पीढ़ी के इन आंचलिक कथाकारों में मुख्यरूप से, सर्व श्री फणीश्वर रेणु, नागार्जुन, डॉ लक्ष्मी नारायण लाल, उपन्यास के क्षेत्र में, तथा द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निगुण', शिवप्रसादसिंह और मार्कण्डेय के नाम कहानी के क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं। रेणु का 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा', नागार्जुन का 'बलचनमा', 'नई पौध', 'रतिनाथ की चाची', 'बाबा बटेश्वर नाथ' तथा 'वरुण के बेटे' और डा० लाल का 'बया का घोंसला और साँप'—ये कथा कृतियाँ ग्रामीण जीवन से सम्बन्धित नवीनतम आंचलिक उपन्यासों की प्रथम पंक्ति में आती हैं। निगुण जी के ग्यारह कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें से आधे से अधिक कहानियाँ शहरी मध्यवर्गीय जीवन पर आधारित हैं। शिवप्रसाद सिंह का पहला कहानी संग्रह 'आर पार की मारम्भ' शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है। मार्कण्डेय जी के तीन कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। ये हैं क्रमश:—'पानफूल', 'महुए का पेड़' और 'हंसा जाई अकेला'। मार्कण्डेय जी की कहानियों में हमें ग्रामीण जीवन के गलत, अस्वाभाविक तथा अति रंजना पूर्ण चित्रण मिलते हैं। लेखक की बहुसंख्यक कहानियाँ ग्रामीण अंचल के जीवन का एक विद्रूप मजाक बन कर रह गई हैं।

किसी बड़े शहर के 'सबर्ब' अथवा मुहल्ले को कथांचल रूप में लेकर लिखे गए आंचलिक उपन्यास भी हिन्दी कथा साहित्य में हैं। ऐसे उपन्यासों में श्री उदयशंकर भट्ट का 'सागर लहरें और मनुष्य' तथा श्री अमृतलाल नागर का 'बूंद और समुद्र' अपना विशेष स्थान रखते हैं। शहरी पात्रों के माध्यम से सामाजिक यथार्थवाद को मार्क्सवादी व्याख्या के अनुसार अनावृत ढंग से चित्रण करने वाले लाल उपन्यासों की परम्परा में सम्भवत: अमृतराय का 'बीज' पहली रचना होगी।

हिन्दी कथा साहित्य के आधुनिकतम कथाकारों और उनकी कथाकृतियों का अत्यन्त ही संक्षिप्त विवेचन कर लेने के पश्चात यदि हमारे समक्ष यह प्रश्न रक्खा जाय कि क्या उपरोक्त कथाकारों की कोई भी ऐसी रचना है जिसे हम 'गोदान' के समकक्ष रख सकते हैं तो निर्णयात्मक स्वर में कुछ कहना असम्भव सा लगता है। सम्भवत: ऐसी ही स्थिति को ध्यान में रख कर कुछ मनीषी आलोचकों द्वारा हिन्दी साहित्य में गतिरोध का स्वर उठाया गया था।

हिन्दी कथा साहित्य के प्रति अपनी मान्यताओं को निर्धारित करने में कोई 'वाद' विशेष हमारे सहायक नहीं हो सकते। शिल्प विधान एवं वर्ण्य वस्तु के व्यावहारिक स्तर पर निश्चित ही किसी भी कला सम्बन्धी

(शेष पृष्ठ १४४ पर)

सौन्दर्य और साहित्यिक समीक्षा

डा० दि० के० बेडेकर

साहित्य कृति के सम्बन्ध में हर एक की अपनी-अपनी पसंदगी होती है। मतमतान्तर होते हैं। इन सभी मतों की चर्चा करना सम्भव हो इसलिए साहित्य के निर्माण एवं समीक्षा के सम्बन्ध में कुछ सर्व सामान्य बातों पर सोचा विचारा जाना अपरिहार्य है। ऐसे एक शास्त्र की आवश्यकता है जिसमें इन विचारों का अंतर्भाव तथा एकसूत्रीकरण हो। इस शास्त्र के सिद्धान्त अगर पर्याप्त मात्रा में व्यापक एवं लचीले हों तो वह शास्त्र साहित्य ही की तरह चित्र, शिल्प, संगीत-नृत्यादि सभी कलाओं का भी शास्त्र बनेगा। फिर उसे 'कला-स्वरूप शास्त्र' जैसा सार्थक नाम भी दे सकते हैं। बल्कि ऐसा एक शास्त्र प्राचीन समय से अस्तित्व में है ही। हमारी सारी साहित्य समीक्षा की भित्ति यही शास्त्र हो इस बात की नितान्त आवश्यकता है। मेरे प्रतिपादन का यही प्रमुख सूत्र है।

इस पर पहले ही कोई यों आक्षेप कर बैठेगा—जब आप इस शास्त्र की आवश्यकता बतलाते हैं तब आप समीक्षा की आवश्यकता स्वीकार कर ही लेते हैं। लेकिन साहित्य के रसास्वादन के लिए समीक्षा की आवश्यकता ही नहीं है। अच्छा नाटक पढ़ा, अच्छी कविता पढ़ी या कोई सुन्दर शिल्प देखा तो रसिक को अपने आप ही कलात्मक अनुभूति प्राप्त हो ही जाती है। उसके लिये किसी मध्यस्थ की—मतलब समीक्षक की—आवश्यकता नहीं होती। उलटे, समीक्षक के विश्लेषण से सौन्दर्य का सपना टूट जाने का डर रहा करता है। अथवा इसके असुन्दर को सुन्दर सिद्ध करने के लिये पारिभाषिक शब्दों का आडम्बर खड़ा करने की समीक्षकों की चतुराई डरावनी होती ही है।

दुर्भाग्य से हमारे यहां आज ऐसी परिस्थिति उपस्थित है कि किसी को भी स्वाभाविक रूप से लगता है कि ऊपर के आक्षेप में अवश्य कुछ तथ्य है। मैंने खुद ही अनेक बार बड़े अजीब अनुभव प्राप्त किए हैं। एक बार मैंने अपने एक नव साहित्य प्रेमी मित्र से कहा, "वामन पण्डित की 'भीष्म प्रतिज्ञा' में अथवा 'वनसुधा' में क्या ही कलात्मकता है। 'सत्राणें उड्डाणें हूँकार वदनीं। करि डलमल भूमण्डल। सिंधूजल गगनीं।' श्रीसमर्थ रामदास स्वामी के इन उद्‌गारों में क्या ही सामर्थ्य है।" उसको लगा मैं कुछ अंट संट बक रहा हूँ या व्यंग्य कर रहा हूँ। किसी और समय मेरे एक बुजुर्ग मित्र ने मुझसे कहा, "मर्ढेकर की कविता में इतना

(पृष्ठ १४३ का शेषांश)

नूतन सिद्धान्त का स्वागत होना चाहिए किन्तु ऐसे सिद्धान्तों का सानुपातिक उपयोग विवेकपूर्ण ढंग से करना होगा। मनोविश्लेषण तथा अन्तश्चेतनावाद के नाम पर, कलावादी सिद्धान्त के नाम पर, तथा सामाजिक एवं मार्क्सवादी यथार्थवाद के नाम पर भी, हिन्दी कथा साहित्य में इस ढंग की अनेक रचनाएं आई हैं जो कथा साहित्य के मूलभूत गुणों का परिहास मात्र प्रस्तुत करती हैं। जैसा कि श्रेष्ठ कथा साहित्य की अनिवार्य आवश्यकताओं के सैद्धान्तिक विवेचन में स्पष्ट किया जा चुका है, इस सम्बन्ध में हमारी मान्यताओं का आधार वे ही मूलभूत शाश्वत उपकरण होंगे।

भोण्डापन और बनावटीपन है; फिर भी आप उनके कायल बनते हैं इसी पर हमें बड़ा अचरज होता है। बकरे को कंधे पर उठा ले चलने वाले ब्राह्मण को अन्त में जाकर जैसे विश्वास होने लगा कि कंधे पर बकरा नहीं कुत्ता है, ठीक वही हालत हमारी भी हो जाती है। नये और पुरानों में मतभिन्नता है। केशव सुत को लेकर झगड़े हैं, यहाँ के पैदा हुए और परकीय भाषाओं से उधार लिए गए 'वाद' बतंगड़ मचा रहे हैं, नये-नये पारिभाषिक शब्दों की विभीषिका मुँह बाये खड़ी है। इस सारे हो हल्ले से समीक्षा के बारे में एक प्रकार की नफरत पैदा होना स्वाभाविक है।

लेकिन हाँ, इस प्रकार की नफरत पैदा होना उसूलन सही नहीं है।

क्या सबों को बिना प्रयत्न के एक ही प्रतीति ला देने वाली कलाकृति हो सकती है? बेशक नहीं! फिर मतभेदों से हैरान होकर काम नहीं बनेगा; न समीक्षा के प्रयत्नों से उकता जाना शोभा देगा। हम मानव प्राकृतिक रीति से ही समूह-प्रवृत्ति के संकेत पर चला करते हैं। स्वयं को जो पसन्द आता है, उसे दूसरों पर प्रकट किया करते हैं और मनमें अभिलाषा रखा करते हैं, कि उसे भी वह पसन्द आ जाये। इस आपसी आदान-प्रदान से ही कला के विषय में समीक्षा का जन्म होता है। जब मुझे कोई शिल्प या काव्य सुन्दर लगता है तब मैं, मुझे वह क्यों सुन्दर लगा, इस बात को दूसरे पर स्पष्ट करने लगता हूँ। इसमें बेजा तो कुछ है ही नहीं, उलटे यह व्यवहार मनुष्य को शोभा देने वाला एवं अति आवश्यक व्यवहार है।

तब यह सिद्ध होता है कि समीक्षा बिल्कुल स्वाभाविक रीति से अर्थात् मनुष्य के प्रकृति धर्म के कारण ही पैदा होती है। आनन्दोपभोग को सिर्फ अपने तक ही सीमित रखना मनुष्य का स्वभाव ही नहीं है। विषय की समीक्षा कीट्स् जैसे कवि की मृत्यु का कारण बनी और आज पाया जाता है कि उसी प्रकार की आलोचना केशव सुत से लेकर मर्ढेकर तक सबों के भाग्य में बदी रह चुकी है। मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि इस प्रकार की कामसी आलोचना से कला के पंखों के काटे जाने का खतरा रहा करता है। तिस पर भी मुझे लगता है कि सिर्फ मैं ही नहीं, हम सब सात्विक समालोचना की आवश्यकता से सहमत होंगे।

यहाँ विषयांतर का दोष स्वीकार करते हुये भी मैं कला के विषय में कुछ और विवेचन आपकी सेवा में प्रस्तुत करने जा रहा हूँ क्योंकि मुझे विश्वास है कि यह विवेचन हमारी आगे की चर्चा में काम आयेगा।

आजकल कहीं-कहीं एक बात उठायी जाती है कि साहित्य में अन्न-क्षुधा तथा लैंगिक-क्षुधा की परितृप्ति का वर्णन क्यों न हो? इस प्रश्न के उत्तर से अभी-अभी तो मुझे कुछ मतलब नहीं, लेकिम मैं सिर्फ एक बात की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। प्रत्यक्ष जीवन में जिस प्रकार भाँति-भाँति की क्षुधाएँ और प्यासें हैं, और जीवन में जैसे हम उनके क्षोभ एवं उपशम को अनुभव किया करते हैं उसी प्रकार साहित्य में भी क्षुधाओं का क्षोभ एवं उपशम हो। शायद यही बात ऊपर उठाई हुई बात की तह में हो। क्षुधा शब्द के साथ-साथ भावना, भावतृप्ति वगैरा शब्दों को भी लिया तो यही कल्पना अधिक विस्तृत एवं स्पष्ट होगी। इस कल्पना में किसी श्रद्धा के दर्शन होते हैं कि भावनाओं का क्षोभ (कम से कम उद्दीपन) और उनका उपशम ही कलाकृति का कार्य एवं सार्थकता है।

यहाँ भावना और क्षुधा की अभिज्ञता पर भी ध्यान देना आवश्यक है। ऊपरी तौर पर ऐसा मालूम होगा कि क्षुधा शब्द में देहात्मकता की गंध है और भावना शब्द में मनोव्यापारात्मकता की छाया है। फिर भी मैं कहूँगा कि दोनों में दिखायी देने वाला यह फर्क बुनियादी नहीं है। हमने सुविधा के लिये एक ही मानवी व्यापार के देहात्मक, मनात्मक जैसे विभाग किये हैं। उदाहरण के लिये मान लीजिये, कि किसी अपत्यहीन स्त्री में वात्सल्य भावना रहा करती है। वह एक रूप में मातृत्व की क्षुधा भी होती है। उधर मन नाम की अधर में तिरने वाली मंजूषा में बन्द पंछी जैसी 'भावनाएँ' छटपटाया करती हैं और इधर देह की नस-

नस में क्षुधाओं की घुड़दौड़ जारी रहती है। क्या हम इसे स्वीकार कर सकते हैं ? हमारी भाषा में तथा अन्य भाषाओं में भी भावना तथा क्षुधा की अभिन्नता को ही माना गया है। छाती पर साँप लोटना, खून खौलना, हृदय धक से होना जैसे देह व्यापार का वर्णन करने वाले शब्दों के प्रयोग ही करुणा, क्रोध, प्रेम, भीति आदि भावनाओं का भी वर्णन करते हैं।

ऊपर के जैसे प्रश्न तब तक, सच कहूँ तो, खड़े भी नहीं हो सकते जब तक हम इस संकेत को स्वीकार भी नहीं करते कि क्षुधाओं का (अथवा भावनाओं का) उद्दीपन एवं उपशमन साहित्य के द्वारा हो। पाया यह जाता है कि ऐसे संकेत को माना जाता है और समीक्षा की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि यह संकेत ग्राह्य है या नहीं ? मेरी राय में वह संकेत (अथवा उसे तत्त्व कहिये) अग्राह्य माना जाना चाहिये। सिर्फ दिल-बहलाव की रचनाओं में वह संकेत ग्राह्य मानना होगा, लेकिन कलाकृति में हम उसे कदापि ग्राह्य नहीं समझ सकते।

ऊपर की बात को स्पष्ट करने के लिये मैं रक्त पिपासा का ही उदाहरण लेता हूँ। प्रणय, वात्सल्य, वीरता जैसी जीवन को समृद्ध बनाने वाली भावनाओं के साथ-साथ इनकी विरोधी क्रोध, मत्सर, भय जैसी भावनाएं मानव मन में हुआ करती हैं। इन तामसी भावनाओं के अतिरेक एवं विकृति से रक्त पिपासा की विकराल भावना (अथवा भाववृत्ति) का निर्माण होता है। रोमन साम्राज्य के या संस्कृति के गिरावट के दिनों में यह भावना बहुत जोरों पर थी और एक मैदान में हिंस्त्र पशुओं द्वारा गुलामों को खिलाने का खेल देखने का शैतानी शौक रोमन नागरिकों पर हावी था। रक्त पिपासा की यही राक्षसी भावना हमारे देश के राजनैतिक एवं साम्प्रदायिक झगड़ों-फसादों में दिखाई दे चुकी है। योरप में भी फासिज्म के शासन में, जेलों में और महासमर में रणक्षेत्र पर इसी भाववृत्ति का तांडव पाया जा चुका है। इस अघोरी भाववृत्ति का उद्दीपन एवं उपशमन आज भी कई चित्रपटों और साहित्यिक रचनाओं द्वारा हो चुका दिखाई देता है। इनमें तथाकथित रसिक रक्त पिपासा के प्रत्यक्ष क्षोभ एवं उपशम को उपभोग नहीं कर सकता पर सामने निर्माण की गई मानवी प्रतिकृति के साथ वह 'सहानुभूति' कर सकता है। पर चेष्टाओं से वह अपनी भाववृत्ति के क्षोभ एवं उपशम को अनुभव कर लेने का सुख प्राप्त कर लेता है। मर्ढेकर ने लिखा है—"भोग शून्य कर्ता है भोग व्यथा का लिंग गण्ड प्रच्छन्न प्रदर्शन।" यही वर्णन कुछ-कुछ अंशों में परचेष्टाओं से उपभोग की हुई सुख व्यथा पर लागू होता है।

साहित्य या चित्रपट के संबंध में 'न अतिचरामि' "बाह्यात् चलूँगा नहीं" जैसा मेरा बाणा है। तिसपर भी रक्तपिपासु सुखव्यथा का निर्माण करने वाले चित्रपट देखना या साहित्य पढ़ना अनेक बार मेरा भाग्य (दुर्भाग्य) रहा है। उनको देखते या पढ़ते देह-मनका क्षोभ हो उठता है अथवा साफ साफ शब्दों में कहना हो तो मतली आने लगती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह बड़ा पुर असर साहित्य रहा करता है। उसकी लंबाई, चौड़ाई और गहराई, तात्पर्य उसके त्रिपरिमाण बड़े विराट होते हैं। वह बड़ी जीवन्त और प्रखर अनुभूति प्रदान करता है—क्योंकि जिंदा आदमियों को आपकी आँखों के सामने मर्मान्तिक पीड़ाएँ दे दी जाती हैं।

अब प्रश्न यह है कि क्या ऐसी कृतियाँ कलाकृति कही जा सकती हैं ?

इस विषय में मैं निस्संदिग्ध रूप से कहना चाहता हूँ कि ऐसी भावनोत्तेजक रचनाएँ कलाकृतियों में एक भी छोटा या बड़ा स्थान ग्रहण नहीं कर सकती। फिर भले ही उत्तेजित की हुई भावनाएँ भली हों या बुरी हों। परचेष्टाओं से देहमनात्मक व्यापारों के उपभोग मनुष्य को कराए जा सकते हैं और ऐसे प्रक्षिप्त उपभोगों में मनुष्य रम भी जाता है। बात सही है लेकिन ऐसे उपभोगों का भोग लगाए रहना, कला की उपासना या साधना नहीं है। ऐसी भोगसाधना में रम जाने वाला मनुष्य अपनी अनुभूतियों को आनंदमयी मानेगा और कहेगा कि "इस आनंद में भले ही मैं और किसी से

सहभागी हो जाऊं या न हो जाऊं, वह मेरा अपना निजी सवाल है।" समीक्षक के लिये उससे सम्बन्ध रखने का कोई कारण नहीं। न समीक्षक उस रसिक की इस स्वानंद समाधि का भंग करने का पाप करेगा। जहाँ कला के निर्माण एवं प्रतीति का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, उस क्षेत्र में समीक्षक कभी क़दम ही नहीं रखेगा। समीक्षक होने के साथ साथ समाज के मानसिक स्वास्थ्य की चिंता वहन करने वाला वह अगर हो तो वह अवश्य यह कहेगा कि इस तथाकथित साहित्य से होने वाली तामसी भाववृत्तियों की प्रक्षिप्त एवं परभृतं तृप्ति समाज को अध:पतन की ओर ले जाने वाली है।

भावनोत्तेजक साहित्य (और उसी प्रकार की अन्य कारीगरी) को ऊपर बताये अनुसार बहिष्कृत करने के बाद प्रश्न उठता है कि समीक्षक या रसिक के सामने क्या सवाल रहता है? इस प्रश्न का जवाब देते समय क्षुधाओं या भावनाओं की तृप्ति को लाँघकर और आगे बढ़ना पड़ता है। प्राचीन एवं नवीन समीक्षकों ने जिसे 'सौंदर्य तत्त्व' की अनुभूति या 'रस' तत्त्व की प्रतीति कहा है उस प्रकार के किसी व्यापक तत्त्व तक पहुँचना पड़ता है। 'सौंदर्य' अथवा 'रस' इन शब्दों में विशिष्ट देशकाल का संदर्भ है लेकिन उनमें अभिप्रेत होने वाला तत्त्व कोरा भोगात्मक नहीं रहता। एक ही समय अनेक रसिकों को जिस काव्य में रस की प्रतीति होगी उस रसात्मक काव्य की चर्चा प्राचीन साहित्याचार्यों ने की है। उसी प्रकार आधुनिक 'सौंदर्य' तत्त्व के उपासक भी यही मानते आये हैं कि कलाकृति का सौंदर्य चिरंतन आनंद की प्रतीति देता है। वह प्रतीति किसी व्यक्ति के उपभोग जैसी अथवा मत के समान व्यक्ति विशिष्ट नहीं होती बल्कि वह सर्वजनीन एवं चिरंतन होती है। गरज़ यह कि सारी कला समीक्षा की नींव इस बात में है कि सभी मानवों को सौंदर्य की प्रतीति देने की क्षमता रखने वाला सौंदर्य कलाकृति में होता है।

इस 'सौंदर्य' अथबा 'रस' 'अथवा 'कांतात्मक गुण' का निर्माण करते हुए कलाकार कुछ विशिष्ट रचना किया करता है। साहित्य के संबंध में ही कहना हो तो वह नाटक के चरित्रों एवं घटनाओं का निर्माण करके उन्हें एक रचनानुबंध में गूंथ देता है। इन चरित्रों तथा भावनोद्दीपन के खेल के लिए निर्माण की हुई गुड़ियों में बड़ा भारी फर्क रहता है। उन गुड़ियों का काम आसान होता है। उन गुड़ियों का करतब इसी में सीमित होता है कि वे रसिकों के क्रोध या कामवासना का भोग साधन बनें। मिथ्याचार के लिए, क्षणिक उपभोग के लिए सामग्री बनने लायक लौकिक का स्वांग सजाया कि गुड़ियों का उत्तरदायित्व समाप्त हो जाता है तथा रसिक भी सफल काम बन जाते हैं। पर कलाकृति के चरित्रों का यह कर्त्तव्य नहीं होता कि वे ऐसे मिथ्याचार का साधन बनें, न उन्हें लौकिक के स्वांग सजाने से मतलब रहता है। और इसीलिए ये पात्र गुड़ियां न होकर 'यथार्थ' होते हैं, फिर भी लौकिक दुनिया के जीवित पात्रों से भिन्न ही रहते हैं। शिल्प और चित्र के मानवदेह प्रत्यक्ष शरीर रचना से नपीतुली हूबहू समानता न रखते हुए भी जीवित और शक्तिशाली दिखाई देते हैं केवल कला की किमया के कारण ही।

अभी कुछ ही दिन हुए मैंने एक जगह शंकर पार्वती का कलेण्डर देखा। कामुकता का भावनोद्दीपन करने की आवश्यकता कलेण्डर बाँटने वालो कम्पनी और चित्रकार की नसनस में समायी हुई थी। हाथ में त्रिशूल था इसलिए शंकर और शंकर की बगल में खड़ी थी इसलिए पार्वती का अनुमान होता था। अन्यथा सारा मामला 'न भयं न लज्जा' ठाठ का था। हाँ इतना अवश्य सत्य है कि उस चित्रकार ने मानुषी देह का (खासकर स्त्री देह का) चित्रन बड़े वस्तु निष्ठ गौरव के साथ किया था। अब, दूसरी ओर, धारापुरी की गुफाओं का शिवपार्वती विवाह के शिल्प से साक्षात् कीजिए। न वहाँ वस्तु निष्ठ देह शिल्प है न गुलाबी रंग हैं। लौकिक से पूर्ण संबंध विच्छेद है। फिर भी उस काले ऊबड़ खाबड़ पत्थर की मूर्तियों के खण्डहरों की कलात्मकता आज भी आंखों को चौंधियाती है, हृदय को बरबस अपनी ओर खींच लेती है।

अब बिलकुल ही भिन्न प्रकार का एक दूसरा

उदाहरण हम ले लें। एक बार हम शतरंज का खेल खेल रहे थे। एक जिज्ञासु लड़का उसे ध्यान से देख रहा था। 'घोड़े को मारा' शब्द उसके कानों में पड़ते ही उसे बड़ा अचरज हुआ। घोड़े जैसी दिखाई देने वाली एक भी वस्तु बिसात पर नहीं थी। पेटी में फेंके हुए घोड़े को उठाकर वह बोला, "यह काहे का घोड़ा ? न इसके मुँह है, न टाँगें।" मेरे मित्र ने उसे जवाब दिया "अजी ! वह ढाई खाने की दौड़ा लगाता है इसलिए उसे घोड़ा कहते हैं।" जाने वह बेचारा कहाँ तक इस उत्तर से संतुष्ट हुआ होगा। पर मेरे मित्र ने बात समझा देने के इरादे से पूरी संजीदगी के साथ उत्तर दिया था।

शतरँज के रण मैदान का सारा व्यूह ध्यान में लाये तो उसका हर एक मुहरा उस घमासान में जी जान से हिस्सा ले रहा था। उसमें काल्पनिक कुछ भी नहीं था। ऊँट, हाथी, घोड़ा वगैरह सारे जानवर उस व्यूह की सीमा तक सच्चे ही थे, पर असली ऊँट, हाथी घोड़े से आकार में समान होने की उनके लिए आवश्यकता नहीं थी; न उस समानता के अभाव में कुछ बिगाड़ पैदा होना था। पर मान लीजिए, कोई कारीगर सच्चे समर क्षेत्र की भावनोद्दीपक प्रतीति देना चाहता है। अगर वह सेसिल बी.डेमिल जैसा करोड़पति चित्रपट निर्माता हो तो वह क्या करेगा ? वह असली जीवित प्राणियों को सेट पर लायेगा और समर क्षेत्र की विकरालता का अपने भरसक आभास पैदा करेगा।

बिसात के मुहरों के विषय में लौकिक से होने वाला उनका संबंध विच्छेद बहुत बड़े स्वरूप का है। पर इस प्रकार के थोड़े बहुत संबंध विच्छेद की पद्धति का अवलंब करने पर कलाकार मजबूर ही है। कलाकार जिसका निर्माण करना चाहता है उसकी सूचना एवं सामग्री उसे प्रकृति से या जीवन से मिलती है। पर उन सूचनाओं में जो आकार और लय उसे प्रतीत होते हैं उनमें से वह एक व्यूह को सप्राण और अन्विति युक्त रचना करना चाहता है। उदाहरण के तौर पर कह सकते हैं कि नाट्य के व्यूह में उसके पैदा किए हुए चरित्र जीवित रूप में बिहार करते हैं। उस व्यूह के नियमों के मोटे ढाँचे की कैद भले ही उन पर हो फिर भी वे जीवित पात्र उसमें अपने दाँव घात पूरी आजादी से खेलने लगते हैं।

इस प्रकार की इस व्यूह रचना से और उसमें घूमने-फिरने वाले घटकों के जीवन्त और स्वाधीन जीवन से कलाकार एक अनोखा ही नया विश्व निर्माण करता है। फिर हम रसिक भी उस व्यूह में घुस जाते हैं।' 'एकच प्याला' का व्यूह हम लें तो उसमें सिंधु और सुधाकर के चरित्र हमें सच्चे प्रतीत होते हैं और उनकी प्रकृतियों, कृतियों तथा भाग्य गति के अनुभव हमें प्राप्त होने लगते हैं। इसी रूप में, राम और सीता, हेमलेट, नोरा या मर्ढेकर जी का गणपत वाणी ये सारे व्यक्ति रक्त मांस के व्यक्ति हैं। न ये गुड़ियाँ हैं, न किसी जीवित आदमियों की प्रतिमाएँ हैं।

कलाकार के निर्माण किये हुए व्यूह तथा उसके घटकों को हम लौकिक जीवन के व्यक्तियों एवं घटनाओं की परछाँही नहीं कह सकते हैं। ये कल्पना, प्रसूत हैं जरूर फिर भी हम उन्हें अयथार्थ नहीं कह सकते हैं। इस प्रकार को तर्क की कसौटी पर कसें तो हेत्वाभास मालूम देगा। लेकिन कला की प्रक्रिया में ठीक यही घटित होता रहता है। और इसीलिए इसे न हेत्वाभास,न किसी और प्रकार का आभास कह सकते हैं। इस प्रकार के विलक्षण फिर भी सत्य एवं जीवित विश्व का निर्माण करने का जादू मानवी प्रज्ञा में है अवश्य। यह सत्य है कि इस कला निर्माण की सामर्थ्य बिलकुल गुफा मानव से लेकर सभी मानवों में पायी जाती है और इसीलिए उसे निःसंकोच रूप से स्वीकार किया जाना चाहिए।

हाँ यह सत्य है कि कला की यह सामर्थ्य कुछ कम वेश के परिमाण में पायी जाती है। ग्रीकों में वह सामर्थ्य बड़ी भारी थी लेकिन लोगों में लगभग नहीं के बराबर थी। महाकाव्यों के निर्माण की शक्ति भारतीय संस्कृति की एक अवस्था में पायी जाती है। लेकिन आगे चलकर दिखाई देता है कि वह क्षीण होती गयी !

अन्य विषयों में पिछड़े हुए रूस के कलाकारों में गोगोल, दास्तोव्हस्की और टॉलस्टॉय पैदा हुए और इंग्लैण्ड में एक जमाना ऐसा आगया कि शेक्सपियर का निर्माण हुआ। हमारे यहाँ भी एलोरा की गुफाएं खोदने वाले शिल्प की परंपरा आगे चलकर धीरे धीरे क्षीण होती गयी और आज तो वह लगभग नाम शेष ही रह गयी है।

इस प्रश्न को हल करना आसान नहीं है कि कला-निर्माण की प्रक्रिया यह रूप क्यों पकड़े। यों कहकर हम इस प्रश्न का उत्तर देना टाल सकते हैं कि किसी व्यक्ति की आकस्मिक, रहस्यमय और अनाकलनीय प्रतिभा का यह आविष्कार है। लेकिन, उलटे हमारा यों कहना भी उतना ही भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध होगा कि सांस्कृतिक समृद्धि एवं वर्धिष्णु प्रवृत्ति से कदम से कदम मिलाकर कला अपनी प्रगति करती रहती है।

यहां हम इतना ही कह सकते हैं कि व्यक्तिगत और समुदायगत अनेक संमिश्र कारणों से भिन्न-भिन्न संस्कृतियों में कला के विराट दर्शन के उज्ज्वल क्षण प्रायः होते रहते हैं। इस समय जन्म लेने वाले कलाकार जिस व्यूह की रचना करते हैं और जो नवसृजन करते हैं वह अतीत, वर्तमान एवं भविष्यत् काल में भी जीवन तथा उस संस्कृति के सभी अंगों को स्पर्श करते हैं। रामायण जैसे महाकाव्य, एलोरा की गुफाओं जैसे महाशिल्प और टॉलस्टॉय के उपन्यासों जैसे गद्य महाकाव्य इसी स्वरूप के हैं। उनका कलात्मक व्यूह हमारी संदर्भ रूप संस्कृति को तथा सभी मानवी जीवन को अपने में समाये हुए है। उनकी तुलना में अन्य कलाकृतियों का जीवन स्पर्श क्या ही तुच्छ और ओछा प्रतीत होता है।

हम भले ही सभी कृतियों को कलात्मक व्यूह के रूप में स्वीकार करें। फिर भी उनमें तारतम्य भाव रखना ही पड़ता है। और अन्त में जाकर इसी बात का निर्णय करना पड़ता है कि प्रत्येक कृति में अंकित मानवी जीवन का दर्शन कितना बड़ा अथवा कितना छोटा है।

अब हम 'सच्ची समीक्षा से क्या मतलब है?' इस प्रश्न का थोड़ा-बहुत उत्तर देने की कोशिश कर सकते हैं। समीक्षक का कार्य होता है हर एक साहित्यिक कलाकृति के व्यूह में घुसकर उसमें घूमने-फिरने वाले पात्रों की स्वतन्त्र गतिविधि का निरीक्षण करते रहना। बाद में वह इस व्यूह की तथा गतिविधियों की जानकारी अपने पीछे आने वाले रसिक को करा देता है। उसे इस बात का निर्णय करना पड़ता है कि वह व्यूह द्रोणाचार्य का अभेद्य व्यूह है या किसी विराट पुत्र का बचपना है और फिर वह अपने इसी निर्णय के औचित्य को ज़ाहिर कर देता है। व्यूह का कुल घेरा बतलाकर उसके विभागों तथा रथी-महारथियों का परिचय भी उसे करा देना पड़ता है। समीक्षक के साथ-साथ रसिक को भी उस व्यूह में घुसने के कष्ट उठाने पड़ते हैं। लेकिन उतने कष्ट उठाये तो सिर्फ भावनोद्दीपन की ही प्राप्ति नहीं होती बल्कि कला के साक्षात्कार की व्यापक एवं श्रेष्ठ अनुभूति प्राप्त होती है।

सारांश यह कि प्रत्येक कलाकृति की जड़ में होने वाला व्यूह दृढ़ और भव्य है या अस्तव्यस्त और ओछा है इस रहस्य को खोलकर प्रकट करना समीक्षक का काम होता है। यहीं से आगे बढ़कर प्रत्येक कलाकार के व्यक्तित्व की टोह पाकर कुल कलाकृति की जड़ में होने वाला विस्तृत व्यूह समीक्षक को नजर आने लगता है और तब वह कहने लगता है कि अमुक उपन्यासकार या कहानीकार जीवन का टेढ़ा-मेढ़ा नटखट भोलाभाला या विक्षिप्त दर्शन कराते हैं, अमुक कवि के काव्य में प्रकृति के सौन्दर्य में रम जाने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। प्रत्येक कलाकृति को पार करके कलाकार के सम्पूर्ण जीवन-दर्शन की ओर बढ़ते रहने पर समीक्षक मजबूत होता है और एकेक कलाकार से एकेक संस्कृति के अथवा देशकाल के कलाव्यूह की ओर बढ़ जाना समीक्षाशास्त्र का धर्म ही है क्योंकि अंशों से सम्पूर्ण और व्यापक तत्व की ओर जाना, आकस्मिक प्रतीत होने वाली घटनाओं से कार्यकारण भाव की ओर बढ़ना यही तो प्रत्येक शास्त्र विचार की दशा है।

साहित्य समीक्षा के सम्बन्ध में कला कल्पित व्यूह दर्शन के उद्देश्य को स्वीकार किया तो फिर धीरे-धीरे सभी कलाओं के बारे में इस प्रकार के व्यूह की कल्पना साहित्यकारों के मन में दृढ़मूल होने लगेगी और सभी कलाओं को अपने में समा लेने वाले व्यूहदर्शी 'कला-स्वरूप-शास्त्र' की धुंधली क्षितिज रेखा उन्हें दिखायी देने लगेगी, इस तरह अन्य कलाओं से परिचित होकर व्यापक कला-स्वरूप शास्त्र की ओर मोड़ना जरूरी है। सौन्दर्य शास्त्र या रस शास्त्र जैसे संदिग्ध और अपर्याप्त नाम के बदले मैंने इस शास्त्र के लिये 'कला स्वरूप शास्त्र' जैसा सीधा-सादा और अर्थवाही नाम क्यों पसन्द किया इसके विस्तृत विवेचन में न फंसते हुए इस शास्त्र से क्या अपेक्षाएं रक्खी जायँ इसकी मोटी रूपरेखा आपके सामने रखकर मैं अपना निवेदन समाप्त करूंगा।

शास्त्र शब्द के उच्चारण के साथ-साथ ही नपी-तुली नियम-बद्धता, ढांचे की कैद तथा तंत्र का रूप अवश्यम्भावी है यह कल्पना मन में उठेगी पर इस कल्पना के कारण शास्त्रीय विचार से विमुख होना शोभा नहीं देता, क्योंकि वह कल्पना सही नहीं है। यों तो प्रत्येक शास्त्र का सिर्फ विषय ही मर्यादित रहता है और उस विषय की सीमाएं भी नपी-तुली नहीं होती, उलटे संबद्ध विषय की सीमाओं के अभेद रूप से मिली हुई होती हैं। उदाहरण के लिए रसायन विज्ञान और पदार्थ विज्ञान जैसे निसर्ग विज्ञान लेंगे तो उन्हें बांटने वाली सीमा-रेखा आगे चल कर धुंधली होती जाती है, अर्थशास्त्र और राज्यशास्त्र उसी प्रकार मानसशास्त्र और नीति-शास्त्र के बीच विभेद की दीवारें खड़ी करना मुश्किल हो जाता है। जो बात विषयों के बारे में सत्य है वही स्थिति सिद्धान्तों पर ही लागू है। भौतिक विज्ञानों में भी बढ़ती हुई जानकारी के साथ-साथ पुराने सिद्धान्त अपर्याप्त सिद्ध होने लगते हैं और न्यूटन के पीछे-पीछे आइन्स्टाईन की श्रेणी चलती रहती है। मानवी-समाज और मन के सम्बन्ध के शास्त्रों में भी जिस प्रकार की परम्परा हुआ करती है और उनके ही समय सिद्धान्तों की अनेक रूपता सम्पन्न होते हुये पाई जाती है।

कला स्वरूप शास्त्र का भी रूप इस प्रकार व्यापक बढ़ता हुआ और लचीला होना जरूरी है और उसी प्रकार उसका होना अवश्यम्भावी भी है।

पहले अगर हम इस शास्त्र के विषय विस्तार के स्वरूप को उठायें तो उसमें अनेक विविध विषयों का समावेश करना होगा। पहले मैं लिख ही चुका हूँ कि भावनोद्दीपन के उद्देश्य को लेकर की गई कृतियों को कलात्मक समीक्षा से बाहर हटाना होगा। पर उसे करना उतना आसान नहीं है। उदाहरण के तौर पर अगर हम प्राचीन काल से ठेठ आज के आधुनिक काल तक की यूरोपीय एवं भारतीय कला लें तो हमें उसके मूल में धर्म भावना के उद्दीपन का उद्देश्य स्पष्टतया दिखाई देता है। अति प्राचीन काल में बाज़ीगरी का उद्देश्य पाया जाता है। यों तो 'कला के लिए कला' वाला सिद्धान्त अभी रेंगता हुआ बच्चा ही है। संक्षेप में कहना होगा कि हमें समीक्षा शास्त्र की परिधि में बाजीगरी एवं धर्मोद्दृष्टि कला का समावेश करना ही होगा।

इसी सिलसिले में कलात्मक आविष्कार के साधनों एवं तंत्र का इतिहास 'कला-स्वरूप-शास्त्र' का जरूरी अंग बने यह स्वाभाविक ही है। साहित्य-समीक्षा में हमें इस बात की जाँच करनी होगी कि प्राचीन महाकाव्य से लेकर आज के स्फुट काव्यों तक के परिवर्तन क्यों और कैसे होते गये। उपन्यास जैसा गद्य कलात्मक आविष्कार अपने समय में ही क्यों प्रचलित हुआ एवं प्रगल्भावस्था को पहुँचा इसे भी ढूंढ़ना होगा। इन प्रयत्नों में देश काल की एवं संस्कृति की सापेक्षिकता हमें आधार स्वरूप स्वीकार करनी होगी।

इस शास्त्र के विषयों में जो सम्मिश्रपन तथा विविधता है उसे ध्यान में लाते हुए सहज ही प्रतीत होगा कि इस शास्त्र की व्याप्ति मानवी जीवन के सभी अंगों-उपांगों से सम्बद्ध है। इसीलिए जब हम इस शास्त्र के मर्म की ओर जाने लगते हैं तब भी हमें यही संबद्धता प्रतीत होने लगती है। कलात्मक रचना के व्यूह

की थाह लेने लगते हैं तब कलाकार और उसका व्यक्तित्व आंखों के सामने नाचने लगते हैं। उसकी अनुभूति की चिकित्सा में पैठें तो मानस शास्त्र दर्शन एवं समाज शास्त्र की कक्षाएं कला स्वरूप शास्त्र की कक्षा से हिल-मिल जाती हैं। फिर दो परस्पर विरोधिनी प्रवृत्तियाँ समीक्षकों में पैदा हो जाती हैं। कुछ समीक्षक कला स्वरूप शास्त्र का स्वतंत्र कार्य और अस्तित्व खो देते हैं और उसे मानस शास्त्र या समाज शास्त्र में विसर्जित करके नष्ट कर डालते हैं। मॅक्डूगल और शॅन्ड अथवा फ्रॉइड और मार्क्स के सिद्धान्तों में कलात्मक समीक्षा के आसान हिसाब लगाने वाले 'वादों' से हम परिचित ही हैं। मजा यह है कि इन वादों को स्वीकार करने वालों की यह धारणा होती है कि हम मानवी अन्तर्मन तक या जीवन की मूलभूत प्रेरणा तक जाकर फिर वहां से कला की प्रेरणा का उद्‌गम बताते हैं। फ्रॉइड का सहारा लेने वाले, मार्क्सवादियों को साँचे बाज और कला हीन दृष्टि वाले कह कर गालियाँ देते हैं तो मॅक्डूगल का सहारा लेने वाले दोनों पर ही नाक भौंह सिकोड़ते हैं।

समीक्षकों का एक और वर्ग है। उसकी कोशिश यह रहती है कि कला के शास्त्र तथा क्षेत्र को और सभी बातों से अलग एवं अछूता रखें। कोई कहते हैं कि कलाकार की अनुभूति अपने ढंग की अनोखी होती हैं और वह अपने आप आविष्कार के रूप ग्रहण कर सकता है। यह अनुभूति सच्ची एवं आत्मनिष्ठ होती हैं कहकर उस अनुभूति के बाहरी याने व्यक्तिगत तथा समुदायगत जीवन के संदर्भ के सूत्रपाश काट डालने का प्रयत्न ये लोग करते हैं।

कलाकार की स्वाधीनता, कला निर्माण की अहेतुकता, कला कृतियों की अन्य दृष्टियों से निरुपयोगिता आदि बातें ऐसी हैं जो सबों को ग्राह्य हो सकती हैं। लेकिन इन समीक्षकों के लिए कला की अहेतुकता के मानी यह नहीं होते हैं कि कला एक सहज स्फूर्त तथा अकृत्रिम निर्माण है। बल्कि मानवी जीवनोद्देश्यों की भर्त्सना करने वाली अहेतुकता उन्हें प्रिय होती हैं। इतना ही उन्हें अभिप्रेत नहीं होता कि कला कृति का उपयोग सामाजिक या नैतिक प्रचार के लिए न किया जाए बल्कि कलात्मक रीति से जीवन दर्शन कराना कला का अंगभूत धर्म तथा कार्य है यह भी उन्हें अस्वीकार होता है। कलाकार के स्वातंत्र्य से मतलब कला-विषयक गम्भीर कर्तव्य से मुकरना है यही उनका लाड़ला दर्शनशास्त्र रहता है। 'अनुभूति', 'सभी उपाधियों से मुक्त कोरी अनुभूति', 'अपना रूप आप ही निश्चित करने वाली अनुभूति' हम किया करते हैं और हमारे हाथों वही अनुभूति मानों कला के विश्व का निर्माण करती है, इस प्रकार का दावा ऊपर वाली श्रेणी के कलाकार और समीक्षक किया करते हैं।

'अनुभूति' के इस देवता का आडम्बर नये सिरे से कुछ और मचाया जा रहा है इसलिए इस देवता की कुछ खोज खबर लेना जरूरी है। अभी हाल ही में लिखे गये समीक्षा लेखों में 'अनुभूति का अपने आप ग्रहण किया हुआ रूप' या 'अनुभूति की अपनी आपकी भाषा' जैसे शब्द प्रयोगों का प्रचार पाया गया है। इनके क्या मानी होते हैं। जहाँ स्वयं देवता भी भक्त का दिया हुआ रूप अपना लेते हैं वहाँ इस अनुभूति को स्वयंभू रूप प्राप्त करने की सामर्थ्य कहाँ से आयी ? सच कहना हो तो कलाकार ही अनुभूति को रूप प्रदान करता है और उसे भी देने की सामर्थ्य कलाकार को देश काल संस्कृति के सहारे प्राप्त हुई होती है। ठीक यही सहारा इन्हें अमान्य होता है। सभी बाह्य संस्कारों का निषेध करके कोरी 'अनुभूति' से हम अपना संसार सजाते हैं, इस प्रकार का थोथा दावा कुछ कलाकारों का होता है और इस वायवी नन्दन वन की ओर कुछ समीक्षक टकटकी बांधे हुए पाये जाते हैं।

साराँश यह है कि या तो एक ओर अन्य शास्त्रों से एकरूपता स्वीकार कर 'कला स्वरूप शास्त्र' का स्वतंत्र अस्तित्व ही न बचने देना है या ठीक दूसरी कोटि पकड़ कर उस स्वतंत्र अस्तित्व को ऐसा खोखलापन प्रदान करना है कि जिससे वह शून्यवत् हो जाय। यही दशा

(शेष पृष्ठ १५२ पर)

सौन्दर्य-चेतना और नीति

डा० रामरतन भटनागर

सौन्दर्य-चेतना और नीति का द्वन्द्व कला के क्षेत्र का एक प्रमुख प्रश्न है जो प्लेटो के समय से आज तक बराबर चला आ रहा है, परन्तु आज भी जिसका समाधान नहीं हो सका है। कारण यह है कि सौन्दर्य-चेतना की प्रकृति, उसके स्वरूप और जीवन-परिष्कार में उसके योगदान के संबंध में मतैक्य नहीं है और "नीति" के संबंध में भी यह निश्चय नहीं हुआ है कि उसका कोई समाज-निरपेक्ष व्यक्तित्व है भी या नहीं। सौन्दर्य और नीति अन्योन्याश्रित अथवा परस्पर पूरक न माने जा कर विरोधी और स्वतंत्र तत्त्व मान लिए गए हैं। फल यह हुआ है कि जहाँ एक ओर प्लेटो और सेंट आगस्टाइन कला को यौनचेतनामूलक और निदंनीय मानते हैं, वहां दूसरी ओर वाल्टर पेटर जैसे कला-समीक्षक नीति को कला के क्षेत्र से वहिष्कृत करने को तैयार हैं। इस तरह कला और नीति को लेकर दो विरोधी अखाड़े ही खड़े हो गए हैं जिनमें समझौता असंभव जान पड़ता है।

सौन्दर्यमूलक आनंद की प्रकृति क्या है, सौन्दर्य व्यक्तिगत है या व्यक्तिनिरपेक्ष, कला-संवेदन का स्वरूप और उसकी प्रेरणा क्या है, ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो सौन्दर्य-शास्त्र से संबंधित हैं। इनके साथ ही प्रश्न उठता है कि असुन्दर और अकलात्मक क्या है और

(पृष्ठ १५१ का शेषांश)

आज की हमारी समीक्षा में प्रचलित हैं। इससे वचने का एक ही चारा है और वह यह कि 'कला-स्वरूप-शास्त्र' का अन्तर्बाह्य स्वरूप स्वतन्त्र और साथ ही साथ अन्य शास्त्रों से अनुबद्ध रखना होगा। इस प्रकार का दोहरा परहेज रखना टेढ़ी खीर है वल्कि या तो इस कोटि को अथवा उस कोटि को पकड़ कर अड्डा जमाना आसान लेकिन घातक विकल्प है। आज समीक्षकों को पूरी सचेतना के साथ इस विकल्प से वचना होगा। हम सब अगर अनाग्रही एवं सहिष्णु प्रवृत्ति रख कर साहित्यिक समीक्षावाद की पुनर्जांच करने का निश्चय करें तो आज की वादों की रुकावटें अपने आप दूर होंगी और साहित्य समीक्षा के कार्य में एक नये उत्साह के साथ एकाग्र चित्त से हम श्रीगणेश करेंगे।

हमारे सामने भाषाओं का संचित भण्डार बहुत बड़ा है और नव-निर्माण भी द्रुतगति से हो रहा है। इस साहित्य धन की निधि सर्व सामान्य रसिक के लिये खुली रखने का कर्तव्य आज समीक्षकों को पूरा करना है। उसे निवाहने के वदले एकांतिक वृत्ति से वादों की चहार दीवारी हम खड़ी करें, पारिभाषिक शब्दों का आडम्बर मचायें तो कला की दुर्वोधता, ढकोसले बाजी और मजबूरी वढ़ती जाएगी और इसका दोष कोई भी हमारे सिर मढ़ देगा।

मेरी इसीलिए यही आशा तथा अपेक्षा है कि 'कला-स्वरूप-शास्त्र' का अवलंबन करके समीक्षा का कार्य गंभीर कर्तव्य बुद्धि से करने का निश्चय हम समीक्षकों को करना होगा और उसे पूरा करना होगा। तभी समीक्षा के बारे में सामान्य रसिक के मन में आत्मीयता निर्माण होगी जिसका आज अभाव है और तभी हम सभी अपनी-अपनी मातृ भाषाओं का ऋण चुका सकेंगे।

—:xxx:—

कला-श्रेष्ठता के मापदण्ड क्या हों। यह मान लिया गया है कि कला में मनुष्य की "क्रीड़ा-प्रवृत्ति" स्वरूपान्वित होती है और मनुष्य के कामकाजी जीवन से इस प्रवृत्ति का कोई संबंध नहीं है। फलस्वरूप कला को इन्द्रियगत और कल्पनाविजड़ित बता कर लांछित किया गया है, क्योंकि मनुष्य के दैनंदिन कार्यव्यापार में भावना और कल्पना का सम्यक मूल्य आंका नहीं जा सका है। व्यावहारिक मनुष्य ने कला संवेदना को निरर्थक भावोन्मोचन और उत्पादन शून्य कुशलता समझा है। उसे पलायनशील कहा गया है। राजनीतिज्ञ, संत और धर्मप्राण कलासंबंधी सौन्दर्य-चेतना को बराबर अग्राह्य मानते और संदेह की दृष्टि से देखते रहे हैं।

परन्तु ध्यानपूर्वक देखने से यह मालूम होगा कि कलासृजन और कलाजन्य आनंद के मूल में अव्यभिचारी जीवन की वही सात्विकता अंतर्हित है जो संत और धर्मप्राण का उपजीव्य है और उसमें उसी कौशल की पराकाष्ठा है, जो व्यावहारिक मनुष्य का लक्ष्य है। कल्पना के योग से कला में सात्विकता का प्रवेश होता है। कल्पना के द्वारा ही कला महार्घ और महिमामयी बनती है। कदाचित् कल्पना के इसी महत्व को ध्यान में रखते हुए शेली ने कविता को मानव-जाति का नियामक माना है। 'पौइट्री इज़ द अनएक्नालैज्ड लैजिस्लेटर आव मेनकाइन्ड।' परन्तु कलासंवेदन के पीछे भावना के जो तार बजते हैं उनसे ज्ञानी त्रस्त भी रहे हैं क्योंकि कलाकार जन-मन के भावुक तारों को छू कर प्रथित मान्यताओं, परंपराओं, तर्क-संगतियों और बौद्धिक संहिताओं को झकझोर सकता है। इसी से कवि के उन्मुक्त गीतों और नाटककारों के स्वच्छंद भावविलास से राजधर्मियों का बराबर विरोध रहा है। प्लेटो ने अपने आदर्श राज से संगीत, साहित्य और कला को निर्वासित कर दिया है और आज भी यह प्रश्न अबूझा खड़ा है कि साहित्य और कला पर सरकारी नियंत्रण का क्या रूप हो और इस नियंत्रण की सीमा क्या हो।

नीतिवादी और सौन्दर्यशास्त्री दोनों इस बात से अभिज्ञ हैं कि कलासंबंधी सौन्दर्य-चेतना इन्द्रियजन्य और इन्द्रियग्राह्य है। प्लेटो और टाल्सटाय जैसे नीतिवादी कला को इसीलिए संशय की दृष्टि से देखते हैं। इन्द्रियजन्य वासनाओं पर आधारित मनुष्य की सौन्दर्य-चेतना क्या उसे पतन के गर्त्त में नहीं ढकेल देगी? मनुष्य की वासनाओं की क्या कोई सीमा निश्चित की जा सकती है? स्वस्थ बौद्धिक चेतना के लिए क्या भाव-विस्फोट घातक सिद्ध नहीं होंगे? नीति और कला के द्वन्द्व का यह स्वरूप मनुष्य की जाग्रत चेतना में निरंतर क्षोभ उत्पन्न करता रहा है। फ्राइड के यौन-चेतनामूलक मनोविश्लेषण-शास्त्र के जन्म से बहुत पहले ही नीतिवादियों ने यह घोषित कर दिया था कि मनुष्य की पंचेन्द्रियों पर यौनसंवेदना का सूक्ष्म और तरल आवरण चढ़ा हुआ है और इन्द्रियजन्य आनन्द से संवेदित होने का अर्थ है यौनजन्य आनंद से संवेदित होना। इसमें संदेह नहीं कि कलात्मक सौन्दर्य-चेतना की चमक-दमक बहुत कुछ यौनचेतना की देन है। टाल्सटाय ने अपनी जीवनानुभूति से इस रहस्य को समझा था और बड़ी शक्ति तथा मुखरता के साथ कला की वासनामूलकता का उद्घोष किया था। उनके अनुसार कलाकार खतरनाक व्यक्ति है क्योंकि उसकी रचना से पाठक के अंतर्सन्योजित और आत्मविश्वासी व्यक्तित्व का विघटन होता है। मध्ययुग के मर्मी और प्लेटो जैसे नीतिवादी भी यही बात कहते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण-शास्त्र ने इस तथ्य की पुष्टि की है। कलासंवेदन के पीछे मन का अर्द्धचेतन, अर्द्धस्फुट तथा परोक्ष यौनसंवेदन अंतर्निहित है और कलाकार के विषय, प्रतीक और अभिव्यंजनात्मक उपकरण उसके मन की यौन-क्रीड़ा मात्र हैं, ऐसा अब सिद्ध हो गया है। यौनप्रतीक किस सरलता से कला-प्रतीक बन जाते हैं, यह किसी भी श्रेष्ठ कलाकार की रचना में देखा जा सकता है यदि हम उसके अंतर्मन में झांक सकें।

मध्ययुग के लिए नीति और कला का द्वन्द्व जितना महत्वपूर्ण था उतना महत्वपूर्ण वह आज नहीं है।

मध्ययुग परलोकवादी और परोक्षजीवी था और वासनाओं के दमन पर ही उसका समस्त जीवनदर्शन आधारित था। परन्तु आज हम जीवन की इहलोकमूलकता के प्रति विश्वासी हैं। मनुष्य ही आज हमारा देवता है। ऐसी स्थिति में कला को यौनचेतनामूलक कहना आज कोई लांछा की बात नहीं है। जीवनानुभूति की विविधता, तरलता और व्यापकता से हम श्रेष्ठतर मानव-संस्कृति के निर्माण की बात आज सोच रहे हैं। कलाएँ हमारी जीवनानुभूति को तीव्र बनाती हैं और हमारे जीवन को अधिक सप्राण करती हैं। रंग-रूप भरे इस संसार के प्रति जो जितना अधिक भावुक और चेतन होगा, उतना ही अधिक वह संसार को सुन्दर बनाने में योग देगा। यदि ऐसा है तो आज यौनचेतना को लांछनीय नहीं कहा जा सकेगा।

सच तो यह है कि नीति और सौन्दर्य दो एकदम विभिन्न और स्वतन्त्र स्तरों की चीज़ें नहीं हैं। भावना, व्यवहार और कल्पना का परिष्कार ही नैतिकता का लक्ष्य है और इस परिष्कार का आरम्भ इन्द्रियजन्य संवेदना के संस्कार से ही होगा। कला द्वारा हमारे इन्द्रियजन्य संस्कार ही परिष्कार को प्राप्त होते हैं। अतः मूलरूप में कला हमारी जीवन-चेतना की संवर्द्धक है और सूक्ष्म तथा सौन्दर्यमयी जीवन-चेतना ही 'नीति' है। क्या हम ऐसी मानव-संस्कृति की कल्पना नहीं कर सकते जिसमें ऐन्द्रिक सौन्दर्य-चेतना, भावुकता और बौद्धिकता का स्वरूप संगीत के श्रेष्ठतम और ऊर्ध्वगामी तत्वों के अनुरूप हो? क्या कलाएं नैतिक संयम का प्रेरणा-स्रोत और माध्यम नहीं बन सकतीं?

कला के सामाजिक दायित्व की बात भी बराबर उठती रही है, परन्तु इस दायित्व को नीतिवाद, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य अथवा पाप-पुण्य के संकीर्ण घेरे में बाँध कर हम कलाकार के महत्व और उसकी कृति के प्रभाव को छोटा ही करेंगे। कला का उद्देश्य है अतीन्द्रिय आनन्द जिसे भारतीय परिभाषा में 'रस' कहा गया है। परन्तु यह आनन्द हमारे आध्यात्मिक आदर्शों की अभिव्यंजना-मात्र है। कलाकार इस आनन्द के द्वारा समष्टि से अपना संबंध जोड़ता है। कृति का आनन्द ही कलाकार का आत्मदान है और यह आत्मदान अन्तःस्फूर्ति होने पर भी निष्प्रयोजन नहीं है। सच्ची कला का प्रयोजन नैतिक होता है, परन्तु यह प्रयोजन अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म होता है। उसके द्वारा सन्तुलन, संयम, साहस, न्याय अथवा धर्म का ही प्रसार होता है। कलाकार किसी प्रबुद्ध भावना या विचार को इस प्रकार अभिव्यंजित करता है कि उसे अनायास ही सामाजिकता की उपलब्धि हो जाती है। समाज के अनेक प्रबुद्ध प्राणियों में कलाकार की संवेदना प्रतिध्वनित हो उठती है। कला सामाजिक चेतना के प्रसार का एक प्रमुख और शक्तिशाली साधन है। और इस क्षेत्र में उसके आनन्ददायी तत्वों और संदेशवाही उपकरणों में कोई विरोध नहीं है। श्रेष्ठ कलाकार की सौन्दर्य-चेतना 'नीति' को पुष्ट करती है और 'नीति' सौन्दर्य-चेतना द्वारा कलात्मक अभिव्यंजना को प्राप्त होती है। निचले स्तर की कला-कृतियों में नीति और कला का द्वन्द्व इसलिए सामने आता है कि उनमें कलाकार का व्यक्तित्व अन्तर्योजन और ऋषि दृष्टि को प्राप्त नहीं होता। कलाकार यदि अपने प्रति उत्तरदायी है तो वह जीवन के प्रति अनिवार्यतः उत्तरदायी है। इस प्रकार कलाकार के अपने व्यक्तित्व और उसकी कला-साधना में सौन्दर्य की अन्तरंगी मांग और समाज की बहिरंगी माँग का गठबंधन हो जाता है। कला में व्यक्तिगत और समष्टिगत, अथवा सामाजिक अन्तर्द्वन्द्वों का एक साथ और एक ही स्तर पर समाधान संभव है।

परन्तु कलाकार यदि हमारी जीवनानुभूति को सक्षम और तीव्र ही बनाता है तो भी वह सामाजिक दृष्टि से कम महत्वपूर्ण नहीं है। कला द्वारा हमारी बिखरी हुई जीवनानुभूति और स्पष्टता को प्राप्त होती है क्योंकि जीवन तथ्य-मात्र है, गति-मात्र है, उसमें अपनी ओर से न कोई सार्थकता है, न उसे कोई निजी दिशा प्राप्त है। कलाकार बहिर्जगत की दुर्ग्राह्य अनेकरूपता और निरर्थक गतिशीलता को अन्तरंगी रूप-रंग देकर महार्घ बनाता है। कवि, चित्रकार और मूर्त्तिकार वस्तुओं को और कथाकार तथा नाटककार घटनाओं को अपनी अनु-

भूतियों में रङ्ग कर ऐसी एकान्विति देते हैं कि उनका रूप ही बदल जाता है। विधाता की सृष्टि से होड़ करने वाला कलाकार वस्तुओं और घटनाओं को नयी वास्तविकता प्रदान करता है। कला को पलायनशील कहा गया है, परन्तु यह पलायनशीलता उस तटस्थता में सन्निहित है जो कलात्मक प्रेरणा का मूल स्वरूप है। कला हमारे दैनंदिन जीवन से बाधित नहीं है, उसमें शाश्वत और चिरंतन क्षण मूर्त्तिमान किये जाते हैं अथवा कला के द्वारा हमारे सामान्य और चिरपरिचित अनुभव को चिरंतनता की उपलब्धि होती है। इसमें कला की पराजय नहीं, विजय है। भावना, कल्पना और सौंदर्यचेतना के द्वारा कलाकार जीवन को गहन, सुस्पष्ट और विचारणीय बनाता है। कला जीवन की व्याख्या है और इसी व्याख्या में पुनर्निर्माण के तत्त्व भी छिपे हैं। यह व्याख्या अनिवार्यत: नीतिमूलक है और यह पुनर्निर्माण आदर्शप्राण है। परन्तु स्थूल अथवा उपदेशात्मक नीतिमत्ता और थोथे आदर्शवाद से यह भिन्न है। 'हेमलेट' और 'अन्नाकरीना' में हमें मानव-जीवन की सुपरिचित वास्तविकताओं का गहन, तरल और केन्द्रित स्वरूप दिखलाई पड़ता है। इसी गहनता, तरलता और केन्द्रवर्त्तिता में वह सूक्ष्म जीवनबोध छिपा रहता है जो साधारण परिभाषा में नीतिमत्ता कहा जाता है। इस प्रकार श्रेष्ठ कलाकृतियों में सुन्दरम् और शिवं के विरोध का परिहार हो जाता है। श्रेष्ठ कला आदर्शवादी रहती है चाहे उसके उपकरण वस्तुवादी ही क्यों न हों क्योंकि वस्तुवादी अनुभूतियाँ कला के द्वारा सुव्यवस्था, चिरंतनता और प्रेक्षणीयता प्राप्त कर भविष्यत् का दर्पण बन जाती हैं। उसमें मानव-जीवन अपने परिवेश से मुक्त होकर संभावनाओं में केन्द्रित हो जाता है।

यह कहा जाता है कि 'कला कला के लिए' है, अर्थात् कलाकार की अनुभूति स्वयं अपने में पूर्ण है, उसे मूल्यगत चेतना पर आधारित करना कला का अपमान करना होगा। परंतु मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि हमारा कोई भी अनुभव संवेदन मात्र नहीं है क्योंकि प्रत्येक संवेदन के साथ निष्कर्ष और मूल्य स्वत: आ जाते हैं। मानवीय चेतना दैहिक संवेदनाओं और प्रेरणाओं को मूल्यों से मंडित करने में समर्थ है। फलस्वरूप कला के रूप, रंग, शब्द, भाव, जीवन चित्र महत्वपूर्ण और व्यंजनायुक्त बन जाते हैं। कला में जीवन की अनुरूपता जीवन की व्याख्या अथवा समीक्षा बन कर ही सार्थक होती है। श्रेष्ठ कलाकार की रचना में जीवन-चित्रण जीवन-समीक्षा बन कर ही सामने आता है। इसके लिए उसे स्वतंत्र रूप से कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। उसकी अन्तर्दृष्टि में वस्तुजगत मूल्यों से मंडित हो जाता है और अन्तर्जगत प्रगतिशील सामाजिक मूल्यों से धनी बनता है। बाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास, होमर, गेटे, और टाल्सटाय में कलाकार की ऐसी ही समन्वित अन्तर्दृष्टि हमें मिलती है। उनकी कला कला के लिए होते हुए भी जीवन के लिए है क्योंकि उसमें प्रगतिशील जीवन के तत्व सौन्दर्य-चेतना से मंडित हो गए हैं। दांते की 'डिवाइन कामेडी' अथवा गेटे के 'फ़ास्ट' में समस्त मानव-जीवन और उसके भविष्य की रूपरेखा उभर आई है। कला की यही सार्वभौमिकता और सर्वग्राह्यता उसे जीवन की प्रगतिशील शक्तियों के प्रति उत्तरदायी बनाती है। यहीं सुन्दरम् शिवम् के आलिंगन में बंधता है और दोनों मिलकर जीवन के सत्यम् के व्यंजक बनते हैं। सौन्दर्य-चेतना और नीतिमत्ता सत्य के ही दो मुख हैं। सत्य के लिए ही उनकी उपासना कलाकार का धर्म है। कलाकार प्रकृत्य: सौन्दर्य-शिल्पी होकर भी सत्यं-शिवं का उपासक और संवर्द्धक है, इसमें किंचित् मात्र भी संदेह नहीं है। कला के प्रति उसके दायित्व में जीवन के प्रति उसका दायित्व आप ही आ जाता है और उसकी रचना सुन्दर होने के साथ मूल्यगर्भित भी बन जाती है। वस्तुजीवन के बदलते परिवेश में चिरंतन मूल्यों की खोज श्रेष्ठतम कलाधर्म है, और चिरंतन मूल्य जीवन की दैनंदिन संवेदना में ही खोजे जा सकते हैं। यह हम जान लें तो कलाचेतना और युगचेतना का विरोध समाप्त हो जाय और हमारी कलाकृतियों को युगधर्म का श्रेष्ठ संबल प्राप्त हो।

———

भारतीय साहित्य-शास्त्र में सौन्दर्य-तत्त्व

श्री भगवतस्वरूप मिश्रा

भारत का सम्पूर्ण चिन्तन-स्रोत आत्मा के अनुसंधान की ओर ही उन्मुख रहा है। सब प्रकार की साधनाओं का एकमात्र उद्देश्य आत्मा की प्राप्ति है। अगर हम यह कहें कि साहित्यानुशीलन का मूल प्राप्तव्य भी अन्ततोगत्वा रसनिष्पत्ति या 'रसो वै स:' का साक्षात्कार रूप आत्मलाभ ही मान लिया गया तो कुछ अत्युक्ति नहीं है, अपितु यही प्रतिपादन सत्य के निकटतम् है। सौन्दर्यानुभूति के माध्यम से 'धर्मार्थ काममोक्ष' की प्राप्ति "सद्य : परनिवृत्ति" या 'रसब्रह्म' का साक्षात्कार ही काव्य और कला का प्राप्तव्य है। यही उनकी साधना का लक्ष्य है। व्याकरण साहित्य-शास्त्र, संगीत-शास्त्र आदि न्याय, वेदान्त आदि अन्य दर्शनों की तरह परमतत्व का विशद विवेचन तथा खण्डन-मण्डन में अधिक प्रवृत्त नहीं होते। प्रमाण-प्रमेय की लम्बी-चौड़ी प्रक्रिया अथवा कोई स्वतन्त्र-तर्क की प्रणाली उनके पास नहीं है। इसके लिए वे अन्य दर्शनों के मुखापेक्षी ही हैं। परमतत्व के "स्वरूप-निरूपण" गोचर जगत को सत्य मिथ्या या भ्रम आदि बनाकर "ख्याति-निरूपण" अथवा अन्य दर्शनों के खण्डन-मण्डन में उन्होंने शब्द-व्यय नहीं किया है, यह उनका प्रकृत क्षेत्र नहीं है। इसमें वे "वेदान्तिपु पातनीयो दण्ड:" की नीति अपनाकर ही चले हैं। विभिन्न दर्शनों के कुछ मूलभूततत्व अथवा प्रक्रियायें केवल विषय के विश्लेषण के लिए अपनाली गई हैं। रसानुभूति के स्वरूप के विवेचन में आचार्यों ने न्याय, मीमांसा, सांख्य, प्रत्यभिज्ञा वेदान्त आदि के सिद्धान्तों का प्रयोग किया है। अपनी दार्शनिक मान्यता के अनुकूल ही रस की उत्पत्ति, अनुमिति, भुक्ति या अभिव्यक्ति है अन्त में 'रस' को 'ब्रह्मानन्दस्वादसहोदर' मानने अथवा उसे 'भग्नावरण चिति आनन्द····हि रस:' कहने में भी रस के आध्यात्मिक स्वरूप की ही प्रतिष्ठा है। रस का यही स्वरूप मान्य भी हुआ है। काव्य-साधना का प्रयोजन भी यही आध्यात्मिक अनुभूति, 'रसो वै स: रूप 'रसब्रह्म' का साक्षात्कार ही है। इस प्रकार काव्य भी सौन्दर्य के माध्यम से उसी परमतत्व के साक्षात्कार का एक साधन है, यह मानने में पर्याप्त कारण हैं। उस अनुभूति के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला काव्य-शास्त्र भी दर्शन की कोटि में मान लिया जाय तो कुछ अनुचित नहीं है।

व्याकरण, साहित्य, संगीत आदि की आध्यात्मिकता प्राचीन ऋषियों तथा आधुनिक विद्वानों—दोनों ही के द्वारा स्वीकृत हो चुकी है। उपनिषद् में भाषा को 'ओंकार' की ही अभिव्यक्ति कहा गया है। व्याकरण शास्त्र के अनुसार 'स्फोट' नित्य है। वही परमतत्व है। अर्थ तथा उससे प्रतिपादित सम्पूर्ण वस्तु, जगत इसी 'शब्द-ब्रह्म' का विवर्तमात्र है।[१] काव्य, नाटक, संगीत चित्रकला आदि विद्याओं में भी पूर्ण सौन्दर्य के आगार अथवा सम्पूर्ण सौन्दर्य रूप परमब्रह्म की अभिव्यक्ति एवं उसी को प्राप्त करने के साधनमात्र माने गये हैं।[२] वृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार सम्पूर्ण वेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषत्, श्लोक, सूत्र, मन्त्र, और अर्थवाद—ये सब इस परमात्मा के ही निश्वास हैं।[३] व्याकरण का अध्ययन सम्पूर्ण ऐहिक एवं परमार्थिक कल्याण का हेतु है।[४] सभी कलाओं के जिनमें काव्य नाटक आदि भी सम्मिलित हैं, अनुशीलन को आनन्द कुमारस्वामी ने 'कामधेनु' कहा है।[५]

१—२—विष्णुपुराण १-२२-८४

३—वृ० ३-२-४-१०

४—एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गेलोके च कामधुक् भवति

5—The Hindu view of art.

शारङ्गधर ने 'संगीत' के द्वारा उस परमतत्व की ही उपासना मानी है।[1] भक्ति, धर्म एवं कला के समन्वय के सिद्धान्त का स्पष्ट संकेत रामस्वामी शास्त्री ने भारतीय सौन्दर्य भावना की विशेषताओं का प्रतिपादन करते हुए किया है।[2]

भारत में उस परमतत्व के साक्षात्कार की जितनी प्रकार की साधनायें मानी गईं, उनमें से एक भावयोग भी है। इस 'भावयोग' का चरम विकास ही 'भक्तियोग' है। इस प्रकार ज्ञान, कर्म तथा भक्ति के रूप में मानी गई तीन प्रधान साधनाओं में से एक 'भावयोग' भी है। काव्य, नाटक, संगीत आदि 'भावयोग' की अन्य साधनायें भी 'भक्तियोग' की सहयोगी ही हैं। चित्रकला आदि को 'ध्यानयोग' तथा अन्य योगों के समान माना गया है। कलाकार के लिए पाँचों मतों से नियुक्त तथा मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा की वृत्तियों से युक्त होना आवश्यक है। कला की सृष्टि, के लिए जो मानसिक स्थिति आवश्यक है वही सतोगुणप्रधान वृत्ति भावक की भी होनी चाहिए। काव्य के अनुशीलन का भी यही प्रभाव होता है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र को पंचमवेद कहा है[3] और उसका प्रयोजन भी वेद की तरह धमार्थ, काम, मोक्ष ही माना है। इस प्रकार कलाओं को तत्व के साक्षात्कार का एक साधन मानने में पर्याप्त प्रमाण हैं। जब आयुर्वेद का 'रस' तथा हठयोग की बिन्दु साधनाओं को जिनका स्थूल देह से ही सम्बन्ध हैं, परमतत्व की प्राप्ति का माध्यम माना गया है, तो काव्य के 'रस' तथा संगीत के 'नाद' की तो बात ही क्या है। ये तो सीधे ही अन्तःकरण की सात्विक वृत्ति पर ही आधारित हैं। इसमें तो आत्मा का आनन्द पूर्णतया प्रतिबिम्बित अथवा अभिव्यक्त होता ही है। कवि तथा संगीतज्ञ तो समाधि-अवस्था में स्वयं पहुँचता है तथा इनका रसास्वादन करने वाले को भी ले जाता है। इसलिए 'सविकल्प समाधि' के साथ इन अनुभूतियों की तुलना भी की जाती है। योगी और कलाकार दोनों ही समाधि-क्षणों में तत्व का साक्षात्कार करते हैं, पर कवि की समाधि क्षणिक होती है तथा योगी की स्थायी। यह भी एक विचारणीय प्रश्न है कि अन्य सङ्गीत आदि चित्त को स्थायी रूप से सतोगुणी बनाने में तथा स्थायी रूप से मानवीय दृष्टिकोण प्रदान करने में कितने सहायक हैं? कम से कम श्रेष्ठ काव्य एवं सङ्गीत का प्रधान प्रयोजन तो अन्तःकरण को सात्विक करने तथा मानवीय दृष्टिकोण प्रदान करने में ही है।

ऊपर के विवेचन का तात्पर्य काव्यशास्त्र, व्याकरण अथवा सङ्गीत-शास्त्र को वेदान्त आदि दर्शनों के समकक्ष बनाने में नहीं अपितु उनकी दार्शनिकता की ओर संकेत करने तथा उनके महत्व को स्पष्ट करने में है। प्रधानतः ये शास्त्र ही हैं, दार्शनिक तत्वों का तो इनमें थोड़ा आभास भर ही मिलता है। इन विद्याओं की व्यवहारिक उपयोगिता में आध्यात्मिकता का स्पर्श है। अन्तःकरण को सत्याविष्ट करने के कारण ये विद्याएँ भी प्रकारान्तर से 'मोक्ष' की साधन हैं। परमतत्व के प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष साधन अवश्य हैं। भारत में ज्ञान, भक्ति और कर्म—तीनों को परमतत्व की प्राप्ति के साधन मानते हुए भी इनमें से प्राधान्य तो 'ज्ञान' का ही है। यही बात 'भावयोग' के सम्बन्ध में कही जा सकती है। पर फिर भी सौन्दर्यानुभूति लौकिक इन्द्रियज सुखानुभूति नहीं है। वह एक आध्यात्मिक अनुभूति है। भारतीय आचार्यों ने उसका 'भग्नावरणाचिति' रसो वै सः माना है। काव्य तथा अन्य कलाएँ सौन्दर्य के माध्यम से तत्व वस्तु का साक्षात्कार कराती हैं। वह तत्व 'आनन्द' अथवा रस है। इस प्रकार काव्य, सङ्गीत आदि का विवेचन करने वाले ग्रन्थ एक तरफ तो शास्त्र

१—**चैतन्यं सर्वभूतानां विवृत्तं जगदात्मना।**
नादब्रह्म तदानादमद्वितीयमुपास्महे॥
शारङ्गधर, संगीत रत्नाकर

2–"Art is the perfume, and religion is the camhpor, lighted in our worship of God." K. S. Ramaswamy Shastri, Indian Aesthetics P. 58

३—**भरत—नाट्यशास्त्र १-१५**

हैं, पर दूसरी ओर उनमें भारतीय सौन्दर्य-चिन्तन अथवा सौन्दर्य-दर्शन (Aesthetics) की मौलिक मान्यतायें भी सुरक्षित हैं।

भारतीय शास्त्र पाश्चात्यों की तरह वस्तु के वाह्य पक्ष के वर्णन की शैली न अपनाकर उसमें मूलभूत तत्व अथवा आत्मा के साक्षात्कार कराने वाले लक्षणों की उद्भावना कराते हैं। भारतीय चिन्तनदृष्टि वस्तु की आत्मा, उसके वस्तुतत्व के साक्षात्कार की ओर रही है। यही उसका मुख्य उद्देश्य है। यही कारण है कि एक ही तत्व के अनेक लक्षणों में आपाततः भेद होने पर भी मूलतः उनमें एक स्पष्ट अभेद तत्व रहता है। यह भेद भी विभिन्न दृष्टियों से उसे देखने, अनेक मार्गों से उस मूल तत्व तक पहुँचने के प्रयास के कारण हैं। यह भेद भी इन मार्गों के कारण ही प्रतीत होता है। 'काव्य-शास्त्र' भी विभिन्न मार्गों से काव्य की आत्मा तक पहुँचने, उस आत्मतत्व के साक्षात्कार के लिए अपनाई गई विभिन्न दृष्टियों का परिणाम ही है। भारतीय साहित्य-चिन्तन काव्य की आत्मा के साक्षात्कार के लिए प्रारम्भ से ही आतुर दीख पड़ता है। अन्त में 'रमणीयता' के सिद्धान्त में उसे काव्य की आत्मा का पूर्ण साक्षात्कार हुआ है। यही काव्य की आत्मा है, उसी से रसो वै सः। 'भग्नावरणाचिति' का साक्षात्कार होता है। इसी आंनन्दांश के साक्षात्कार के लिए ही काव्य का सृजन या रमणीयता की सृष्टि एवं अनुशीलन होता है। यही परमतत्व भी है। काव्य के माध्यम से प्राप्त होने के कारण इसी को 'रस ब्रह्म', सङ्गीत से प्राप्त होने पर 'नाद ब्रह्म' तथा चित्र, वस्तु आदि कलाओं के माध्यम से प्राप्त होने पर 'वस्तु ब्रह्म' कहते हैं। एक ही तत्व है और उपाधि-भेद से नाम भेद है। काव्य के आत्मभूत इस आनन्दतत्व की सर्वाङ्गिक प्रतिष्ठा तथा उसके स्वरूप का साक्षात्कार तो 'रमणीयता' के सिद्धान्त में ही होता है। इससे अलंकार गुण आदि सभी को 'रमणीयता' का रूप मानकर आनन्द के सभी स्वरों का इस शब्द में आकलन हो जाता है। पर पूर्ववर्ती चिन्तन का आधार भी आनन्द तत्व ही है। वहाँ पर भी आनन्द तत्व ही अपने वास्तविक स्वरूप की झलक देता हुआ या किसी अन्य रूप में भी भासित होता है। अलंकार, गुण रीति के मूल में भी यही आनन्दतत्व है जो अपने सच्चे स्वरूप अर्थात् रस या रमणीयता रूप में मूल सत्तावत् अभिव्यक्त होने के साथ ही इन उपाधियों के आवरण में प्रतिभासित होने के कारण किसी एक उपाधि का गुण अपने ऊपर आभासित कर लेता है तथा उसी नाम से अभिहित होने लगता है। काव्य की आत्मा को अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि कहने का एक मात्र तात्पर्य वस्तुतः इन उपाधियों के आवरण से अभिव्यक्त होने वाले आनन्द में ही हैं। पर उपाधि पर ही दृष्टिनिबद्ध होने के कारण ये अलंकार आदि एकांगी दृष्टिकोण हो गये हैं। 'रस' को पूर्ण परिपक्व रूप में ही काव्य की आत्मा मानने में भी दृष्टि संकुचित ही रही। यही कारण है कि पण्डितराज ने 'रमणीयता' के सिद्धान्त की उद्भावना करके सौन्दर्य के माध्यम से अभिव्यक्त होने वाले आनन्दरूप काव्य के उस आत्मतत्व का साक्षात्कार कराया है जो अलंकार आदि सभी तत्वों का आधार है, जिसमें इन सब के सौन्दर्य एवं आनन्दांश का अन्तर्भाव है। गुण अलंकार आदि को आत्मा कहने वाले भी काव्य में, एक तत्व का साक्षात्कार करने के लिए आतुर हैं।

सौन्दर्य भी उन वस्तुओं में से एक है जिनका कोई सर्व सम्मत लक्षण देना कठिन है। मानव की मूल एवं सरलतम अनुभूति होने के कारण उसको शब्दों में पूर्णतया बांधना संभव नहीं। फिर भी समझने समझाने के लिए कोई एक लक्षण मानकर चलना ही पड़ता है। जिस माध्यम से इस आनन्द अंश की सात्विक अभिव्यक्ति हो वही 'सुन्दर' है। जिस वस्तु के संन्निकर्ष से उस परम तत्व के आनन्दांश का साक्षात्कार होता है, वही सुन्दर है। इस अनुभूति या साक्षात्कार में रसिक के व्यक्तित्व का रज एवं तम का आवरण निर्गलित हो जाता है। उसका सात्विक अंश मात्र रह जाता है। यही सौन्दर्य का प्रभाव है। इस अनुभूति में

सुन्दर वस्तु एवं रसिक की मानसिक स्थिति दोनों का सहयोग है। यह कहना भी समीचीन है कि इन दोनों का अस्तित्व अन्योन्याश्रित है। 'रस' की अभिव्यक्ति का कारण होने से 'वस्तु' सुन्दर कही जाती है। 'रस' या 'आनन्द' ही वस्तु को 'सुन्दर' नाम से अभिहित कराने का हेतु है। काव्य और कला इसी आनन्दतत्व की, इसी परमतत्व की "मानव सृष्ट-सौन्दर्य" के विभिन्न स्वरूपों एवं उपादानों से अभिव्यक्ति के प्रयास हैं। उपादानों का भेद काव्य तथा अन्य कलाओं के पारस्परिक भेद एवं नाम तथा उपादानों की अभिव्यंजन-क्षमता ही सौन्दर्य एवं आनन्द के विभिन्न स्तरों की कल्पना के कारण हैं। 'आनन्द' एवं 'सौन्दर्य' दोनों ही अखण्ड एवं निरपेक्ष अनुभूति है। पर माध्यम की उपाधि एवं सहृदयता की क्षमता के भेद के कारण ही उसमें तारतम्य एवं सापेक्षता आजाती है।

भारतीय साहित्य-चिन्तन में सौन्दर्य-दृष्टि तथा साहित्य-भावना के विकास शील रूप के स्पष्टीकरण तथा उनकी विभिन्न अवस्थाओं का विवेचन करने से पूर्व यह बता देना भी आवश्यक है कि भारतीय चिन्तकों ने स्वयं कविता पर 'सौन्दर्य' की दृष्टि से विचार किया है। यह पाश्चात्य विचार-धारा से प्रभावित होकर उनके चिन्तन में इन तत्वों के खोज निकालने अथवा उन पर इस भावना के आरोप की चेष्टा मात्र नहीं है। चमत्कार, चारुता, चारुत्व, सुन्दर, रमणीयता आदि इस अर्थ के द्योतक कई एक शब्दों का प्रयोग भारतीय-साहित्य-शास्त्र में प्रारम्भ से लेकर परम्परा के अन्त तक मिलता है। जिन आचार्यों ने इस प्रकार के किसी 'सौंदर्य वाची' स्पष्ट शब्द का प्रयोग नहीं भी किया है उनके विवेचन से यह निष्कर्ष भी सहज रूप से निकल आता है कि उनको भी 'सौन्दर्य' कविता के मूलतत्त्व के रूप में ग्राह्य है।

आनन्दवर्द्धनाचार्य तथा अभिनवगुप्त का संस्कृत-साहित्य शास्त्र के इतिहास में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। समन्वयवादी उस आधारभूमि को जिस पर संस्कृत साहित्य-शास्त्र के द्वारा उद्भावित गुण, अलंकार आदि काव्य-तत्वों की नई, प्रौढ़ एवं सर्वसम्मत व्याख्या प्रस्तुत की जा सकी—ध्वनि, रस एवं औचित्य के द्वारा निर्मित उस आधार भूमि को प्रस्तुत करने का श्रेय वस्तुत: इन्हीं दो आचार्यों को है। उन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती सम्पूर्ण चिंतन का एक संक्षिप्त इतिहास सा प्रस्तुत करते हुए उन सबका अपने 'ध्वनि' सिद्धान्त में आकलन एवं समन्वय किया है। ध्वनिकार तथा लोचनकार ने काव्य के स्वरूप तथा उसके निर्मापक तत्वों की अन्तरात्मा का साक्षात्कार करने और कराने का सफल प्रयत्न किया है। 'सहृदय श्लाघ्यत्व' ही उनकी प्रधान कसौटी है जिसके आधार पर वे काव्य को अकाव्य से, अलंकार को दूषण से तथा गुण को दोष से पृथक करते हैं। यह 'सहृदय श्लाघ्यत्व' दूसरे शब्दों में 'सौन्दर्यानुभूति' ही है। इस प्रकार इन दोनों आचार्यों के विवेचन का सार यह है कि वे काव्य तथा उसके सम्पूर्ण तत्वों के प्राण को एक 'सुन्दर' शब्द से अभिहित करना चाहते हैं। यह सौन्दर्य-भावना केवल इन आचार्यों द्वारा ही सम्मानित नहीं हुई अपितु इनके पूर्व के आचार्यों द्वारा भी हुई। समन्वय का आधार ही तब निकल पाया जब सब आचार्य एक तत्व पर सहमत हो गये। वह था 'सौन्दर्यानुभूति' या सहृदयश्लाघ्यत्व, चमत्कार, अलौकिक आह्लाद द्वारा व्यंजित भावना। यही आज की शब्दावली में 'सौन्दर्यानुभूति' है। 'ध्वनि' 'वक्रोक्ति', 'औचित्य' आदि तो 'सौन्दर्य' की विशेष व्याख्या थी, अर्थात् कोई सौन्दर्य को वक्रता रूप, कोई ध्वनि रूप आदि मानना चाहते थे। यही भेद का आधार है।

उनके इस विवेचन से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि उनसे पूर्व के आचार्यों ने शब्द, अर्थ, अलंकार, गुण, रीति आदि सौन्दर्य का संकेत किया है। वास्तव में सौन्दर्य के कारण ही अलङ्कार अलङ्कार है तथा गुण गुण है। दण्डी ने 'काव्य-शोभाकरान धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते' कहा है। वामन ने भी 'सौन्दर्यालंकार' कहा है। अप्पय दीक्षित ने चित्र मीमांसा में 'सर्वोऽधिह्य-लंकार कवि समय-प्रसिद्धयनुरोधेन हृधतया काव्य-शोभा कर एव अलङ्कारतां भजते। अत: गो सदृश: गवय: इति

नोपमा' कहा है। अलंकार आदि[1] काव्य के शरीरगत या बाह्य तत्वों का आधार ही सौन्दर्य नहीं माना गया है, अपितु काव्य की आत्मा या अन्तरंग तत्व 'ध्वनि' के लिए भी सौन्दर्य का आधार अपेक्षित है। आनन्दवर्द्धन ने काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में विचार करते हुए 'चारुत्व' का महत्व स्वीकार किया है।[2] अभिनवगुप्त ने इसी स्थल की व्याख्या करते हुए सौन्दर्य के अभाव में काव्य की ध्वनि की सम्भावना का ही खण्डन कर दिया है।[3] अभिनव गुप्त ने तो सौन्दर्य को काव्य की आत्मा ही घोषित कर दिया है।[4]

इस प्रकार जैसे अलङ्कारवादी आचार्य 'सौन्दर्य' को ही अलङ्कार कहता है, उसी प्रकार 'ध्वनिवादी' आचार्य अलङ्कार, गुण आदि को तो 'चारुत्व' रूप मानता ही है, इसके साथ ही ध्वनि को भी सौन्दर्य का ही एक विशेष रूप कहता है। इसमें 'रस' तथा अन्य सभी काव्य-जनित आनन्दों का अन्तर्भाव भी स्पष्ट है। इससे यह भी निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि काव्य के सम्पूर्ण आनन्द का अभिव्यंजक कारण "मानव-सृष्ट-सौन्दर्य" ही है। 'रमणीयता' के सिद्धान्त में इन सभी प्रकार के सौन्दर्यों तथा आनन्द के विभिन्न स्तरों का अन्तर्भाव है। गुण, अलंकार और वक्रोक्ति के मूल में विराजमान सौन्दर्य तथा 'ध्वनि और रस' के सौन्दर्य दोनों मूलतः एक ही नहीं है। इन दोनों में कुछ मौलिक अन्तर भी है। पहले का सम्बन्ध काव्य के शरीर एवं शैली-पक्ष से तथा दूसरे का उसकी आत्मा एवं अभिव्यंजना से है। यद्यपि दोनों में सौन्दर्य के विषयी एवं विषय पक्षों का मिश्रण है। फिर भी प्राधान्य की दृष्टि से पहले प्रकार वस्तुपरक सौन्दर्य के अन्तर्गत तथा दूसरे विषयिगत सौंदर्य के अन्तर्भूत माने जा सकते हैं। 'रमणीयता' में इन दोनों का पूर्ण समन्वय हो गया है। उसमें 'चमत्कार' एव अलौकिक आह्लाद—दोनों भावनाओं का पूर्ण सामंजस्य है, इसीलिये उसमें काव्य के सम्पूर्ण रूपों को अपने में अन्तर्भूत करने तथा काव्य को अकाव्य से पृथक करने की पूर्ण क्षमता है।

ऊपर के विवेचन का निष्कर्ष यह है कि 'सौन्दर्य' काव्य का 'व्यावर्त्तक गुण है तथा गुण अलंकार आदि इसी के विभिन्न स्वरूप के नामकरण हैं। यही भारतीय सिद्धान्त है।

१—गुणलंकारौचित्य सुन्दर शब्दार्थ शरीरस्य सति ध्वननात्मनि आत्मनि काव्य रूपता व्यवहार. ध्वन्यालोक : लोचन पृष्ठ १७।

२—विविध विशिष्ट वाच्यवाचक रचना प्रपञ्च चारुण : काव्यः (ध्वन्यालोक १-५)

३—तेन सर्वयापि न ध्वनन सद्भावेऽपि तथा व्यवहार : (लोचन)

४—'चारुत्व प्रतीति स्तर्हि काव्यस्य आत्मा 'स्यात्' इति तदङ्गी कुर्म एव नास्ति खल्वयं विवाद इति" (लोचन)

कलाओं का वर्गीकरण

श्री राजनाथ शर्मा

क्रोचे का मत है कि कला एक अखंड अभिव्यक्ति है इसलिए उसका विभाजन असम्भव है। कला जब मूर्त रूप में उपस्थित होती है तब उसके विभिन्न रूपों के दर्शन होते हैं। इन रूपों की भिन्नता में तात्विक भिन्नता न होकर केवल वाह्य भिन्नता होती है। उसकी मूल अभिव्यक्ति एक ही रहती है। इसलिए तात्विक दृटि से कला का विभाजन सम्भव नहीं।

कलाओं के वर्गीकरण के सम्बन्ध में भारत व पाश्चात्य देशों में विस्तार से विचार हुआ है। भारतीय विचारकों ने काव्य (साहित्य) को 'कला' (६४ कलायें, जिनमें छन्द पूर्ति भी सम्मिलित है) से भिन्न माना है। उन्होंने काव्य की गणना विद्या में तथा कलाओं की अविद्या में की है। स्थापत्य, मूर्ति निर्माण तथा चित्र—ये कला के क्षेत्र में आते हैं जब कि साहित्य (काव्य) और संगीत की चर्चा एक साथ की गई है—

"साहित्य संगीत कला विहीन:,
साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीन:"

इस प्रकार के विभाजन का आधार क्या है? विद्या (काव्य, संगीत) में 'रस' को लक्ष्य माना गया है, जबकि अन्य कलाओं में "कौशल" के द्वारा वाह्य-सौंदर्य की सृष्टि को ध्यान में रखकर विचार किया गया है। काव्य और संगीत में विषय व विषयी का जो तादात्म्य पाया जाता है, वह कलाओं में कम मिलता है। परन्तु कला—स्थापत्य, मूर्ति, चित्र आदि में 'रस' का अभाव नहीं है अतएव इन कलाओं का लक्ष्य भी रसानुभूति ही निर्धारित किया गया है। इस विषय पर यथा स्थान विचार किया जायगा।

प्रसाद ने काव्य और अन्य कलाओं के दो स्पष्ट भेद करते हुए काव्य के विषय में लिखा है—"आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प और विज्ञान से नहीं है। यह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया जो वांगमय रूप में अभिव्यक्त होती है वह निस्सन्देह प्राणमयी और सत्य के उभयपक्ष प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है।" कला को उपविद्या मानने से वह विज्ञान से अधिक निकट सम्बन्ध रखती है। प्रसाद की उपरोक्त धारणानुसार काव्य को कला नहीं माना जासकता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल भी प्रसाद के मत का समर्थन करते हुए काव्य को कला मानने की प्रवृत्ति की निन्दा करते हैं। उनका दृढ़ मत है कि काव्य का कला और सौंदर्य-शास्त्र से कोई भी सम्बन्ध नहीं हो सकता। वे कहते हैं—"सौन्दर्यशास्त्र में जिस प्रकार चित्रकला, मूर्तिकला आदि शिल्पों पर विचार होने लगा उस प्रकार काव्य का भी, सबसे बेढङ्गी बात तो यही हुई।" शुक्ल जी का मत है कि काव्य को कला मानने की भ्रांत धारणा के ही कारण हिन्दी-समीक्षा में अभिव्यंजनावाद, सौन्दर्यवाद और रहस्यवाद आदि का विवेचन होने लगा। यदि ऐसा न होता तो काव्य में इनके विवेचन की आवश्यकता ही न पड़ती क्योंकि इनका काव्य से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है।

प्रसाद और आचार्य शुक्ल के उपरोक्त मतों को ही यदि प्रामाण्य या अन्तिम मान लिया जाय तो हीगेल द्वारा वर्णित ललित कलाओं के विभाजन पर विचार करने का प्रश्न ही नहीं उठता। काव्य को विद्या तथा अन्य कलाओं को उपविद्या मानने का प्रश्न ही हीगेल के सम्मुख न था क्योंकि वह समस्त कला को आइडिया (भाव) का माध्यम मानता था। हमारा मत है कि हिन्दी के उक्त दोनों विद्वानों के समय तक हिन्दी में

हीगेल के कला-विभाजन वाले सिद्धांत का सही विवेचन नहीं हो सका था। इधर परवर्ती विद्वानों ने इस विषय पर काफी प्रकाश डाला है।

पाश्चात्य कलाशास्त्रियों की विचार प्रणाली भारतीय विवेचकों की विचार प्रणाली से भिन्न रही है। इसलिए हमें पहले योरोप में हुए कला विषयक विचारों को देखना पड़ेगा।

भारत की तरह योरोप में कला व विद्या का विभाजन नहीं मिलता, यही कारण है कि कला-विभाजन में वहाँ के विचारकों को अनेक असुविधाओं और असंगतियों का सामना करना पड़ा है। ग्रीस में पाँचवीं शती ईसा पूर्व से ललित कलाओं और उपयोगी कलाओं (Craft) का भेद स्वीकृत हो चुका था परन्तु फिर भी सामान्य भाषा में इस अन्तर को स्पष्ट नहीं किया गया था।[1] क्रमश: वहाँ उपयोगी व ललित कलाएं भिन्न होती गईं। प्लेटो व अरस्तू में यह भेद स्पष्ट रूप से स्वीकृत है। इस भेद का आधार है 'पुनर्प्रस्तुति' (Representation) का सिद्धांत। जहाँ वस्तु को शब्द, रंग, रेखा आदि के माध्यम से पुन: प्रस्तुत किया जाय वहीं सौंदर्य होता है। उपयोगी कलाओं में दारुकार, लौहकार, कुम्भकार आदि का ध्यान वस्तु की पुनर्प्रस्तुति पर न होकर केवल 'उपयोग: की सार्थकता पर होता है अर्थात् सौंदर्य गौण और उपयोग प्रधान होता है।

ग्रीक विचारकों के पश्चात् 'कांट' के पूर्व तक कल्पना व भाव की 'एन्द्रिक अभिव्यक्ति' को कला का लक्षण माना जाता रहा अतएव उपयोगी कलाओं को ललित कलाओं से भिन्न मान लेने पर भी यह विचार न हो सका कि क्या भाव, कल्पना अथवा माध्यम के आधार पर काव्य, संगीत, चित्रादि कलाओं का विभाजन हो सकता है।

सर्व प्रथम 'कांट' ने कलाओं का विभाजन इस आधार पर किया कि कला एक अभिव्यक्ति (Expression) है और सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति वागाभिव्यक्ति (Speech) है क्योंकि वाक् के द्वारा विचार, प्रत्यक्ष तथा भाव तीनों की अभिव्यक्ति एक साथ होती है। वाक् में शब्द, चेष्टा (gesture) तथा स्वर संघात (accent) रहते हैं, अतएव कलाओं का विभाजन इस प्रकार हो सकता है—

१—वाक्-कला (Arts of speech)

२—रूप-कला (Arts of form)

३—संवेदन-क्रीड़ा-प्रधान कला (Arts of play of sensation)

इस विभाजन में कांट ने वक्तृत्व-कला (Art of Oratory) तथा Landscape gardening को भी सम्मिलित कर लिया है जो सर्वथा अनुपयुक्त है। वक्तृत्व कला में व्यावहारिकता अधिक रहती है और द्वितीय में अभिव्यक्ति की प्रधानता नहीं है अत: इन्हें ललित-कला से बाहर ही रखना चाहिए था।

काँट ने कलाओं में श्रेष्ठता का भी निर्णय किया है। काव्य सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि उसमें अभिव्यक्ति की शक्ति सबसे अधिक है। काव्य में सादृश्य (Semblence) तथा क्रीड़ा (Play) दोनों विद्यमान हैं जबकि चित्रकला में केवल 'सादृश्य' रहता है, क्रीड़ा नहीं। मूर्त्ति तथा स्थापत्य कलाओं में "एन्द्रिक सत्य" (Sensuous truth) ही रहता है, समता व क्रीड़ा नहीं। 'सादृश्य' का अर्थ भ्रम या प्रवंचना नहीं है, यही विशेषता है। उदाहरण के लिये काव्य में चन्द्र, पर्वत, सरितादि की अभिव्यक्ति होने पर जो सादृश्य उत्पन्न होता है वह भ्रम में नहीं है परन्तु फिर भी सादृश्य है अत: काव्य व चित्र दोनों में "भ्रम रहित सादृश्य" मिलता है; जबकि स्थापत्य व मूर्त्ति कला में "एन्द्रिक सत्य" की प्राप्ति होती है। इनमें वस्तु का वास्तव रूप चित्र व काव्य से कहीं अधिक मात्रा में अभिव्यक्त होता है, तभी उसे 'सत्य' कहा गया है। किंतु यह स्मरणीय है कि स्थापत्य में भी पूर्ण सत्य नहीं रहता यद्यपि उसमें सादृश्य रहता अवश्य है।

यह एक विचित्र तथ्य है कि 'संगीत' को इस विभाजन में स्थान नहीं मिला। संगीत स्वर पर आधारित

1—History of Aesthetics—B. Bosanquet, Page 38.

है। संगीतात्मक अभिव्यक्ति में स्वर के ज्यामितिक (Mathematical) सम्बन्ध से मिश्रित विचारों व भावों की अभिव्यक्ति होती है। स्वरों द्वारा होने वाली अभिव्यक्ति में भावों का बाहुल्य अत्यधिक रहता है अत: इस अभिव्यक्ति में अस्पष्टता व धूमिलता इतनी अधिक रहती है कि वह व्यक्तिगत रुचि की वस्तु बन जाती है।

सौन्दर्य प्रसाद (Pleasentness) व शिव (Good) दोनों से भिन्न है जो अन्य कलाओं द्वारा तो अभिव्यक्त होता है परन्तु संगीत में 'प्रसादता' की ही प्रधानता रहती है, अभिव्यक्ति गौण हो जाती है (अपनी धूमिलता के कारण)। 'प्रसादता' की दृष्टि से संगीत सर्वश्रेष्ठ है परन्तु अभिव्यक्ति की दृष्टि से वह स्थापत्य से भी निम्नकोटि की कला है।

ग्रीक विचारक संगीत का महत्व समझते थे परन्तु कांट ने ग्रीक विचारकों की उपेक्षा की थी, अत: १६ वीं शती तक संगीत की प्राय: उपेक्षा ही होती रही। कान्ट ने इतना अवश्य किया था कि उक्त विभाजन में संगीत को अभिव्यक्ति की दृष्टि से न सही, चित्त प्रसादन की दृष्टि से अवश्य महत्व दिया था।

हीगेल ने ऐतिहासिक दृष्टि से भी कलाओं का विभाजन किया है। हीगेल के अनुसार सर्वप्रथम मनुष्य में वस्तुओं को देखकर कल्पनाएँ व दिवास्वप्न उत्पन्न हुए होंगे। विचार, भाव, कल्पना, फैन्सी आदि मानसिक शक्तियाँ सम्बद्ध रूप में ही आदिम युग में कार्य करती रही होंगी अत: प्रारम्भिक युग की कला को "प्रतीकात्मक कला" कहा जा सकता है। यहाँ प्रतीक का विशेष अर्थ है। अस्पष्ट मानसिक स्थिति में जो अभिव्यक्ति होती है, हीगेल उसे ही 'प्रतीकात्मकता' कहता है। इस प्रकार की कला में अभिव्यक्ति पंचायती और बुद्धि विरोधी (Irrational) होती है।[1]

'क्लासिकल कला' ऐतिहासिक विकास के द्वितीय सोपान में उदित होती है। इसमें विचार, भाव, मानवीय सम्बन्ध आदि स्पष्ट रूप से व्यक्त होने लगते हैं।[2]

रोमान्टिक कला—ऐतिहासिक विकास के ऊर्ध्व सोपानों में जब समाज संकुल और मिश्रित हो जाता है तो प्राचीन आदर्शों, निश्चित नियमों, अभिव्यक्ति के शास्त्र द्वारा निश्चित विधानों और रूपों का विरोध होने लगता है और मानवीय आत्मा अपनी पूर्ण स्वच्छन्दता, वेग और शक्ति के साथ अभिव्यक्त होती है। विचार तत्व पूर्णरूपेण विकसित हो जाता है परन्तु भाव और कल्पना की इस कला में उपेक्षा नहीं होती। प्राचीन क्लासिकल कला साधारण (Simple) और स्थिर (Fixed) होती है, जबकि रोमांटिक कला मिश्रित व गतिशील होती है। रोमान्टिक कला में विषयीगतता (Subjectivity) अधिक रहती है। क्लासिकल कला में वस्तुपरकता की प्रधानता रहती है।

वस्तुत: हीगेल के विभाजन का आधार 'आइडिया' (भाव) है। 'आइडिया' का अर्थ समझ लेने से हीगेल के विभाजन का रहस्य भी समझ में आ जायेगा।

"आइडिया" कला का वस्तुतत्व (Content) है। 'आइडिया' की अभिव्यक्ति इन्द्रिय ग्राह्य कल्पनाओं के द्वारा होती है। 'आइडिया' मूर्त्त (Concrete) होना चाहिए, अमूर्त्त (Abstract) नहीं। उदाहरण के लिए यदि हम कहें कि "ईश्वर एक है" तो यह अमूर्त्त आइडिया हुआ। इस विचार में न वर्णन है और न बौद्धिक स्पष्टता। निराकार वादी धर्म इसीलिये श्रेष्ठ कला को जन्म नहीं दे सके। परन्तु ईसाई धर्म में विचार मूर्त्त रूप में भी स्वीकृत है। अत: उसमें कला का श्रेष्ठ विकास हुआ है। हिन्दू धर्म में सत्ता को मूलत: निराकार मानने पर भी त्रिदेवों की कल्पना हुई, फिर नाना देवी,

---

१—हीगेल ने प्रतीकात्मक कलाओं के उदाहरणों में प्राचीन हिन्दू कला को रखा है जिसमें देवता की महानता, बल और सामर्थ्य को उसकी अनेक भुजाओं और शस्त्रों द्वारा संकेतित किया गया है। प्राचीन कथायें (Fables) समासोक्ति (Allegory), वर्णनात्मक व शिक्षात्मक कविताएं भी प्रतीकात्मक कला में आती हैं।

२—क्लासिकल कला के उदाहरणों में हीगेल ने ग्रीक स्थापत्य तथा मूर्त्ति कला को रखा है।

देवताओं के रूप, वाहन, वेशभूषा, मुद्रादि की कल्पना हुई अतः इनकी अभिव्यक्ति कला द्वारा सम्भव हो सकी। इससे यह सिद्धांत निश्चित हुआ कि कला का विषय सर्वदा मूर्त्त (Concrete idea) ही होता है, अमूर्त्त सिद्धान्त या विचार नहीं। यदि आइडिया मूर्त्त और स्पष्ट होगा तो 'रूप' भी स्पष्ट और मार्मिक होगा अतः जहाँ रूप या अभिव्यक्ति में दोष दिखाई पड़ता है वहाँ समझना चाहिये कि कलाकार का आइडिया अमूर्त्त और अस्पष्ट है।[1] चूंकि प्रागैतिहासिक युगों में विचार अमूर्त्त और अस्पष्ट था इसलिये उन युगों की कला का रूप भी प्रतीकात्मक रहा। क्लासिकल व रोमान्टिक कला में विचार तत्व मूर्त्त रूप में व्यक्त हुआ है। परन्तु क्लासिकल कला में ऐन्द्रिकता (Sensuousness) की अधिकता रहती है क्योंकि आइडिया अभी 'बौद्धिक आन्तरिकता' के रूप में विकसित नहीं हो पाया। रोमान्टिक कला में भाव, कल्पना व एन्द्रिकता के साथ एक 'बौद्धिक आन्तरिकता (Intellectual inwardness) भी रहती है। कला का यही सर्वश्रेष्ठ रूप है।

हीगेल का प्रसिद्ध कला-विभाजन आइडिया की मूर्त्तता के आधार पर ही किया गया है जिसमें माध्यम की दृष्टि से कला की श्रेष्ठता तथा हीनता निर्धारित की गई है। परन्तु इस विभाजन के सम्बन्ध में आलोचकों को प्राय: यह भ्रम रहा है कि हीगेल ने माध्यम को ही आधार माना है जबकि हीगेल 'आइडिया' को आधार बनाता है। उपर्युक्त विवेचन इसका प्रमाण है।

हिन्दी में बाबू श्यामसुन्दरदास आदि ने माध्यम को ही आधार मान कर कला-विभाजन का विवेचन किया है जो ग़लत है।

हीगेल के अनुसार स्थापत्य (Architecture) प्रथम ललित कला है। इस कला में अचेतन (Inorganic) प्रकृति का सादृश्य प्रस्तुत किया जाता है। अतः इसका माध्यम भी स्थूल जड़ पदार्थ है—पत्थर, ईंट आदि। इसमें ज्यामिति के बाह्य नियमों (वर्गाकार, आयताकार, वृत्ताकार आदि) से काम चल जाता है। प्रकृति की स्थूल वाह्य वस्तुओं में जो गुण होते हैं उसी स्थूलता तथा आकारादि का सादृश्य इस कला में मिलता है। इसमें चूंकि आइडिया अमूर्त रूप में अभिव्यक्त होता है अतः भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। कला का निम्नतम रूप इसी कारण स्थापत्य को माना गया है। इसमें मूर्त्त आइडिया की अभिव्यक्ति असम्भव है। यह अपनी आइडिया की अमूर्त्तता के कारण हीन है न कि केवल माध्यम की स्थूलता के कारण जैसा कि प्राय: कहा गया है। हीगेल द्वारा वर्णित 'माध्यम' विचार के साथ सम्बद्ध है। हीगेल आइडिया की अमूर्त्तता और (इसलिए) माध्यम की स्थूलता के कारण इस कला को निम्नतम कोटि की कला मानता है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस कला का नाम 'प्रतीकात्मक' कला है। यह कला आइडिया का अनुभव (अमूर्त रूप में) सर्व प्रथम कराती है। जिस भवन में विचार अमूर्त्त रूप में भी अभिव्यक्त नहीं होता वह कलाहीन होता है। उसका निर्माण केवल उपयोग की दृष्टि से ही किया जाता है।

इस कला से केवल इतना ही लाभ होता है कि यह स्थूल वस्तु को विवेक के अनुसार सुडौल आकृति देने का प्रयत्न कर प्रकृति की उग्रता से बचाने का साधन बनाती है। चैत्य, स्तूप, मन्दिर, सुन्दर भवन आदि इस कला के सुन्दर उदाहरण हैं। इनमें 'रूप' का कारण सामंजस्य (Symmetry) है। मूर्त्ति कला के विषय में भी यही सिद्धान्त लागू होता है। इसमें आइडिया अपेक्षाकृत मूर्त्त रूप में अधिक व्यक्त होता है। मन्दिरों के निर्माण में स्थापत्य एवं मूर्त्ति दोनों कलाओं का सम्मिश्रण रहता है क्योंकि मन्दिरों में ही प्राय: मूर्त्तियों की स्थापना की जाती है। मूर्त्तिकला में स्थूल वस्तु को चेतन मन के अनुरूप मानव आकृति में ढाला जाता है। इस प्रकार भाव और ऐन्द्रिक आकृति में सामंजस्य हो जाता है।

चित्रकला—इसमें स्थापत्य तथा मूर्त्ति कला की भाँति स्थान (Space) का उपयोग तो होता है परन्तु प्रस्तर, मिट्टी आदि के स्थान पर रेखा व रङ्गों का

I—Defectiveness of form arises from defectiveness of form.

प्रयोग होता है। अतः इसका माध्यम अधिक विकसित है क्योंकि इसमें आइडिया अधिक मूर्त्त होकर अभिव्यक्त होता है। मानव हृदय में उत्पन्न प्रत्येक स्पन्दन–भाव, विचार, कल्पना आदि चित्र द्वारा व्यक्त हो सकता है। सूक्ष्मतम कल्पनाओं से स्थूलतम वस्तुओं का इस कला द्वारा चित्रण सम्भव हैं।

संगीत चित्र से भी अधिक सूक्ष्म कला है। इसमें आइडिया की अभिव्यक्ति माध्यम (स्वर) की सूक्ष्मता और अन्तर्मुखता के कारण अधिक सफलता के साथ होती है।(१) संगीत स्थान (Space) को अतीत कर केवल 'काल' में व्यक्त होता है। चित्र में स्थान के उपयोग के कारण अन्तर्मुखता नहीं आ पाती यद्यपि सांकेतिकता अवश्य आ जाती है। स्थूल जड़तत्व (जिसे भवन, मूर्त्ति में प्रयुक्त किया गया था) यहाँ गति (Motion) में बदल जाता है। 'गति' स्थूल जड़तत्व से अधिक विकसित और 'सत्य' के निकटतर होने के कारण संगीत चित्रादि से उच्चतर कोटि की कला (Idea) बन जाता है। संगीत आइडिया को स्थूल जड़तत्वों—स्थान, दिक् तथा स्थूल माध्यमों से मुक्त कर देता है। संगीत में मानसिक अन्तर्मुखता इसीलिए अधिक है। संगीत में ईश्वर (Idea) अधिक अप्रच्छन्न रूप में व्यक्त होता है जबकि स्थूल कलाओं में उसका रूप प्रच्छन्न और अस्पष्ट रहता है। परन्तु फिर भी संगीत में भाव व उद्वेग की अधिकता के कारण आइडिया पूर्णरूप से अप्रच्छन्न और वास्तविक रूप में व्यक्त नहीं हो पाता। संगीत कला में अनिश्चितता का कारण यही है। दूसरी बात यह कि स्थापत्य कला की भाँति ज्यामिति के नियमों से अनुशासित होने के कारण इसमें पूर्ण स्वच्छन्दता भी नहीं रहती।

काव्य कला—काव्य सर्वश्रेष्ठ ललित कला है। मस्तिष्क पर इसका प्रभाव सबसे अधिक पड़ता है। संगीत में केवल हार्दिक स्पर्श रहता है। काव्य में भी केवल 'स्वर' ही माध्यम के रूप में ग्रहीत है परन्तु इसमें स्वर-सौन्दर्य नहीं रह जाता अपितु 'स्वर' संकेतों में बदल कर 'शब्द' बन जाते हैं। संकेत स्वतः अपने में असमर्थ वस्तु है किन्तु यही संकेत आइडिया के मूर्त्तीकरण में सबसे अधिक समर्थ रहते हैं। संगीत में रहने वाली स्वरों की अनिश्चितता काव्य में शब्दों की निश्चित शक्ति में बदल जाती है। काव्य में भाव व कल्पना संगीत की तरह अनिश्चित रूप में व्यक्त न होकर निश्चित रूप में व्यक्त होते हैं। इस प्रकार काव्य स्वर (Sound) को शब्द (word) में बदल देता है। शब्द 'विचार' को संकेतित करता है और शब्द के अतिरिक्त विचार को मूर्त्त रूप में अन्य कोई माध्यम व्यक्त नहीं कर सकता। 'शब्द' स्थान, दिक्, काल सब को अतीत कर जाता है और किसी भी प्रकार के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार तत्व को मूर्त्त कर देने की शक्ति रखता है। काव्य का शुद्ध रूप यही है। परन्तु व्यवहार में काव्य संगीत, चित्र एवं मूर्ति से भी सहायता लेता है। अतः काव्य को गाया भी जा सकता है, उसमें चित्र-पद्धति पर वस्तु का 'चित्रण' भी हो सकता है। परन्तु यह काव्य का मुख्य धर्म नहीं है। संगीत व चित्र के विना भी काव्य की स्वतंत्र सत्ता है।

इस प्रकार काव्य देश, काल और स्थान से अतीत एक सार्वदेशिक, सार्वकालिक कला है जिसमें 'आत्मा' बिना वाह्य स्थूल माध्यमों के स्वच्छन्द होकर अभिव्यक्त होती है। काव्य 'विचारतत्व' को एन्द्रिक (sensuous) रूपों में अभिव्यक्त कर पूर्णता की उपलब्धि कराने में समर्थ है।

उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकला कि

(१) शॉपेन हावर को कान्ट की तरह संगीत को अन्य कलाओं के साथ रखने में कठिनाई हुई है। उसके अनुसार अन्य कलायें विचारों व भावों को अभिव्यक्ति देती हैं जबकि संगीत विचारों की पृष्ठभूमि में स्थित "इच्छा" को प्रकाशित करता है। मनुष्य की यह प्रकृति है कि उसमें "इच्छा" नित्य जाग्रत रहती है और कभी सन्तुष्ट नहीं होती। संगीत द्वारा यह इच्छा कुछ समय के लिए अन्य कलाओं से कहीं अधिक सन्तुष्ट होती है। अतः संगीत कला अन्य ललित कलाओं से कुछ विशिष्टता रखती है।

स्थापत्य एक बाह्य कला (external art) है, मूर्तिकला वस्तुपरक (objective) कला है, तथा चित्र, संगीत व काव्य अन्तर्मुखी (subjective) कलाएं हैं। चित्र संगीत तथा काव्य को समष्टि रूप से रूमानी कला कहा गया है। काव्य रूमानी कला की अन्तिम परिणति है। माध्यम की दृष्टि से स्थापत्य से काव्य कला तक क्रमशः माध्यम सूक्ष्म होता चला जाता है और काव्य में अमुख्य हो जाता है। जिस कला में माध्यम जितनी सीमा तक अनिवार्य रहता है, वह कला उसी सीमा तक निम्न कोटि की कला होती है क्योंकि कलाकार माध्यम की अनिवार्यता के कारण अपने को स्वच्छन्द रूप में व्यक्त नहीं कर पाता।

हीगेल के अनुसार प्रतीकात्मक कला की पूर्णता स्थापत्य कला में मिलती है। क्लासिकल कला मूर्त्ति कला में पूर्णता प्राप्त कर लेती है। रोमन्टिक कला में चित्र, संगीत व काव्य को चरम उत्कर्ष प्राप्त होता है। काव्य के सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि इसमें अन्य ललित कलाओं के सभी "सौन्दर्य प्रकार" मिलते हैं और सभी कलाओं में यह कला 'अनुभूत' रहती है। क्योंकि कल्पना इसका मुख्य सहायक तत्व है। कल्पना से ही सभी प्रकार की सौन्दर्य सृष्टियां सम्भव होती हैं। काव्य में ही मानवीय आत्मा की अनुभूति पूर्ण रूप में व्यक्त होती हैं।

हीगेल का विभाजन योरोपीय सौन्दर्य-शास्त्र में सबसे अधिक व्यवस्थित और पूर्ण माना जाता है। हम पहले कह आये हैं कि भारतीय विचारकों ने काव्य व संगीत को विद्या तथा चित्र, मूर्त्ति एवं स्थापत्य को'कला' माना है। माध्यम की दृष्टि से हीगेल का विभाजन वैज्ञानिक हो सकता है जैसा कि प्रसाद जी का मत था। परन्तु आनन्द की दृष्टि से भारतीय दृष्टि उक्त विभाजन को स्वीकार नहीं कर सकती। काव्य, संगीत, चित्रादि प्रत्येक कला का लक्ष्य हमारे यहाँ 'रसानुभूति' माना गया है अत: विभिन्न माध्यमों से एक ही लक्ष्य की पूर्त्ति मानी गई हैं। भारतीय सौन्दर्य शास्त्र यह स्वीकार नहीं करता कि स्थापत्य, चित्रादि कलाओं में 'विचार' तत्व की अपूर्ण अभिव्यक्ति होती है। भाव को रूप में बदल देना ही कला है और भवन, मूर्ति आदि से भी भावाभिव्यक्ति होती है, इसे प्रत्येक सहृदय स्वीकार करता है। माध्यम की विशिष्टता के अनुसार आनन्द भी विशिष्ट रूप धारण करता है। उदाहरण के लिए हीगेल की यह बात सही है कि कोमल माध्यमों--रंग, स्वर, शब्द द्वारा विचार को अधिक सुविधा के साथ मूर्त्त किया जा सकता है परन्तु यह भी मानना पड़ता है कि स्थापत्य व मूर्त्ति कला में कठोर माध्यमों के द्वारा रूप का विन्यास अधिक स्थिर और इन्द्रियों के लिए अधिक स्पष्ट होता है। चित्र, संगीत व काव्य में सांकेतिकता के साथ-साथ अस्पष्टता और अस्थिरता भी अनिवार्य रूप से आजाती है। इसके विपरीत स्थापत्य व मूर्ति कला में स्पष्टता और स्थिरता अधिक रहती है। (१) अत: वस्तुत: ललित कलाओं में प्रत्येक कला की अपनी-अपनी विशेषतायें हैं। इनमें हीनता और उच्चता के निर्धारण के स्थान पर इनकी विशिष्टताओं का विचार ही अधिक वैज्ञानिक होगा अन्यथा विभाजन पंचायती होगा। हीगेल के विभाजन में यही दोष है कि वह कला की विशेषताओं पर जोर नहीं देता।

माध्यमों में कुछ "चल" तथा कुछ "अचल" होते हैं अत: 'चल' माध्यम वाली कला में रसिक को "अचल" होना पड़ता है। यथा संगीत में स्वरों के आरोह-अवरोह का आनन्द लेने के लिए चित्त को स्थिर करना पड़ता है। "अचल" माध्यमों वाली कला में रूप का विन्यास स्पष्ट होता है, अत: रसिक को इसका आनन्द लेते समय अपने में "चलता" लानी पड़ती है। मूर्त्ति दर्शन में रसिक नेत्रादि के 'चालन' से गति की खोज करता है। (२) यहाँ भी विशिष्टता द्रष्टव्य है। प्रत्येक कला का सौन्दर्य सब कलाओं में एक सीमा तक सामान्य होने पर भी कुछ 'विशिष्ट' भी रहता है जो दूसरी कला में नहीं मिलता। अत: प्रत्येक कला इस दृष्टि से

१—सौन्दर्य-शास्त्र —डा० हरद्वारीलाल शर्मा, पृष्ठ १४६

२—वही, पृष्ठ १४७

दूसरी से श्रेष्ठ होती है।

हीगेल ने कहा है कि संगीत में 'स्थल' की जगह 'काल' रह जाता है परन्तु भारतीय दृष्टि काल के 'चल' और 'स्थिर' दो रूप मानती है। स्थापत्य में इसी स्थिर काल तत्व का आनन्द है। हीगेल 'आइडिया' के केवल मूर्त्त रूप को महत्व देता है जबकि भारतीय दृष्टि से उसका अमूर्त रूप भी भारतीय कलाओं द्वारा व्यक्त हुआ। मन्दिर, मूर्त्ति स्थिर काल तत्व के व संगीत, काव्य प्रवहमान काल तत्व के व्यंजक कला रूप हैं। शॉपेन हावर भी संगीत कला को अन्य कलाओं से विशिष्ट मानता है।

भवन कला से स्थिरता, सुरक्षा और दृढ़ता का अनुभव होता है।[१] हमारी बुद्धि को अचल सत्यों का बोध इसी कला द्वारा हो सकता है। इसमें विचार के चिरन्तन तत्व की स्थूल अभिव्यक्ति होने से यह अन्य कलाओं से विशिष्ट होती है। इसी प्रकार 'आकार' की सम्पूर्णता सबसे अधिक इसी कला में होती है।

इसी प्रकार मूर्तिकला में प्रस्तर अथवा धातु से उसी दिव्य आनन्द की सृष्टि होती है, उसी सांकेतिकता का जन्म होता है जो काव्य व संगीत में होता है। अर्थ, स्वर, रंग आदि के अधीन न रहकर कलाकार मूर्ति-निर्माण में अधिक स्वतंत्रता का अनुभव करता है। इस सम्बन्ध में डा० हरद्वारीलाल शर्मा का यह कथन सर्वथा उपयुक्त है कि, "पत्थर में अव्यक्त, शून्य अवस्था इसे कला के लिये उपयुक्त माध्यम बनाती है। अव्यक्त में प्रबल और स्पष्ट व्यक्तित्व का अविर्भाव ही कला-सृजन है; किन्तु हीगेल आदि दार्शनिकों ने माध्यम के इस गुण पर ध्यान न देकर पत्थर आदि को कला का नीची श्रेणी का माध्यम माना है।"[१] कठोर माध्यम से स्थिरता और चिरन्तनता की अभिव्यक्ति में जो सहायता मिलती है वह अन्य किसी माध्यम से नहीं मिल सकती। भारत में कोमलता-प्रियता के कारण ही मूर्तिकार को शिल्पकार माना गया न कि इसलिए कि मूर्तिकला हीन कला है। हमारे यहाँ शैवों, वैष्णवों व बौद्धों ने मूर्त्तियों में जिस सौन्दर्य का अंकन किया है वह हमारे महाकाव्यों से कम सुन्दर नहीं हैं। कामायनी व ताजमहल में कौन अधिक सुन्दर है—भारतीय दृष्टि से दोनों में अपना-अपना विशिष्ट सौन्दर्य है अतः हीगेल का विभाजन विवादास्पद है।[२]

मनुष्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का भोग कला द्वारा एक उच्च स्तर पर करता है। इनके साथ ही सारा मानसिक जगत भी संयुक्त होकर कला में व्यक्त होता है अतः स्थापत्य, मूर्ति एवं चित्र में 'रूप' का आनन्द नेत्रों को अधिक आकर्षक लगता है और संगीत व काव्य में शब्द हमारी कर्णेन्द्रियों को अधिक आकर्षित करते हैं। गन्ध व रस व स्पर्श की तृप्ति भी

(शेष पृष्ठ १७५ पर)

१—हीगेल के पश्चात् शॉपेनहावर ने भी स्थापत्य में कुछ सत्यों की व्यंजना सम्भव स्वीकृत की है। उसके अनुसार 'स्थापत्य' में गाम्भीर्य (gravity), स्पष्टता (cohesion), स्थिरता (rigidity), कठोरता (hardness) को अभिव्यक्ति मिलती है। शॉपेनहावर मनुष्य के दुख का कारण 'इच्छा' (will) को मानता है। ज्ञान भी इच्छा के अधीन रहता है। 'कला' में हम कुछ समय के लिये 'इच्छा' से स्वतंत्र हो जाते हैं। स्थापत्य को यद्यपि वह निम्नकोटि की कला मानता है तथापि स्थापत्य हमें 'इच्छा' से मुक्त करता है। अतः हीगेल से कहीं अधिक शॉपेनहावर ने स्थापत्य का महत्व स्वीकार किया है।

१—सौन्दर्य शास्त्र —डा० हरद्वारीलाल शर्मा, पृष्ठ १९६

२—हीगेल के अनुसार मूर्तिकला क्लासिकल कला है, प्रातः स्थापत्य से उच्चतर होने पर भी उसमें स्वच्छन्दता नहीं है। शॉपेनहावर के अनुसार यद्यपि मूर्तिकला स्थापत्य से श्रेष्ठ है परन्तु उसने स्पष्ट स्वीकार किया है कि मूर्तिकला में 'इच्छा' की अधीनता नष्ट होती है और हमारा ध्यान रूप से विचारों और भावों की ओर जाता है। अतएव शॉपेनहावर ने इस कला को भी हीगेल से अधिक महत्व दिया है। प्रत्येक कला जगत के दुखों को दूर करने में सहायक है।

सूफी कवियों की सौन्दर्यानुभूति

श्री उदयशङ्कर शास्त्री

तैंतीस कोटि देवताओं के प्रति नाना प्रकार की आस्थाओं से भरे इस भारतवर्ष में जब सूफी लोगों का आना जाना आरम्भ हुआ तो यहाँ के लोगों के लिए उनके आचार-विचार, धार्मिक आचरण एवं उनकी साधना पद्धति को सीधे-सीधे अंगीकार कर लेने में काफी सोच-विचार से काम लेना पड़ा। कारण यह था कि सूफी लोग अपनी जिस आस्था को प्रमुख रूप से प्रगट करते थे या उसके अनुसार आचरण करते थे वह यहाँ के लिए नई थी। सूफियों की आस्था एकमात्र प्रेम पर अवलम्बित थी। यहाँ के लोग किसी भी वस्तु में आसक्ति को प्रश्रय इसलिए नहीं देते थे कि उसके कारण उन्हें निवृत्ति मार्ग के पाने में बाधा आती थी। इसलिए कोमल एवं सुन्दर अथवा मोहक वस्तुओं और उपादानों की ओर से मुंह फेर कर चलने को अच्छा समझते थे। स्वच्छन्दतावादी लोकायतों को न तो समाज में अच्छा स्थान ही प्राप्त था न उनके प्रति अधिक लोग श्रद्धा ही व्यक्त करते थे। मन की सहज प्रवृत्तियों को उनके स्वाभाविक एवं स्वच्छन्द मार्ग से मोड़कर कठिन तपश्चर्या की ओर ले जाना इसी वृत्ति का परिणाम है। "योगश्चित्तवृत्ति निरोध:" पतंजलि के योग का पहला सूत्र ही इसी आस्था का मूल है। आगे चलकर तो इसके आधार पर साधना की एक विशेष पद्धति ही चल पड़ी और हठयोग का पूरा शास्त्र बनकर तैयार हो गया। किन्तु सूफियों का प्रेम भी धीरे-धीरे असर करता रहा। इस असर का मुख्य कारण यह था कि सूफी, प्रेम के द्वारा परमात्मा को पाने की जो राह बताते थे वह हठ योगियों के खट करम (षट् कर्म) से सरल, मोहक एवं मृदु थी। प्रेम का अन्तिम ध्येय प्रेम की उसकी वास्तविकता को जानना है। यह वास्तविकता ही सूफियों के अनुसार ईश्वरीय तत्व है। इब्नुल अरबी के अनुसार प्रेम का मूल कारण सौंदर्य ही है। और सौन्दर्य की प्रशंसा के लिए जो प्रेम किया जाता है यथार्थ में उसी में रति की सार्थकता है। इसीलिए सांसारिक सौन्दर्य की प्रशंसा प्रेम के परिपाक का कारण होती है। यही सांसारिक प्रेम, अलौकिक प्रेम का निमित्त हो जाता है। इसीलिए रहस्यवादी प्रणयमूला भक्ति को भी आश्रय मिलता था। और इन प्रेमी साधकों के बीच में हमें यह तत्व भी करीब-करीब एक युग में साथ ही साथ दिखाई पड़ता है। जहाँ अन्य प्रकार की आसक्तियों की चर्चा है वहीं एक कान्तासक्ति की भी चर्चा नारद के भक्ति सूत्रों में मिलती है। गोपियों की कृष्ण भक्ति भी जिसे आगे चलकर परकीया भक्ति के रूप से बहुत महत्व दिया गया इसी प्रकार की वस्तु है। वल्लभाचार्य ने गोपी बनना मानव जीवन का लक्ष्य माना है।[1] इतना ही नहीं चैतन्य ने स्वयं अपने को कृष्ण की प्रेमिका के रूप में उपस्थित किया है। और अनेक स्थानों पर यह स्पष्ट ही कहा है कि कृष्ण उनके प्रियतम हैं। प्रियतम के प्रत्येक भाव के प्रति प्रेमी भक्त की आसक्ति होना सहज एवं स्वाभाविक है।

सौंदर्य के प्रति आकृष्ट होना प्राणिमात्र के लिए सुगम ही नहीं वरन् स्वाभाविक है। कारण कि मानव स्वयं ईश्वर का अंश माना जाता है, (ईश्वर अंश जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी—तुलसी) अत: उसमें जो प्रेम की भावना है वह भी ईश्वर की ओर से ही प्रदत्त है और वह दिव्य एवं सुन्दर मानव ही प्रेम

१—यच्च दुःखं यशोदायां नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां च यद्दुःखं तद्दुःखं स्यात् मम् क्वचित्।
षोड़शग्रन्थ, पृ० २

रूप है।[1] इसीलिए मनुष्य के मन में एक ही प्रेम वात्सल्य, स्नेह, अनुरक्ति, आसक्ति एवं भक्ति के रूप में निवास करता है। परन्तु ऐहिक प्रेम में स्वार्थ और ममत्व की भावना प्रधान होती है जो आधि व्याधियों के रूप में अनेक बाधाएं खड़ी करती है। इसके विपरीत दैवी प्रेम वास्तविक प्रेम होता है जिसमें स्वार्थ की भावना तनिक भी नहीं होती है। यह भावना सौंदर्य के माध्यम से मानव में एक प्रकार का ऐसा जादू करती है कि प्रेमी प्रेम की अग्नि में झुलस झुलस कर सदैव प्राण देने को प्रस्तुत हो जाता है। अल् हल्लाज ने अपने वध के समय शिब्ली से कहा था, ओ शिब्ली ! प्रेम का आरम्भ जलाने वाली आग है और अन्त शान्ति देने वाली मृत्यु है। यही कारण है कि सच्चा प्रेमी सदा प्रेम के नशे में धुत्त् बना रहना चाहता है, उमर खैयाम ने लिखा है कि प्रेम की मदिरा से हमारे शरीर और प्राण को शक्ति मिलती है। यह प्रेम की मदिरा मन में माधुर्य का संचार करती है। इसीलिए प्रेमी एवं साधक संसार के तमाम कालकूट को अमृत समझ कर पीता रहता है। और जब इस प्रकार की भावना अपनी चरमावस्था को पहुँच जाती है तब जो कुछ हर्ष विषादमय कहा जाता है वह सब का सब उसे प्राप्त हो जाता है। इन कठिनाइयों से गुजरने के बाद उसे अपना प्रियतम अवश्य मिलता है। मौलाना हाफिज ने कहा है "आशिक कि शुद के यार बहालश नजर न कर्द" अर्थात् कोई ऐसा भी प्रेमी हुआ है जिसके हाल पर उसके यार (प्रियतम) ने दया न की हो। इसी माधुर्य भाव के कारण संसार में सौन्दर्य का वाह्य प्रेम आन्तरिक सौन्दर्य के प्रेम का कारण बन जाता है यही सूफियों का इश्क हकीकी और इश्क मजाजी है। जब इश्क मजाजी इश्क हकीकी में परिणत हो जाता है तो फिर उसे वाह्य पदार्थों का सौन्दर्य तुच्छ लगने लगता है और ईश्वरीय सौन्दर्य के प्रति वह इतना आकृष्ट हो जाता है कि उसे फिर न और कुछ दिखाई पड़ता है और न सुनाई ही देता है और अपने यार के साथ उसका ऐसा तादात्म्य स्थिर हो जाता है कि वह अपना अस्तित्व तक भूल कर उसी का हो रहता है। जामी ने कहा है कि "बर ऊदे दिलम नवाख़्त यक जमजमा इश्क। जाँ जमजमा अमजे पाये ता सर हम इश्क।[1] अर्थात् मेरे हृदय रूपी सितार पर प्रेम ने एक ऐसी गत बजा दी है कि जिसके प्रभाव से में सिर से पैर तक प्रेम ही प्रेम हो गया हूँ।

सूफियों की साधना में रति का आलम्बन ईश्वर ही होता है। उनकी आस्था के अनुसार ईश्वर साकार नहीं है अत: वे उसके प्रतिबिंब की कल्पना के निमित्त किसी ऐसे हुस्न की खोज करते हैं जो अपने रूप सरूप की चका चौंध से उनके भीतर उजाला कर दे। फिर सूफी लोग उसी साकार प्रियतम की भाँति ईश्वर का विरह जगाते, नाम जपते और ध्यान करते हैं। अनेक नामधारी सूफियों ने आलम्बन की अलक्ष्यता के कारण प्रिय को आलम्बन मान कर परोक्ष रूप से परम प्रिय के रति भाव को अभिव्यक्त किया है। इन सूफियों का प्रधान भाव रति है और रति का मुख्य उद्दीपन है सुरा। इसमें रति का आलम्बन सुरा का दाता (जिसे साकी कहते हैं) होता है। माशूक ही साकी का काम करता है और प्रेम मदिरा पिला पिला कर प्रेमी को इतना छका देता है कि वह उसी में ऊभचूभ होने लगता है। माशूक का हुस्न अल्लाह का जमाल है जो किसी हसीन को अल्लाह का प्रतीक बनाता है।[2] जायसी ने इसी अवस्था में पद्मावती से कहलाया है :—

करि सिंगार तापहँ का जाऊं।
ओहि देखहुँ सब ठावहिं ठाऊं॥
नैन माँह हैं उहै समाना।
देखौं तहाँ नाहिं कोउ थाना॥
जा. ग्रं. पृ. १६३

इतना ही नहीं अनेक सूफी कवियों ने इसी प्रकार

१—'The basis and the cause of all love is beauty"
(The mystical philosophy of Muhiuddin Ibnul Arbi P. 173.)

१—ईरान के सूफी कवि, पृ० ४००
२—तसव्वुफ अथवा सूफी मत पृ० १०२

के तादात्म्य में लीन होकर कहा है—

एही रूप बुत अह्यो छिपाना।
एही रूप सब सृष्टि समाना॥
एही रूप सकतीं औ सेवउ।
एही रूप त्रिभुवन नर होवउ॥
एही रूप परगट बहु भेसा।
एही रूप जग रंक नरेसा॥
एही रूप त्रिभुवन वर असि महि पाताल अकास।
सोई रूप प्रगट तहँ मानहि देख्यौं कहाँ हवास॥
एही रूप परगट बहु रूपा।
एही रूप है भाव अनेका॥
एही रूप सब नैनन्ह जोती।
एही रूप सब सागर मोती॥
एही रूप सब फूलन्ह वासा।
एही रूप रस भँवर बेरासा॥
एही रूप शस्त्र औ सूरा।
एही रूप जग पूरा पूरा।
एही रूप जल-थल महि भाव अनेग देखाव।
आपु को आपु जो देखै सो कछु देखै पाव॥

मंझन (मधुमालत)

प्रेमी और प्रेम के अतिरिक्त न तो कोई दूसरी वस्तु है और न उसका कोई अलग रूप सरूप ही है—

सब वहि भीतर वह सब माँही।
सबै आपु दूसर कोउ नाहीं॥
आपु अमूरति मुरति उपाई।
मूरति माँटी तहाँ समाई॥
है सब ठाँउ नाहिं कोउ ठाँई।
मुनिगन लखहिं कि अलख गोसाँई॥
सोई करता रमि रहा रोम रोम सब माँहि।
तिन सब कीन स्रिस्टि वह गाहक कीन्हा नाँहि।

चित्रावली—पृ० २

उसमान के विचार से उसकी कुदरत ही इस सृष्टि का सौन्दर्य है। उसके विना सारा संसार सूना और सारी चीजें फीकी हैं। उसी का सुन्दर रूप इस सारे जगत में व्याप्त है। इस संसार की शोभा, सौंदर्य आदि में उसी ईश्वर का रूप समाया हुआ है अतः वह ईश्वर रूप ही है। यह नाम और रूप तो उसी के पुकारने के लिए हैं—

तुम बसन्त लै सोवहु बारी।
तुम्ह बिनु खाँखरि सब फुलवारी।
तुमही डारि औ तुमही सूआ।
तुमहीं ते सर फूल अछूवा।
तुम्ह सरीर पुनि चम्पक फूला।
आध गुलाल मधुमती फूला।
तुमहीं आप जो सरस अमोला।
तुमहीं ते जो कोकिल बोला।
तुम बिनु सूनी चितसरी चित्र सबै बिनु रंग।
जल थल सोभा उठि चलहु सखी सहेली संग।

चित्रावली, पृ० ४६

नूर मुहम्मद ने इस भावना से ओतप्रोत होकर उस पाक परवरदिगार की सत्ता एवं सौंदर्य की सराहना की है। वह स्वयं ही फूल है और फूल की रक्षा करने वाला भी है और स्वयं ही फूल पर मुग्ध होने वाला भ्रमर भी है। वही सौंदर्यशाली है और वही उस अपार रूप पर मोहित होने वाला प्रेमी भी है।

आपुहि माली आपुहि फूला।
आपुहि भँवर फूल पर भूला।
आपुहि रूपवन्त सो होई।
प्रेमी होइ रिझत है सोई।
आपुहि परगट गुपुत अकेला।
गुरु होइ कहूँ कहुँ होइ चेला।
आपुहि दाता करता होई।
द्रिस्टा स्रोता बकता होई।

इन्द्रावती पृ० ५४

इन प्रतीकात्मक बातों के अतिरिक्त सूफियों ने रूप सौंदर्य के भीतर हर प्रकार से उसी एक परमतत्त्व की झाँकी पाई है जिसका वर्णन करने के लिए शब्दों का अभाव देखकर पण्डितों ने 'अनिर्वचनीय' कहा है। कबीर ने भी उसे बेचून कहा है,

खोजत खोजत खोजिया भया सो गूना गून।
खोजत खोजत ना मिला तब हारि कहा बेचून।

शेख रहीम ने अपने प्रेम रस में लिखा है—

वहै नूर लखिकै मन मोहे।
वहै नूर मानुख बिच सोहे।
वहै नूर सब रूप सोहाना।
वही नूर का मन ललचाना।
नर नारिन के अंग मा वहै नूर परकास।
सब जग मोहेउ नूर वह बनिकै लोहू मास॥
देखा रूप प्रेम मन आवा।
रूप प्रेम कहँ खीचि बोलावा।
जहाँ रूप तहँ प्रेमकी बासा।
जहाँ प्रेम तहँ रूप प्रकासा।
रूप प्रेम नर नारिन माँहीं।
संग रहत जस घामा छाँहीं।
कहियो रूप नर के सँग रहई।
नारी निरखि प्रेम बस दहई।
जस यूसुफ के रूप जुलेखा।
प्रेम के बस होइकै दुख देखा।
कहियो नारि के अंग विराजे।
नर लीभाय प्रेम बहु साजे।
जस मंजनू लैला पर सोहा।
नल दमयंत रूप जस सोहा।
शीरीं सर फरहाद लोभाना।
प्रेम पंथ जिउ लोभ न माना।
रूप प्रेम की यक कथा और सुनाऊं फेरि।
जो रहीम मन प्रेम है रूप मिलत नहिं देर॥

सूफी कवियों ने सृष्टि के जिन-जिन पदार्थों में सौंदर्य की झलक देखी है उन सबको किसी न किसी प्रकार अपने वर्ण्य-विषय में एकत्र कर दिया है। जिस प्रकार कमल, चन्द्र, हंस आदि अनेक पदार्थों से सौंदर्य लेकर तिलोत्तमा का रूप विधान किया गया था उसी प्रकार, कुतुबन, जायसी आदि सूफी कवियों ने अपनी-अपनी नायिकाओं में रूप निवेश किया है। जायसी ने तो पद्मावती के रूप का इतना भरपूर वर्णन किया है कि उसके आगे कई शतियों तक नखशिख के वर्णन फीके लगते रहे। जायसी ने पद्मावती के रूप सौंदर्य का दो स्थानों पर विशेष रूप से वर्णन किया है। एक बार तो हीरामन तोता रत्नसेन के सामने चर्चा करता है, दूसरी बार राघव चेतन अलाउद्दीन के सामने पद्मावती के सौंदर्य का वर्णन करके उसे लुभाने की चेष्टा करता है। पद्मावती के ऐसे सटीक वर्णन के पश्चात् उसने लिखा—

विहँसि झरोखे आइ सरेखी।
निरखि साह दरपन महँ देखी।
होतहि दरस परस भा लोना।
धरती सरग भयउ सब सोना।

अर्थात् अलाउद्दीन ने दर्पण में पद्मावती का प्रतिबिंब मात्र देखा। उसकी ज़रा सी झलक से ही सारा जग जगमगा उठा, जैसे पारसमणि के स्पर्श से लोहा, सोना हो जाता है।

जायसी ने पद्मावती के रूप सौंदर्य के जैसे दृश्य उपस्थित किए हैं उनके भीतर भी वही भावना प्रायः सर्वत्र झाँकती रहती है। उसने दो स्थानों पर पद्मावती का नख-शिख वर्णन उपस्थित किया है। सृष्टि के जिन-जिन पदार्थों में सौंदर्य की झलक मिलती है, पद्मावती की रूप योजना के लिए जायसी ने सब को एकत्र किया है। जिस प्रकार संसार की श्रेष्ठतम वस्तुओं से तिलोत्तमा का रूप सँवारा गया था उसी प्रकार पद्मावती को बनाया गया है। और वह इतना सटीक बन पड़ा कि उसे देखने की कौन कहे सुनने मात्र से श्रोता अपने को उसकी ओर आकृष्ट होने से बचा नहीं पाता। पहिले जब हीरामन तोते ने राजा के सामने पद्मावती का वर्णन किया तो उसके श्रवण मात्र से राजा बेसुध हो गया और उसकी दृष्टि संसार की ओर से हटकर उसी रूप-सागर में मग्न हो गई, फलतः वह जोगी बन गया। दूसरे स्थान पर जब राघव चेतन ने अलाउद्दीन के सामने वर्णन किया तो उसकी भी वही गति हुई और वह भी एक झलक तक पाने के लिए आकुल, व्याकुल हो उठा। जायसी ने लिखा है—

भै उनन्त पद्मावति बारी।
रचिरचि विधि सब कला संवारी
जग बेधा तेहि अंग सुबासा।

भंवर आइ लुबधै चहुँ पासा ।
बेनी नाग मलय गिरि पैठी ।
ससि माथे दूइज होइ बैठी ।
भौंह धनुक साधे सर फेरैं ।
नयन कुरंग भूलि जनु हेरैं ।
नासिक कीर कँवल मुख सोहा ।
पद्मिनि रूप देखि जग मोहा ।
मानिक अधर दसन जनु हीरा ।
हिय हुलसे कुच कनक जँभीरा ।
केहरि लंक गवन गज हारे ।
सुर नर देखि माथ भुइँ धारे ।

इन पंक्तियों में पद्मावती के रूप का चित्र आँकने में, फूली हुई लता, वेणी-नाग भाल या ललाट, द्वितीया का चन्द्रमा, भ्रू-धनुष, वरुनी-सर, नयन-कुरंग (मृग), नासिका-कीर, मुख-कमल, अधर-माणिक्य, दशन-हीरा, कुच-कनकजंभीर, कटि-केहरि लंक, गति-मत्त गजराज आदि को यथा स्थान जुटाया गया है। इन पंक्तियों में श्लेष की सहायता से स्पष्ट ही दो अर्थ प्रकट होते हैं। एक तो पद्मावती रूपी बागी दूसरा यौवन भार से नमित पद्मावती । इस प्रकार का वर्णन करते समय भी सूफी सिद्धान्त प्रतिपादन की दृष्टि से जायसी ने अवसर का उपयोग किया है। परम सत्ता के रूप-सौंदर्य के चराचर व्यापी प्रभाव तथा उसकी अलौकिक शोभा के द्वारा परम प्रियतम की सत्ता के साक्षात्कार की ओर यह इंगित किया है—

सहसौ रूप रूप मन भूला ।
जहँ जहँ दीठ कवँल जनु फूला ।
तीनि लोक चौदह खंड सबै परै मोहिं सूझि ।
पेम छाँड़ि नहि लोन किछु जो देखा बूझि ।

कुतुबन, जायसी, मंझन, उसमान, नूरमुहम्मद, शेखनबी, कासिमशाह आलम, शेख निसार; रहीम, नजीर आदि सूफी कवियों ने कथानकों का आधार लेकर जो बातें जग में जाहिर की हैं, उनमें पात्रों की कल्पना किसी न किसी कहानी का आधार लेकर की गई है, जिससे पाठक एवं श्रोता को स्पष्ट यह भासित होने लगता है कि राजा की चित्रसारी कैसी होगी ? सतमहले पर राजकन्या अपनी अलबेली सखियों के साथ किस प्रकार हँस खेल कर दिन बिताती होगी ? किन्तु कुछ ऐसे भी सूफी हो गए हैं जिन्होंने अपनी प्रतिभा से कथा का ऐसा ताना-वाना बुनकर तैयार कर दिया है जिसमें नायक, नायिका, देश, नगर आदि सब के सब खयाली (काल्पनिक) हैं। फ़ानी (नाशमान) दुनियाँ के करिश्मों में खुदाई नूर को लखने परखने में जिस आँख की आवश्यकता होती है उसकी पूरी कसौटी तो रूप में अरूप लखने और उसका वर्णन करने में ही है। संसार को फानूस के समान उमर खैयाम ने भी सावित किया है, एक अन्य सूफी ने भी इसी फानूस की चर्चा इस प्रकार की है ।

जग फानूस की शकल वनाया,आपको चातुर होय जताया ।
हाथी घोड़े वामें वनाये, दीपक बल सब सैर कराये ।
जब दीपक हो वामें आया, वह मंदिर सब जग को भाया ।
दीपक हो जब आया अंदर, सूझे तारे सूझे चंदर ।
जब लग दीपक वामें रहे, हँसी खुशी जग वाको कहे ।
जब दीपक फानूस से जावे, काहू को फानूस न भावे ।

कहीं बुलबुल कहीं फूल हो आया,
कई भाँति अपना रूप देखाया ।
कहीं लैली कहीं मजनूं हुआ,
कहीं कली कहीं मधुवन हुआ ।
कहीं रोवै कहीं खिलखिल हँसे,
वह प्यारा कई रंग में बसे ।
कही अल्ला कहीं राम कहाया,
कहीं वंदा वन पूजन आया ।
आप ही गंग से तीर बहाया,
फिर सेवक हो पूजन आया ।
आप अनलहक आप पुकारा,
किया बदनाम मंसूर बिचारा ।
फिर काजी हो कायल कीना,
और वाको सूली पर दीना ।
कौन चढ़ा और कौन चढ़ाया,
आप ही यह कई रूप में आया ।

हि० सू० कवि और काव्य, ३२३

अर्थात इस फानूस में परमात्मा दीपक रूप से वर्तमान है। जब तक दीपक फानूस में वर्तमान रहकर प्रकाश देता रहता है तब तक फानूस शोभायमान होता है। दीपक रूप परमात्मा ही इस सारे जगत की शोभा है। फूल, बुलबुल, कली और उपवन, प्रिय और प्रेमी सब में एक उसी दीपक का उजियारा है।

पछाहीं सूफियों की कविता एवं उनकी विचारधारा ने अपने वातावरण के अनुसार ईरान-तूरान में जिस प्रकार की फ़िज़ाँ तैयार की थी, भारत के सूफियों ने सिद्धाँत रूप से उसे सकारने पर भी उसका अंधानुकरण नहीं किया। इन लोगों ने भारत में प्रचलित आचार-विचार, रीति-रिवाज, रहन-सहन आदि को भली-भाँति देख सुनकर उसका उपयोग किया और उन्हें अपनी रचनाओं में अच्छी तरह पिरो दिया। इन्होंने शास्त्रों से जो कुछ लिया सो तो लिया ही, लोक से भी पर्याप्त सामग्री एकत्र की। इन लोगों की लोक दृष्टि बड़ी सचेत थी। इसीलिए जीवन के विविधि पक्षों के सजीव रूप उपस्थित करने में इन्हें सामग्री की कमी नहीं रही। प्रेम और रूप का ढाँचा खड़ा करने में इनको आवश्यक सामग्री के लिए कभी भटकना नहीं पड़ा। कारण प्रेम और रूप का चिर सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध ही खुदा की कुदरत से प्रतिभासित है। उसका रूप ही सारे जगत में व्याप्त है। रूप स्वयं प्रेम को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। शेख रहीम ने अपने प्रेम रस में लिखा है :—

मन की दुविधा छाँड़ि के जो धावे धर भेख।
निरमल अमर सँवारि के दरस आरसी देख।।

इस प्रेम का उद्‌भावन गुण श्रवण, चित्र दर्शन, स्वप्न दर्शन, साक्षात् दर्शन से प्रारम्भ होता है। सूफी कवियों ने इसीलिए अपने काव्यों में इनकी प्रधानता रखी है। लगभग सभी नायक नायिका की (जो परमात्मा का स्वरूप भी होती है) छवि का वर्णन सुनकर या स्वप्न में देखकर उसके विरह से आकुल व्याकुल हो कर संसार त्यागकर जोगी बन जाते हैं। और फिर "किंगरी लिहे बियोग बजावा" हाथ में किंगरी लेकर उसी (परमात्मा और नायिका) के वियोग के गीत गाते अलख जगाते सात समुन्दर पार तक चले जाते हैं। राह में कहीं यदि कोई 'गुरु' मिल गया तब बेड़ा पार हो जाता है नहीं तो गर्क ही होता है।

मुख्य रूप से रूप में अरूप को प्राप्त करना एक महत्वपूर्ण साधना थी। सूफी काव्य में नारी रूप का जो वर्णन मिलता है वह कहीं भी अपूर्ण नहीं है। बत्तीसों लक्षणों से संयुक्त नारी का पूरा चित्रण सूफियों ने इस दृष्टि से किया है कि उन्होंने स्त्री को प्रेम का प्रतीक माना है। अरबी सा मनीसी का कहना है कि अल्लाह कभी अमूर्त्त रूप में दर्शन नहीं देता और स्त्री रूप में ही उसका साक्षात्कार श्रेष्ठ होता है।[1] यह पहिले ही कहा जा चुका है कि सौन्दर्य का मुख्य आधार रति (अनुराग) है। यही कारण है कि किसी रूप को देखकर उसकी ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक हो जाता है। उसी रूप की ओर चरम सीमा का आकर्षण हमें भव सागर से पार करता है। जामी और रूमी जैसे सूफियों ने इसीलिए किसी से प्रेम करने की सलाह दी है। उनकी दृष्टि में बिना किसी हसीन से दिल लगाए हमारा मन परमात्मा की ओर जा नहीं सकता। इसी प्रकार कुतुबन ने चित्र को देखकर चितेरे की खोज करने की बात कही थी।

'चित्र देखि कै खोजु चितेरा। खोज करहु तो मिलै सबेरा!'

यही सूफियों का परम रहस्य है। वे इस जगत के सौंदर्य के भीतर उस अपार सौंदर्य को खोजने का प्रयास इसलिए करते हैं कि उनका विश्वास है कि ईश्वर का अंश भूत जीव ईश्वर से बिछुड़ कर इस संसार में आता है सही, पर उसे अपने मूल स्वरूप की स्मृति भी आती रहती है। किसी किसी को वह स्मृति स्वत: ही प्राप्त होती है, किसी-किसी को किसी के सहारे से। अपार और अनंत सौंदर्य का बोध जहाँ (ईश्वर) से उन्हें प्राप्त होता है उसीको खोजने के लिए सूफी हमेशा अलख जगाते रहते हैं। जायसी ने कहा है :—छोंड़ि जमाल जलालहि रोवा। कौन ठाँव ते देउ बिछोवा।" अर्थात् ईश्वरीय सौंदर्य और ईश्वर प्रताप को खोकर यह मन पछताने

१ तसब्बुक सूफी मत १०५

लगता है। इस पछतावे की तड़पन वह वस्तु है जो जोगियों की किंगरी से निकल संपूर्ण सुनने वालों को मुग्ध ही नहीं करती वरन् मूर्च्छित तक कर देती है। मुल्लादाउद की चंदायन में एक स्थान पर आया है कि 'जेइ रे सुना सो गा मुरझाई'। यह प्रेम की तड़पन अपने आप भी जगती है और जगाने से भी जगती है। और एक बार जब जग जाती है तब फिर किसी बात की चिंता नहीं रह जाती। सारा अन्तर बाहर उसी की एक आभा से जगमग करने लगता है। उस अवस्था का वर्णन नहीं हो सकता है, वाणी मूक हो जाती है। शब्द उसको अपने भीतर बाँध नहीं पाते हैं—इसी भाव की चर्चा करते हुए सहज सनेही ने कहा है :—

बात आजु की सुनो सहेली।
जइसे बीते प्रेम पहेली।
जिह रसु बीच पर्‌यो मनु जाई।
सुधि न रही सुधि हूँ की माई।
सुधि भूले जे बतिया होई।
सोइ समझै जिन बैठे सोई।
केलि कला कहिबे की नाहीं।
सोई समझै जिन अवगाही।
मिले परस पर भाषे बैना।
ते रस बतिया जानहि नैना।
अदभुत गति यह प्रेम की जामहि रीति अनेक
बहुतन की काहू सुनी परछाहीं है एक॥

आनंद के अतिरेक के कारण जब मन की वृत्ति चरमावस्था तक पहुँच जाती है तब अरूप में रूप ऐसा खो जाता है कि फिर कहने सुनने या किसी प्रकार की चेष्टा संभव ही नहीं रह जाती है। सौंदर्य की भीतरी रेखा में पहुँचने के लिए तड़प तड़प कर काया को होमने वाले सूफियों की वही तो साधना है। शाह बरकतउल्ला प्रेमी के यह वचन इसके प्रमाण हैं।

बैकुण्ठा हम में बसे नरक बसे हम संग।
पुन्न पाप जोइ चाहिए ढूढ़ि लेइ सोइ रंग॥
तू में में तू एक हैं और न दूजा कोइ।
में तू कहना जब छुटै वही वही सब होइ॥
जम जनि बौरा होइ तू डौरत घेरत प्रान।
हम तौ तब ही दे चुके प्राननाथ को प्रान।[1]

इस स्थिति में पहुँच कर जिस वस्तु की ओर दृष्टि जाती है, वह सब का सब सौंदर्यमय ही दिखलाई पड़ता है। सभी सूफी कवियों ने प्राय: इसी दृष्टि से हर रूप को देखा है और उसका वर्णन किया है।

लौकिक पक्ष से उनके इस प्रकार के वर्णन को देख कर कहा जा सकता है कि यह तो अस्थिचर्ममय देह के प्रति एक आसक्ति की ही भावना है, जिसे अध्यात्म का जामा पहना दिया जाता है। इसका यह भी प्रभाव हो सकता है कि पाठक पर अध्यात्म का प्रभाव कम पड़े, वासना जन्य विकार का अधिक। तब ऐसी स्थिति में यह प्रेम की पीर क्या परिणाम उपस्थित करेगी इसका निश्चित प्रमाण किसके पास है। इस प्रकार के खतरे की गुंजाइश होते हुए भी कोई बहुत भय की बात नहीं है ; वह इसलिये कि सौंदर्य के प्रति आसक्ति प्राणिमात्र के स्वभाव का अङ्ग है, कहीं-कहीं कुछ अपवाद भले ही दिखाई पड़े, नहीं तो कुरूप से कुरूप के प्रति आकृष्ट होते लोग देखे जाते हैं, तब "जाका मन रम जाहि सन ताहि ताहि सन काम" कहने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहता। इसीलिए इस परम्परा का सिद्धान्त ही यह स्थिर किया गया है कि सांसारिक दु:खों एवं वासनाजन्य विकारों को मिटाने के लिए अपनी वृत्ति को ईश्वरोन्मुख बनाया जाय। ईश्वरीय प्रेम के माधुर्य में मन के रम जाने से फिर उसके इधर-उधर भटकने की न तो आशंका ही रहती है न उतनी छूट ही। मोटे तौर पर सूफियों की दृष्टि से इस पीर की यही उपयोगिता है। काव्यगत विशेषताओं के साथ अध्यात्म का गंभीर दर्शन सामने रखकर ही सूफियों ने सारी सृष्टि के सौंदर्य को देखा परखा है और उसमें से अपने लिए राह भी खोजी है। मंझन ने अपने मधुमालत में कहा है :—

निर्मल दर्पन होइ रहा यह परगट संसार।
तामें मुख करतार को देखत देखन हार।

१—प्रेम प्रकाश, पृ० २३–२४

सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता और सामाजिक विकास

डा० रामविलास शर्मा

सौन्दर्यशास्त्र का उद्देश्य सौन्दर्य तथा उसकी अनुभूति की व्याख्या करना है। साधारणत: सौन्दर्यशास्त्र के विद्वान् जिस सौन्दर्य का विवेचन करते हैं, वह साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं का सौन्दर्य होता है। प्रकृति और मानव जीवन के सौन्दर्य की व्याख्या किये बिना कलात्मक सौन्दर्य का विवेचन करना संभव नहीं है। इसलिये वस्तुत: सौन्दर्यशास्त्र का विषय उस व्यापक सौन्दर्य की व्याख्या है जो प्रकृति, मानव जीवन तथा कलाओं में विद्यमान होता है। सौन्दर्यशास्त्र दर्शन का एक अङ्ग है। ज्ञान को कर्म से पृथक् करके देखने वाले दार्शनिक सौन्दर्यशास्त्र को भी निष्क्रिय ज्ञान की वस्तु बना लेते हैं; उनकी समझ में सौंदर्य की अनुभूति अथवा सुन्दर वस्तुओं की रचना से सौन्दर्य शास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए ई. ऐफ. कैरिट ने "सौंदर्यशास्त्र की भूमिका" (E. F. Carritt : An Introduction to Aesthetics) में लिखा है, "तब सौंदर्यशास्त्र हमारे लिये क्या कर सकता है? वह हमारे सौंदर्य से प्राप्त आनन्द को बढ़ा

(पृष्ठ १६७ का शेषांश)

वस्तुओं में वर्णन व चित्रण द्वारा मिलती है। अत: कलाओं के विभाजन में न तो माध्यम को आधार बना कर श्रेष्ठता निश्चित हो सकती है और न विचार या आइडिया को लेकर। क्योंकि विचार का जो अर्थ हीगेल लेता है वह विवादास्पद है। ऐतिहासिक विचार का आध्यात्मिक अर्थ करके हीगेल ने विकास के आधार पर जो कला का वर्गीकरण किया है वह इसलिए अमान्य हैं कि "विचार" का आध्यात्मिक अर्थ हमें स्वीकृत नहीं है और विचार का सामान्य अर्थ करने पर सभी कलाओं से विचार, भाव व कल्पना की अभिव्यक्ति होती है। ताजमहल को देखकर अनेक भाव लहरियों से हृदय उर्मिल हो उठता है; नटराज की मूर्त्ति कितने भावों और विचारों से हमारे मानस को तरंगित कर देती है; अजन्ता, एलोरा एलीफेन्टा की मूर्त्तिकला को देखकर हमें जो अनिर्वचनीय रसानुभूति होती है वह क्या काव्य व संगीत से उत्पन्न रसानुभूति से हीन कोटि की होती है। अतएव ललित कलाओं में माध्यम की दृष्टि से विभाजन करना मात्र व्यावहारिक है। अनुभूति और आनन्द की दृष्टि से सभी ललित कलायें जिस प्रकार अपने माध्यमों की विशिष्टता रखती हैं, वैसे ही अपने सौन्दर्य और तज्जन्य आनन्द में भी विशिष्ट हैं। सभी कलाओं का लक्ष्य रसानुभूति है। यह भारतीय दृष्टि है और यही हमें अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होती है। योरोप में तर्क की रक्षा में विचारक वास्तविक अनुभव से बहुत दूर चले जाते हैं। इसके विपरीत हमारे यहाँ 'अनुभव' को ही सबसे अधिक प्रामाणिक माना गया है। 'अनुभव' सभी ललित कलाओं को समकक्ष रखता है। सरस्वती के 'मन्दिर' में सरस्वती की 'मूर्त्ति', सरस्वती के 'चित्र', सरस्वती की पूजा के समय के 'संगीत' तथा सरस्वती के 'काव्यमय' वर्णन में से उपासक किसे हीन तथा किसे श्रेष्ठ माने? और किस आधार पर? जब कि सभी से कला की अधिष्ठात्री देवी की आनन्दमय अभिव्यक्ति हो रही है, होती आ रही है।
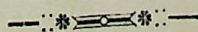
नहीं सकता और मेरी समझ में उसे इस बात की छूट न देनी चाहिये कि वह हमारे इस आनन्द को विभिन्न वस्तुओं की ओर प्रेरित करे किन्तु उन्हें समझने में वह हमारी सहायता कर सकता है। शेष सभी दर्शन के समान उसका उद्देश्य उत्सुकता को शान्त करना है और यदि ऐसे विषयों के प्रति हमारी उत्सुकता नहीं है तो उससे हमें कुछ भी सन्तोष न मिलेगा।" उत्सुकता के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता किन्तु मानव-कर्म से ज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यही नहीं कि कर्म के बिना ज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं है, यह भी सत्य है कि ज्ञान की परिणति मानव-कर्म में होती है। अनेक सौन्दर्य-शास्त्रियों का सम्बन्ध ललित कलाओं से नहीं के बराबर होता है; इसलिए सुन्दर कृतियों से वहिष्कृत उनका सौन्दर्यशास्त्र महा असुन्दर होता है। कलाकारों से भिन्न सौन्दर्यशास्त्री दार्शनिकों के बारे में कौलिंगवुड ने "कला के सिद्धान्त" (R. G. Collingwood : The Principles of Art) में लिखा है, 'वे बेसिर-पैर की बातें न करें, इससे तो सुरक्षित रहते हैं लेकिन इसका निश्चय नहीं है कि वे जिसके बारे में बातें करेंगे, उसे जानेंगे भी। इसलिये उनकी सिद्धान्त-चर्चा, अपने में चाहे जितनी योग्यतापूर्ण हो, वस्तुस्थिति का आधार कमज़ोर होने से दूषित हो सकती है।" इस दोष की सम्भावना सौन्दर्य शास्त्रियों में ही नहीं, उन सभी दार्श-निकों में रहती है जो कर्ममय जीवन से दूर रहते हैं और दर्शन को उससे अलग करके देखते हैं। इससे निष्कर्ष यह निकला कि सौन्दर्यशास्त्र और मानव-जीवन का गहरा सम्बन्ध है। सौन्दर्यशास्त्र का विवेच्य विषय साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं के अतिरिक्त प्रकृति और मानव जीवन का सौन्दर्य भी है। सौन्दर्य और उसकी अनुभूति का विवेचन उत्सुकता की शान्ति के लिये ही नहीं है; उसका उद्देश्य हमारी सौन्दर्य-चेतना को उत्तरोत्तर विकसित करना, मानव जीवन और उसके सामाजिक तथा प्राकृतिक परिवेश को और भी सुन्दर बनाना है।

सौन्दर्य किसे कहते हैं ? प्रकृति, मानव जीवन तथा ललित कलाओं के आनन्ददायक गुण का नाम सौन्दर्य है। इस स्थापना पर आपत्ति यह की जाती है कि कला में कुरूप और असुन्दर को भी स्थान मिलता है ; दु:खांत नाटक देखकर हमें वास्तव में दुख होता है ; साहित्य में वीभत्स का भी चित्रण होता है ; उसे सुन्दर कैसे कहा जा सकता है ? इस आपत्ति का उत्तर यह है कि कला में कुरूप और असुन्दर विवादी स्वरों के समान हैं जो मुख्य राग को निखारते हैं। वीभत्स का चित्रण देख कर हम उससे प्रेम नहीं करने लगते; हम उस कला से प्रेम करते हैं जो हमें वीभत्स से घृणा करना सिखाती है। वीभत्स से घृणा करना सुन्दर कार्य है या असुन्दर ? जिसे हम कुरूप, असुन्दर और वीभत्स कहते हैं, कला में उसकी परिणित सौन्दर्य में होती है। दु:खान्त नाटकों में हम दूसरों का दुख देखकर द्रवित होते हैं। हमारी सहानुभूति अपने तक, अथवा परिवार और मित्रों तक सीमित न रह कर एक व्यापक रूप ले लेती है। मानव-करुणा के इस प्रसार को हम सुन्दर कहेंगे या असुन्दर ? सहानुभूति की इस व्यापकता से हमें प्रसन्न होना चाहिये या अप्रसन्न ? दु:खान्त नाटकों अथवा करुण रस के साहित्य से हमें दु:ख की अनुभूति होती है किन्तु यह दु:ख अमिश्रित और निरपेक्ष नहीं होता। उस दु:ख में वह आनन्द निहित होता है जो करुणा के प्रसार से हमें प्राप्त होता है। इसके सिवा इस तरह के साहित्य में हम बहुधा मनुष्य को विषम परिस्थितियों से वीरतापूर्ण संघर्ष करते हुए पाते हैं। संघर्ष का यह उदात्त भाव दुख की अनुभूति को सीमित कर देता है। वीर मनुष्यों का यह संघर्ष हमें अपनी परिस्थितियों के प्रति सजग करता है, उनकी पराजय भी प्रबुद्ध दर्शकों तथा पाठकों के लिये भविष्य में चुनौती का काम करती है। उनकी वेदना हमारे लिये प्रेरणा बन जाती है। आनन्द को इस व्यापक रूप में लें, उसे इन्द्रियजन्य सुख का पर्यायवाची ही न मान लें तो हमें करुण और वीभत्स के चित्रण में सौन्दर्य के अभाव की प्रतीति न हो।

सौन्दर्य क्या है, इस प्रश्न के साथ एक दूसरा प्रश्न जुड़ा हुआ है, सौन्दर्य कहाँ है, दर्शक, श्रोता या पाठक के मन में अथवा उससे भिन्न सुन्दर वस्तु में। कैरिट का कहना है कि मनुष्य उस वस्तु को सुन्दर

कहता है जो उसके लिये उन भावनाओं को व्यक्त करती है जिनके योग्य वह अपने स्वभाव और पिछले इतिहास से बना है। उसके मत से "सौन्दर्य गोचर वस्तुओं में नहीं होता वरन् उनके महत्व पर निर्भर होता है और भिन्न-भिन्न पुरुषों के लिए उनका महत्व भी भिन्न होगा, संभवत: बहुत ही भिन्न कोटि के लोगों के लिए यह महत्व भिन्न कोटि का होगा।" भाववादी (आइडियलिस्ट) दार्शनिकों के तर्क इस स्थापना के अनुरूप होते हैं। उनके लिए सौंदर्य की सत्ता वस्तुगत न होकर आत्मगत होती है। इस तरह के दार्शनिकों को लक्ष्य करके स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा था, "सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है। योरपीय कला-समीक्षा की यह एक बड़ी ऊंची उड़ान या बड़ी दूर की कौड़ी समझी गई है। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे वीरकर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं।" शुक्ल जी ने इन वाक्यों में भाववादी और वस्तुवादी दर्शनों का अन्तर स्पष्ट कर दिया है; उन्होंने भाववादी मान्यता का खण्डन किया है, वस्तुवादी मान्यता का समर्थन किया है।

प्रचलित धारणा यह है कि यूरोप भौतिकवादी है और भारत अध्यात्मवादी। भारत और यूरोप के दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह धारणा खण्डित हो जाती है। न तो अध्यात्मवाद पर भारत का एकाधिकार है, न भौतिकवाद पर यूरोप का। कुल मिलाकर यूरोप के विचारकों पर भाववादी दर्शन का प्रभाव यहाँ की अपेक्षा गहरा है। प्लैटो से लेकर हेगल तक यूरोप के अनेक प्रमुख दार्शनिक यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे हैं कि सौंदर्य की सत्ता सुन्दर वस्तु से पृथक् है। प्लैटो के लिए संसार की सुन्दर वस्तुएं परोक्ष सौन्दर्य-सत्ता का प्रतिबिम्ब मात्र हैं; कला इस प्रतिबिम्ब का भी प्रतिबिम्ब है, इसलिए दार्शनिक सत्य की तुलना में क्षुद्र है और आदर्श समाज-व्यवस्था से कलाकारों को वहिष्कृत रखना चाहिए। प्लैटो के समान ही हेगल के लिए कला एक निरपेक्ष विचार व्यंजित करती है। महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा ने "यूरोपीय दर्शन" में दिखलाया है कि हेगल ने कला को ज्ञान और धर्म से निम्न स्तर का माना है। निरपेक्ष सत्ता की प्राप्ति में कला पहली सीढ़ी है; उसके बाद धर्म मनुष्य की सहायता करता है। "जिसकी छायामात्र कला और धर्म ने दिखलाई थी, वह साक्षात् ज्ञानावस्था में आ पहुँचता है, सब भेद नष्ट हो जाते हैं और स्वनियत स्वप्रमितिक ज्ञान ही केवल सब रूप को धारण करता हुआ देख पड़ता है।" रामावतार शास्त्री की इस व्याख्या से पाठक् देखेंगे कि हेगल की विचारधारा और भारतीय भाववाद में कितना साम्य है।

आधुनिक काल में यूरोप और अमरीका में प्रमुख विचारधारा उन लोगों की है जो सौन्दर्य का उद्‌भव, विकास और परिणति, सब कुछ व्यक्ति के मन में मानते हैं। इन्हीं का एक प्रतिनिधि आचार्य क्रोचे था जिसकी विस्तृत आलोचना शुक्ल जी ने "काव्य में अभिव्यंजनावाद" नाम के निबन्ध में की थी। इस तरह के विचारकों के लिये व्यक्ति का मन एक निरपेक्ष सत्ता बन जाता है। हेगल के लिए इस भौतिक जगत् से निरपेक्ष विचार का सम्बन्ध भी था, इनके लिये व्यक्ति का मन भौतिक जगत् से विच्छिन्न हो जाता है। कला के क्षेत्र में उनकी सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि मूर्त जगत् के रूपों को किसी न किसी प्रकार अपनाये बिना वे सौन्दर्य की अभिव्यंजना कर नहीं पाते। कला-शास्त्रियों के एक गिरोह का कहना है कि कलाकार के लिए सामाजिक जीवन अथवा संसार के अन्य रूपों को चित्रों आदि में अङ्कित करना आवश्यक नहीं है। सौन्दर्य की सूक्ष्म आत्मा मूर्त रूपों से परे है। इसलिये चित्रकला के नाम पर वे ज्यामिति की रेखाएं प्रस्तुत करते हैं और उन सूक्ष्म रेखाओं द्वारा अपने निरपेक्ष मन का सौन्दर्य व्यंजित करते हैं। कलाकार के कर्म और उसकी विचारधारा-कला और सौन्दर्य शास्त्र—का घनिष्ठ सम्बन्ध यहाँ स्पष्ट दिखाई देता है। यूरोप और अमरीका का चरम व्यक्तिवाद अनेक कलाकारों को उस सीमा तक खींच ले गया है जहां कला अपनी सारी विशेषताएं खो बैठती है। इसी व्यक्तिवाद से प्रभावित हिन्दी के अनेक कवि हैं

जिनका मन सभी तरह की सामाजिकता से मुक्त हो गया है; छिन्न लय, प्रच्छन्न अर्थ, विच्छिन्न शब्दावली से अलंकृत रचनाओं में अपनी कुण्ठा, घुटन और व्यक्तित्व के विघटन के चित्रण में ही इन्हें कला और सौन्दर्य की इति दिखलाई पड़ती है। इस कविकर्म के मूल में यह धारणा है कि सौन्दर्य, रस, भावना आदि का एक मात्र और निरपेक्ष स्रोत व्यक्ति का मन है।

व्यक्ति के मन में सौन्दर्य की सत्ता मानने वालों का मुख्य तर्क यह है : एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को सुन्दर अथवा असुन्दर लगती है। हमें अपने देश के पहाड़ बहुत सुन्दर लगते हैं; दूसरों के लिये वे साधारण पर्वत मात्र हैं। माँ को अपना बच्चा बहुत सुन्दर लगता है; दूसरों के लिये वह अन्य साधारण बच्चों जैसा ही है। सौन्दर्य की अनुभूति इतनी व्यक्तिगत है कि शेक्सपियर या तुलसीदास को पढ़ने वाले दो व्यक्तियों की प्रतिक्रिया एक सी नहीं हो सकती।

इस तरह के तर्कों में पहला दोष यह है कि उनमें इन्द्रियबोध और भावों को एक ही वस्तु मान लिया गया है। दूसरा दोष यह है कि भावों और इन्द्रियबोध की सामान्य भूमि को अस्वीकार किया गया है। यदि हमें अपने ही देश के पर्वत अच्छे लगें तो दूसरे देशों के पर्वतों को हम कभी भी सुन्दर न कहें। यदि किसी को ऐल्प्स और हिमालय दोनों सुन्दर लगते हैं, तो इससे यह सिद्ध होगा कि व्यक्तिगत सम्बन्धों के अतिरिक्त भी सौंदर्यानुभूति की कोई सामान्य भूमि है। यदि पर्वतों का रूप साधारणतः लोगों को प्रिय हो, यदि वे अपने देश के अतिरिक्त अन्य देशों के प्राकृतिक सौन्दर्य पर भी मुग्ध हो सकते हों, और वे मुग्ध होते हैं, तो इससे इन्द्रियबोध की सार्वजनीनता सिद्ध होती है। इस इन्द्रियबोध के साथ प्राकृतिक सौन्दर्य के उपासक के मन में मनुष्य और प्रकृति के साहचर्य से उत्पन्न अनेक प्रकार के भाव भी उदय हो सकते हैं। इन भावों की सत्ता मनुष्य के मन में होगी, किन्तु जिस गोचर सौन्दर्य से ये भाव उत्पन्न होते हैं, उनकी सत्ता तो प्रकृति में ही है।

सब से पहले इस गोचर सौन्दर्य की बाह्य सत्ता स्वीकार करनी चाहिये। मनुष्य के इन्द्रियबोध का संसार बहुत विशाल है; उसमें एक से अधिक वर्गों और देशों के लोग भाग लेते हैं। ललित कलाओं की सार्वजनीन लोकप्रियता का बहुत बड़ा कारण इन्द्रियबोध के संसार की विशालता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि की अनुभूति में मनुष्य एक दूसरे से उतने पृथक् नहीं हैं जितने भावों और विचारों के संसार में। यह इन्द्रियबोध एक बाह्य, प्रत्यक्ष जगत् का अनुभव है; इन्द्रियों से इस जगत् का बोध होता है; इन्द्रियाँ उसकी सृष्टि नहीं करतीं। इसीलिये इन्द्रियों से जिस सौन्दर्य की अनुभूति होती है, बाह्य जगत् में उसकी वस्तुगत सत्ता है। इन्द्रियाँ सौन्दर्य की परख का साधन हैं, उसका कारण नहीं—जहाँ तक बाह्य जगत् के इन्द्रियबोध का संबन्ध है।

इस इन्द्रियबोध के साथ मनुष्य का भावजगत् है। अपने सामाजिक विकास के साथ मनुष्य ने इस भावजगत् को परिष्कृत और समृद्ध किया है। व्यक्ति और समाज अन्योन्याश्रित हैं ; व्यक्ति के बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती, समाज के बिना व्यक्ति—एक सामाजिक प्राणी के रूप में—असंभव है। भावजगत् व्यक्ति के मन में ही होता है किन्तु उसका परिष्कृत और समृद्ध रूप सामाजिक विकास और सामाजिक जीवन से ही संभव हुआ है। भावजगत् का आधार व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही कोटि की अनुभूतियाँ हैं। इन दोनों ही कोटि की अनुभूतियों का आधार मनुष्य का सामाजिक जीवन है। यह वस्तुगत आधार होने से ही हम एक दूसरे के अनुभव को जानते-पहचानते हैं; भिन्नता के होते हुए भी इस वस्तुगत आधार के कारण हम एक दूसरे के निकट आते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र ने साधारणीकरण के सिद्धान्त द्वारा इस भाव जगत् की सामान्य अनुभूति-भूमि की ओर संकेत किया, यह उसकी बहुत बड़ी विशेषता है। शुक्लजी ने उस प्राचीन स्थापना को नवीन रूप देते हुए बहुत ही स्पष्ट शब्दों में लिखा था, "सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रसदशा है।"

यूरोप के व्यक्तिवादी विचारक और उनका अनुकरण करने वाले भारतीय लेखक इस सामान्य हृदय की स्थापना को अस्वीकार करते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फ्रान्स के व्यक्तिवादियों ने अपने मन में गहरे पैठ कर जो हीरे-मोती निकाले थे, उन्हीं की आभा रूस और इंगलैण्ड के पतनशील कवियों और कलाकारों में देखी गई। आज टी० ऐस० इलियट और उनके भारतीय शिष्यों में गहरी समानता दिखाई देती है यद्यपि परम्परा के पालन का नारा पुराना पड़ गया है, उसकी जगह प्रयोग और व्यक्ति की स्वाधीनता ने ले ली है। नारे बदल गये हैं लेकिन जिस कुण्ठा, घुटन और विघटन के गीत इलियट ने गाये थे, वे अनेक प्रयोगशील कवियों को आज भी प्रिय हैं। व्यक्ति के निरपेक्ष मन से एक ही तरह के हीरे-मोती क्यों निकलते हैं? इन चरम व्यक्तिवादियों, शुद्ध कलावादियों, सामाजिक दायित्व को बार-बार अस्वीकार करने वाले इन कवियों की अनुभूति में मौलिक अन्तर क्यों नहीं होता? इसलिये नहीं होता कि व्यक्ति की स्वाधीनता की निरन्तर घोषणा करने पर भी इन कलाकारों का मन नितान्त पराधीन है। वे एक सामाजिक परिवेश, उससे भी अधिक सांस्कृतिक परिवेश के दास बन गये हैं। वह सामाजिक दायित्व से अलग रह कर, मुक्ति पाने की आकाङ्क्षा करके भी, मुक्त नहीं होपाये। उन्होंने दायित्व और मुक्ति का परस्पर सम्बन्ध नहीं समझा; सामाजिक दायित्व के निर्वाह द्वारा ही उनका विकास, अतः मुक्ति, संभव है, यह न मानकर वे एक समाज-विरोधी भावधारा के दास बने हुए हैं। यह मार्ग उनके आत्मघात का मार्ग है।

चरम व्यक्तिवादी भी अपने कर्म से व्यक्ति के मन की निरपेक्षता सिद्ध नहीं कर पाते। इसका कारण, शुक्लजी के शब्दों में, यह है, "मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसका अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है।" इस लोक में अनेक वर्ग, देश, जाति के भेद हैं; ये भेद भी कालक्रम में परिवर्तित होते रहते हैं। लोक स्थायी और जड़ इकाई नहीं है; वह गतिशील और विकासमान है। इसलिये मनुष्य की सौन्दर्यानुभूति में समानता के साथ भिन्नता भी होती है; यह अनुभूति सापेक्ष रूप में स्थायी होने के साथ परिष्कृत और विकसित भी होती है।

मनुष्य अपने भावजगत् की रचना स्वयं करता है किन्तु वह इस कार्य को देशकाल की किन्हीं परिस्थितियों में ही संपन्न करता है और ये परिस्थितियाँ उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं होतीं। भावों की व्यक्तिगत अनुभूति के कारण उसके लिये उनकी वस्तुगत सत्ता को स्वीकार करना कठिन होता है। इन्द्रिय-बोध का बाह्य जगत् और मनुष्य के मन का भावजगत् एक ही यथार्थ के दो पक्ष हैं जो एक दूसरे से पूर्णतः स्वतन्त्र न होकर परस्पर सम्बद्ध हैं। आधुनिक मनोविज्ञान ने मानव-चेतना के बारे में जो नयी खोज की है, उससे भी यह परिणाम निकलता है कि यह चेतना जितने स्तरों पर अथवा जितने रूपों में कार्य करती है और जिन नियमों से परिचालित होती है, उन्हें बहुधा मनुष्य स्वयं नहीं जानता। कलाकृति का वस्तुगत सौन्दर्य और भी असन्दिग्ध है। कवि घोषित करता है एक उद्देश्य, उसकी रचना का आन्तरिक तत्व कुछ दूसरा ही बन जाता है। मिल्टन ने अपना प्रसिद्ध महाकाव्य "पैरेडाइज़ लौस्ट" इस घोषित उद्देश्य से लिखा कि वह आदम और हव्वा की कहानी में ईश्वर के व्यवहार को न्यायपूर्ण ठहरायेगा। महाकाव्य का आन्तरिक तत्व मिल्टन के संघर्षमय जीवन और इंगलैण्ड के नवजागरण युग का प्रतिबिम्ब बन गया; यह कार्य मिल्टन के न चाहने पर भी कार्य-रचना के वस्तुगत कारणों द्वारा संभव हुआ। जीवन की तरह कला के क्षेत्र में भी बहुधा मनुष्य करना कुछ चाहता है, होता कुछ और है। जीवन की तरह कला के क्षेत्र में भी वह परिस्थितियों, कला के उपकरणों पर पूरी तरह हावी नहीं हो पाता, उसकी व्यक्तिगत इच्छाओं और कलात्मक सृष्टि के वस्तुगत नियमों में सदा मेल नहीं हो पाता। इसलिये उसके कार्य का फल उसकी इच्छाओं से भिन्न अथवा उनसे विपरीत भी होता है।

मनुष्य के ज्ञान से उसकी भावानुभूति का गहरा सम्बन्ध है। जिन वस्तुओं से उसका परिचय ही न होगा, उनसे प्रभावित होना उसके लिये संभव न होगा। विज्ञान और कलात्मक सौन्दर्य एक दूसरे के विरोधी न

होकर परस्पर सहायक हैं। विश्व से मनुष्य का परिचय निरन्तर बढ़ रहा है। परिचय का क्षेत्र विस्तृत हो रहा है, साथ ही उसकी गम्भीरता भी बढ़ रही है। मनुष्य वस्तुगत संसार का अङ्ग है, उस संसार का मानवीय ज्ञान निरन्तर बढ़ रहा है और इस प्रगति की कोई सीमा नहीं है। इस ज्ञान से यांत्रिक रूप में मनुष्य के भाव-जगत् का प्रसार नहीं होता किन्तु उस प्रसार की संभावना अवश्य उत्पन्न होती है।

कलाकृति से जो सौन्दर्यबोध होता है, वह भी दर्शक, पाठक या श्रोता के ज्ञान पर निर्भर होता है। कलाकृति का सम्यक् ज्ञान न होने पर वह उस पर अपने भाव आरोपित करता है और समझता है कि सौंदर्य कलाकृति में नहीं, उसके मन में है। इससे सिद्ध यह होता है कि उसकी सौंदर्यानुभूति में अवास्तविकता का अंश मिला हुआ है। इससे कलाकृति के सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता असिद्ध नहीं होती। इटली के कवि दान्ते पर अपने निवन्ध में इलियट ने इटालियन भाषा के न समझ पाने पर या कम समझ पाने पर दान्ते की कविता पढ़ कर प्रसन्न होने की बात लिखी है। इसका कारण दान्ते की रचना में इलियट के अपने भावों का आरोपण हो सकता है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि काव्य-सौंदर्य इलियट के मन में है, न कि दान्ते के काव्य में।

इंगलैण्ड के प्रसिद्ध मार्क्सवादी लेखक कौडवेल ने "सौन्दर्य" पर अपने निबन्ध में सौंदर्य क्या है, इस प्रश्न के सिलसिले में लिखा है, "सब से सीधा उत्तर यह है कि सभी वस्तुओं [कौडवेल का तात्पर्य सुन्दर वस्तुओं से है] से मनुष्य का सामान्य संबन्ध है; इसलिये सौंदर्य मनुष्य 'में' है। मनुष्य की एक दशा का नाम सौंदर्य है। पूंजीवादी सौंदर्यशास्त्री के लिये समस्या का यह बहुत सीधा समाधान इतना स्पष्ट मालूम होता है कि अन्य व्यक्ति कुछ और सोचे तो उसका धैर्य छूट जाता है।" कौडवेल ने इस तरह के सौन्दर्यशास्त्रियों में इङ्गलैण्ड के विचारक आई० ए० रिचार्डस और सी. के. औग्डेन की गणना की है और उनके आत्मगत सौंदर्यवाद की आलोचना की है। किन्तु कौडवेल के लिये सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता भी नहीं है; वे उसे वस्तु और मानवमन का परस्पर सम्बन्ध मानते हैं। मानवमन से स्वतन्त्र सौंदर्य को वह भाववादी दार्शनिकों की कल्पना, सौन्दर्य-सम्बन्धी निराकार भावना मानते हैं।

वास्तव में निराकार आदर्श सौन्दर्य की कल्पना करने वाले भाववादी दार्शनिक वास्तविक जगत् में उसकी वस्तुगत सत्ता से इन्कार करते हैं। वे वस्तु के गुण को वस्तु से अलग करके देखते हैं। सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता का अर्थ है, सौन्दर्य नाम के गुण को वस्तु से अलग करके न देखना। कौडवेल ने आगे लिखा है, "सौन्दर्य सामाजिक है। वह वस्तुगत है क्योंकि उसका अस्तित्व मुझ से अलग समाज में है।" जहाँ तक मनुष्य के भावजगत् का सम्बन्ध है, उसका सौन्दर्य सामाजिक है। किन्तु प्रकृति का सौन्दर्य ? उसकी अनुभूति सामाजिक है किन्तु वह सौंदर्य, जहाँ तक वह वास्तव में प्रकृति का सौन्दर्य है, सामाजिक न होकर प्राकृतिक है। कौडवेल के चिन्तन में वस्तुगत सौन्दर्य और उसकी सामाजिक अनुभूति को कहीं-कहीं मिला दिया गया है।

क्या मनुष्य से पहले भी प्रकृति सुन्दर थी ? क्या जिस प्रकृति को मनुष्य ने नहीं देखा, वह भी सुन्दर हो सकती है ? इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर है कि सुन्दर से हमारा तात्पर्य प्रकृति के गुणों से है अथवा उस पर आरोपित अपने भावों से। यदि तात्पर्य गुणों से है तो उनकी सृष्टि मनुष्य नहीं करता; वह अपने विकास-क्रम में केवल उन्हें पहचानना सीखता है। प्रकृति का यह सौन्दर्य अर्थात् उसके गुण मनुष्य के अभाव में भी विद्यमान रहते हैं। यदि तात्पर्य भावारोपण से है तो मनुष्य प्राकृतिक सौन्दर्य न देखकर अपने स्वभाव और इच्छाओं के अनुरूप सौन्दर्य की कल्पना मात्र करता है; प्राकृतिक सौन्दर्य से इस कल्पना का कोई सम्बन्ध नहीं है।

सामाजिक विकास के सन्दर्भ में सौन्दर्यबोध की परीक्षा करने पर एक समस्या यह उत्पन्न होती है : क्या मनुष्य नामधारी जीव ने अपना मानवीय सामाजिक जीवन आरम्भ करने के पहले भी कोई सौंदर्य-सम्बन्धी संस्कार अर्जित किये थे ? क्या सौन्दर्यबोध का सम्बन्ध सामाजिक जीवन से भिन्न मनुष्य के प्राणिगत जीवन से

भी है अथवा सौन्दर्यशास्त्र का सम्बन्ध समाजशास्त्र के अतिरिक्त जीव-विज्ञान से भी है ?

सौंदर्य के सम्बन्ध में डार्विन ने लिखा था कि सुन्दर पंखों वाले नर पक्षी अपने रंगीन पंखों के प्रदर्शन से मादा पक्षियों को रिझाते हैं। इसी तरह ऋतु-विशेष में वे अपने संगीत से उन्हें आकर्षित करते हैं। इन तथ्यों की ओर संकेत करके डार्विन ने लिखा था, "यदि मादा पक्षी अपने नर साथियों के सुन्दर रंगों, आभूषणों और स्वर के आकर्षण को पहचानने में असमर्थ हों तो उनके सामने अपने आकर्षण प्रदर्शित करने में उनकी जो चिन्ता और श्रम प्रकट होते हैं, वे सब व्यर्थ जायं; और यह स्वीकार करना असम्भव है। मेरी समझ में कुछ चमकीले रंग और कुछ स्वर, संगति (harmony) होने पर, क्यों आनन्द देते हैं, इसकी व्याख्या वैसे ही नहीं हो सकती जैसे इस बात की कि कुछ गन्ध और रस (flavours) रुचिकर होते हैं। लेकिन यह निश्चित है कि उन्हीं रँगों और उन्हीं स्वरों को हम पसन्द करते हैं और बहुत से निम्न जीव भी।"

मनुष्य का सौन्दर्यबोध उसके सामाजिक जीवन का ही परिणाम नहीं है, उससे भी पहले वह उसके प्राग्मानवीय विकास का परिणाम है। पक्षियों में कुछ तो रंगों और स्वरों के आकर्षण से परिचित होते हैं, कुछ नहीं। जो परिचित होते हैं, वे सौन्दर्यबोध की दृष्टि से इतर पक्षियों की तुलना में अधिक विकसित स्तर के प्राणी हैं। मार्क्सवादी साहित्य में कभी-कभी सौन्दर्यबोध को आर्थिक जीवन को प्रतिबिम्ब मान लिया जाता है। सौन्दर्यबोध आर्थिक जीवन से प्रभावित होता है किन्तु वह उसका प्रतिबिम्ब नहीं है।

डार्विन से उपर्युक्त कोटि के वाक्य उद्धृत करने के बाद रूसी विचारक प्लेखानोव ने "कला और सामाजिक जीवन" में लिखा था, "और इस तरह डार्विन द्वारा उद्धृत तथ्यों से जैसे निम्न जीवों की, वैसे मनुष्य की भी, सौन्दर्यानुभूति की क्षमता प्रमाणित होती है और यह तथ्य प्रमाणित होता है कि कभी-कभी हमारी सौन्दर्य-सम्बन्धी रुचि निम्न जीवों की रुचि से मेल खाती है। लेकिन समस्या रुचि के उद्गम की है; उसकी व्याख्या इन तथ्यों से नहीं होती।" यदि मनुष्य की सौन्दर्य-सम्बन्धी रुचि निम्न जीवों की रुचि से मेल खाती है, यदि निम्न जीवों में भी इस रुचि का अस्तित्व प्रमाणित होता है, तो यह स्वीकार करना होगा कि इस रुचि का उद्गम सामाजिक जीवन में हो, यह अनिवार्य नहीं है। मनुष्य का इन्द्रियबोध, इस इन्द्रियबोध का परिष्कार, इन्द्रियबोध के साथ उसके भावजगत् का उद्भव और उसका सौन्दर्यबोध—इन सबके मूल उपकरण सामाजिक जीवन आरम्भ होने से पहले उसके पास प्रस्तुत रहते हैं। समाजशास्त्र सौन्दर्यबोध के विकास, भिन्न वर्गों, जातियों और युगों में उसकी भिन्नता की व्याख्या कर सकता है, वह उसके उद्गम की व्याख्या नहीं कर सकता। उद्गम की व्याख्या के लिये समाजशास्त्र के अतिरिक्त जीव-विज्ञान की सहायता आवश्यक है। उद्गम ही नहीं, एक ही समाज, एक ही वर्ग, एक ही परिवार, एक ही वातावरण में रहने वाले लोगों की सौदर्य-सम्बन्धी रुचि की भिन्नता की व्याख्या करने के लिए समाज-शास्त्र के अतिरिक्त जीव-विज्ञान की सहायता लेनी पड़ेगी।

मार्क्सवादी साहित्य में आर्थिक व्यवस्था को आधार और कला, साहित्य, संस्कृति आदि को उस पर निर्मित इमारत माना जाता है। आर्थिक व्यवस्था बदलने पर ऊपर की इमारत भी बदल जाती है। "अर्थशास्त्र की आलोचना को एक देन" में मार्क्स ने विचारधारा के अन्तर्गत मनुष्य के सौन्दर्यबोध को भी गिना है। मार्क्सवादी साहित्य में कला, साहित्य और संस्कृति को मनुष्य की विचारधारा के रूपों में (ideological forms) में गिना जाता है।

कला का सम्बन्ध विचारों के साथ मनुष्य के इन्द्रियबोध और उसके भावों से भी है। भाषा के बिना विचारों का अस्तित्व सम्भव नहीं है, कम से कम उन की व्यंजना तो भाषा के बिना हो नहीं सकती। तब वे ललित कलाएं, जिनमें भाषा का प्रयोग नहीं होता, विचारधारा के रूपों में कैसे गिनी जा सकती हैं? साहित्य भी शुद्ध विचारधारा का रूप नहीं है; उसका भावों और इन्द्रियबोध से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इससे

स्पष्ट है कि ललित कलाओं को विचारधारा के रूपों में गिनना सही नहीं है।

मार्क्स और एंगेल्स की रचनाओं में मनुष्य के विचारों को उसके भौतिक जीवन का प्रतिबिंब कहा गया है। विचार प्रतिबिम्ब हों तो मानव-मस्तिष्क दर्पण मात्र सिद्ध होगा। किन्तु क्या मनुष्य की चेतना दर्पण मात्र है?

मनुष्य के विचार उसकी सामाजिक स्थिति को प्रतिबिम्बित करते हैं, इसीलिये वर्गों के भिन्न दृष्टिकोण, उनकी भिन्न विचारधाराएं होती हैं। किन्तु मानव-चेतना में यह क्षमता है कि वह इस सामाजिक स्थिति से ऊपर उठ सके, चिन्तन की भौतिक सीमाओं से ऊपर उठ कर अपेक्षाकृत स्वतन्त्र स्तर पर विकसित हो सके। सम्पत्तिशाली वर्गों में उत्पन्न होने वाले, किन्तु संपत्ति-हीन श्रमिक वर्ग की मुक्ति के लिये संघर्ष करने वाले मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन का जीवन मानव-चेतना की इस क्षमता को सिद्ध करता है। "प्रकृति का द्वन्द्ववाद" में एंगेल्स ने पूंजीवाद के अभ्युदय और यूरोप के नव-जागरण युग के बारे में लिखा था, "जिन लोगों ने पूंजीपतियों के आधुनिक शासन की नींव डाली थी, उनमें पूंजीवादी सीमाओं जैसी कोई चीज नहीं थी।" ("The men who founded the modern rule of the bourgeoisie had anything but bourgeois limitations.") या तो पूंजीवादी शासन की नींव डालने वाले स्वयं पूंजीवादी नहीं थे, या पूंजीवादी होते हुए भी वे अपने आर्थिक जीवन की सीमाओं से ऊपर उठ सके। एंगेल्स के वाक्य से इस धारणा का खंडन होता है कि मनुष्य के विचार उसके भौतिक जीवन का प्रतिबिम्ब मात्र हैं; इसके विपरीत इस वाक्य से तथा यूरोप के नव जागरण युग के एंगेल्स द्वारा दिये हुए विवरण से, मानव-चेतना की रचनात्मक क्षमता के बारे में धारणा पुष्ट होती है। "अर्थशास्त्र की आलोचना को एक देन" में मार्क्स में प्राचीन यूनान की कला के बारे में लिखा था, "यह एक जानी-मानी बात है कि समाज के साधारण विकास से कला के उच्चतम विकास के कुछ युगों का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, न उसके [समाज के] संगठन के मूल ढाँचे और भौतिक आधार से उनका प्रत्यक्ष संबंध है। आधुनिक जातियों की, अथवा शेक्सपियर की भी, तुलना में यूनानियों का उदाहरण देखिये।" यदि यूनान की कला के भौतिक परि-वेश से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है तो हम कला को भौतिक जीवन का प्रतिबिम्ब कैसे कह सकते हैं?

इससे कला की समाज-निरपेक्षता सिद्ध नहीं होती; भौतिक जीवन से उसकी सापेक्ष स्वाधीनता ही प्रमाणित होती है। कला की विषयवस्तु न वेदान्तियों का ब्रह्म है, न हेगल का निरपेक्ष विचार। मनुष्य का इन्द्रियबोध, उसके भाव, उसके विचार, उसका सौन्दर्यबोध कला की विषयवस्तु है। सामाजिक विकास की परिस्थितियों से कला की विषयवस्तु प्रभावित होती है, एक सीमा तक नियमित होती है किन्तु वह आर्थिक जीवन का प्रतिबिम्ब मात्र नहीं है। इसलिए विभिन्न युगों, विभिन्न जातियों और विभिन्न वर्गों के सौन्दर्यबोध में भिन्नता के साथ समानता भी होती है, इसीलिये अनुकूल सामाजिक परिस्थितियों के होते हुए भी यह आवश्यक नहीं है कि उच्च कोटि की कला का निर्माण भी हो जाय।

मार्क्सवादी विचारक रैल्फ फौक्स का मत था कि कला को भौतिक जीवन का प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब मानना मार्क्सवाद की स्थापना है ही नहीं। उनके अनुसार मार्क्स यह न मानते थे कि पूंजीवाद सामन्तवाद की जगह ले लेता है तो पूंजीवादी कला तुरन्त सामन्तवादी कला की जगह ले लेती है, न वह यह मानते थे कि "चूंकि उत्पादन का पूंजीवादी तरीका सामन्ती तरीके से अधिक प्रगतिशील है,इसलिये पूंजीवादी कला सामंती कला से सदा ऊंचे स्तर की होनी चाहिये।" पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति के सामन्ती पद्धति से अधिक प्रगतिशील होने पर भी यदि पूंजीवादी कला सामन्ती कला से अनिवार्यतः ऊंचे स्तर की नहीं होती, तो इससे कला की सापेक्ष स्वाधीनता ही प्रमाणित होती है। मूल समस्या फिर सामने आती है; मनुष्य की चेतना और उसके विचार सामाजिक परिवेश का प्रतिबिम्ब हैं, या उस परिवेश से अपेक्षाकृत स्वतन्त्र होने की क्षमता भी उनमें है। इसका उत्तर यही हो सकता है कि वे अपेक्षाकृत

स्वतन्त्र भी हैं।

व्यवहार में मार्क्सवादी विचारक साहित्य और कला के राजनीतिक उद्देश्य पर ज़ोर देते हैं। यह ज़ोर अंशतः सही है। साहित्य और कला के सभी रूपों से हम एक ही माँग नहीं कर सकते। गोर्की का "माँ" जैसा उपन्यास राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति करे, यह उचित है; किन्तु "मृत्यु और लड़की" पर उसकी प्रेम-सम्बन्धी कविता भी उस उद्देश्य की पूर्ति करे, यह आवश्यक नहीं है। गोर्की की कविता से यह परिणाम निकालना कि सभी साहित्य राजनीतिक-उद्देश्य-विहीन होना चाहिये, उतना ही ग़लत है, जितना कि उसके उपन्यास से यह परिणाम निकालना कि सभी साहित्य राजनीतिक-उद्देश्य-युक्त होना चाहिये। साहित्य के रूपों की विविधता को ध्यान में रखकर ही उनकी विषयवस्तु के औचित्य के बारे में मत स्थिर किया जा सकता है।

अस्तु; सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता है। यह सत्ता प्रकृति में है, मानवजीवन और मनुष्य की चेतना में है। सौंदर्य इन्द्रियबोध तक सीमित नहीं है, उसकी सत्ता मनुष्य के भावजगत् और उसके विचारों में भी है। कला के माध्यम के अनुरूप उसकी विषयवस्तु में इन्द्रियबोध, भावों और विचारों का अनुपात निश्चित होता है। साहित्य से भिन्न ललित कलाओं में इन्द्रियबोध और भाव होंगे, विचार नहीं। कोई भी ललित कला शुद्ध विचारधारा के अन्तर्गत नहीं आती, साहित्य भी नहीं आता। साहित्य विचारशून्य नहीं होता किन्तु शुद्ध विचारों से साहित्य का निर्माण नहीं होता। विचारों के साथ इन्द्रियबोध और भाव अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं। विभिन्न वर्गों के विचारों में ही नहीं, उनके भावों और इन्द्रियबोध में भी अन्तर होता है। हिन्दी के अनेक प्रयोगशील कवियों के उपमान उनके अस्वस्थ इन्द्रियबोध और भावों की ओर संकेत करते हैं। फिर भी कला का सार्वजनीन आधार मनुष्य का इन्द्रियबोध और उसके भाव हैं। इनका उद्गम मनुष्य के सामाजिक जीवन से भी पहले है। स्वर और रंगों के प्रति आकर्षण तथा प्रेम, घृणा आदि के भाव पशु-पक्षियों में भी मिलते हैं। सामाजिक विकास क्रम में इन्द्रियबोध और भाव परिष्कृत और समृद्ध होते हैं, नये प्रकार के भावों और इन्द्रियबोध का जन्म भी होता है किन्तु मनुष्य का सौन्दर्यबोध मूल रूप में सामाजिक विकास की देन नहीं है।

सौन्दर्यबोध एक संश्लिष्ट इकाई है। सौन्दर्य प्रकृति में है, मनुष्य के मन में भी। उसकी अनुभूति व्यक्तिगत होती है, समाजगत भी। व्यक्ति समाज का अंग है, इसलिये न तो समाज-निरपेक्ष व्यक्ति की सत्ता होती है, न समाज-निरपेक्ष सौन्दर्यानुभूति की संभावना होती है। कला के विभिन्न रूपों में इन्द्रियबोध, भावों और विचारों का भिन्न अनुपात रहता है। सामाजिक विकास से संबद्ध कला के अनेक तत्व जहाँ आर्थिक जीवन पर निर्भर होते हैं, उनका एक स्पष्ट वर्ग-आधार होता है, वे आर्थिक व्यवस्था के बदलने पर या कुछ समय बाद परिवर्तित हो जाते हैं, वहाँ अनेक तत्व अपेक्षाकृत स्थायी होते हैं, वर्गों से परे और बहुत कुछ अपरिवर्तनशील होते हैं। इन अपेक्षाकृत स्थायी तत्वों का सम्बन्ध मनुष्य के भावों और उसके इन्द्रियबोध से अधिक होता है। सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता होती है, इसलिये शुद्ध सौन्दर्य नाम की कोई चीज नहीं होती। शुक्ल जी के शब्दों में सुन्दर वस्तु से अलग सौन्दर्य नहीं होता। सौन्दर्य की इस वस्तुगत सत्ता, सामाजिक विकास से उसके सापेक्ष सम्बन्ध, कला और साहित्य के रूपों के अनुसार उनकी विषयवस्तु की विविधता को ध्यान में रख कर ही हम सौन्दर्यशास्त्र का सही विवेचन कर सकते हैं और सौन्दर्य-सम्बन्धी अनेक समस्याओं का उचित समाधान प्राप्त कर सकते हैं।

अगले अङ्क से विधिवत समालोचक बनने की नीयत बरतूंगा।

पाठक परमेश्वर से वारवार क्षमा प्रार्थी हूँ।

—सप्रेम

सन् सत्तावन
की
राज्य क्रान्ति